

[पृष्ठ सं. ८ मूल्य १ रूपया ५० पैसे

ध्र में तूफान से ४६ मरे

भ:री तबाही, संचार व्यवस्था छिन्न - भिन्न

मई (वार्ता)। आन्ध्र
में कल आये भीषण
मरने वालों की संख्या

मिली खबर के अनुसार
गुडूर और कोडूर
करीब नब्बे इलाकों में
के लिये वायुसेना से
। समुद्री तूफान से ये
वित हुये हैं।
शाम आंध्रप्रदेश के
तरह प्रभावित किया
मा जिले के तीर्थ स्थल
।
यहां जानकारी दी कि
तूफान उत्तरी दिशा में
धीरे कमजोर पड़

य की सूचना के
के कारण तटवर्ती
क्षेत्र के अधिकतर
ी होगी।
कहा है कि तटवर्ती
स करीमनगर, पूर्वी
जिलों और उनसे लगे

इलाकों में अगले ६८ घंटे के दौरान सत्तर से अस्सी किलोमीटर की गति से तेज हवाये चलने का अनुमान है।

इस बीच यहां प्राप्त प्रारंभिक सूचनाओं के अनुसार तटवर्ती इलाकों में बिजली आपूर्ति व्यवस्था छिन्न - भिन्न हो जाने से बिजली नहीं मिल पा रही है।

सड़क यातायात और दूरसंचार व्यवस्था भी छिन्न भिन्न हो गयी है। हजारों मकान तूफान में ढह गए हैं तथा बड़ी संख्या में पेड़ उखड़ गये हैं। सरकारी सूत्रों के अनुसार करीब एक सौ टेलीफोन एक्सचेंजों को भी नुकसान पहुँचा है। मछली पट्टनम में रडार केन्द्र भी क्षतिग्रस्त हुआ है।

तटवर्ती इलाकों के अनेक कस्बों में बस सेवायें ठप्प पड़ी हैं तथा दक्षिण मध्य रेलवे ने स्थिति की गंभीरता को देखते हुए विजवाड़ा डिवीजन पर रेलों का आवागमन रोक दिया है

इस बीच राज्य के मुख्यमंत्री एम. चेन्नारेड्डी ने राज्य विधानसभा में सभी दलों के नेताओं की बैठक बुलायी है जिसमें तूफान से पैदा हुई स्थिति की समीक्षा की जायेगी।

तूफान से पैदा हुई स्थिति को देखते हुए कांग्रेस (इ) ने आज अपना व्यापक उपवास कार्यक्रम रद्द कर दिया है।

विजयवाड़ा से मिली खबर के अनुसार आकाशवाणी के विजय वाड़ाकेन्द्र द्वारा कल रात से चैनेल के कार्यक्रम प्रसारित नहीं किये जा सके क्योंकि विजयवाड़ा से २० किलोमीटर दूर अटटनाम्बुर स्थित ट्रांसमीटर तूफान से क्षतिग्रस्त हो गया है। पूरे तटवर्ती क्षेत्र में इसी ट्रांसमीटर से रेडियो कार्यक्रम प्रसारित किये जाते हैं।

अधिकारी तूफान की पूर्व सूचना और अन्य जानकारियां अब विविध भारती चैनल पर प्रसारित कर रहे हैं। विविध भारती चैनेल के समय में भी बढ़ोत्तरी कर दी गयी है।

मद्रास से मिली खबर के अनुसार वहां से दिल्ली की ओर जाने वाली रेलगाड़ियों के मार्ग में परिवार्तन कर दिया गया है। कलकत्ता जाने वाली रेलगाड़ियां आज रदद कर दी गयी है। ओंगोले और विजयवाड़ा के बीच रेलपटरियों को भारी नुकसान पहुँचा है। दक्षिण रेलवे के प्रवक्ता ने बताया कि तमिल नाडु ग्रांट ट्रंक और जम्मू तची एक्सप्रेस गाड़ियां कल रवाना हो गयी थी लेकिन अब वे वरास्ता वाडी और सिकन्दराबाद अपने गंतव्य की ओर जायेंगी

प्रवक्ता ने कहा कि हावड़ा मेल को रदद करना पड़ा है। यह गाड़ी रात रवाना होने वाली थी।

'शकुनी' नहीं खेला

इंदौर, १०
सीरियल महाभा
भूमिका कर रहे गु
उन्होंने अपने जी
खेला। संवाददाता
यहां उन्होंने कहा
धूतक्रीड़ा में मेरी
मगर अपने वास्त
भी जुआ नहीं खेल
नफरत है।
श्री पेंटल
टी. वी. सीरियल
साथ ही उसमें अ
सीरियल पंजाब
है और शीघ्र ही
है।

शीश

लखनऊ,
अखिलभारतीय
प्रतियोगिता में
तथा लखनऊ क्रि
ने अपने- अपने
यहां चौक
पूल के लीग मै
भारतीय रिजर्व
विकेट से हराया

लखनऊ क्रिके
रवीनद्र स्टील (
पराजित किया

रक्षा के बीच राजीव व

कार्यकर्ताओं का उपवास

(वार्ता)। कांग्रेस
यहां राजघाट
किया। उन्होंने यह

के साथ शुरू हुआ। श्री गाँधी के साथ कांग्रेस (इ) के अनेक नेता और हजारों कार्यकर्त्ताओं ने भी उपवास किया।

वकील हत्याकांड

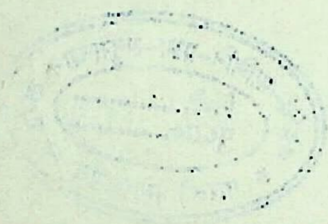
नामजद अभियुक्तों की

के बाद वकीलों की ह

गुलेरी की शैली हिन्दी में सबसे
ी भाषा, वैसी व्यंजकता, वसी
ं किसी में देखने को नहीं मिली।
जक निबंधों को पढ़कर समझने में
न रखी जाए तो फिर कुछ का कुछ
ा है। इनकी भाषा-शैली पर दृष्टि
का अनर्थ हो सकता है। आचार्य
को समझना अपेक्षाकृत सरल है।
रिपक्व है उसे शुक्ल जी को समझने
की अपेक्षा नहीं। पर परिपक्व-
जो बहुश्रुत नहीं है, उसे गुलेरी जी के
जी की विशेषता दिखाकर रह जाएंगे।
क संकेत गर्भित हैं उन्हें तभी समझा
जब उनके संकेतित ग्रंथस्थल देखे गए

ा केवल साहित्य में ही नहीं, भाषा-
ाब्दानुशासन में ही नहीं, भारतीय
ा पूरा दखल रखते थे और ऐसा कि
ओं को मनवा लेते थे।
तोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति अल्प
लोक से उठ गया जिसने बड़े ही मनो-
भीरता से भरे अनेक निबंध भी लिखे
ग की कुछ अनोखी कहानियाँ भी।
' के जोड़ की दूसरी कहानी फिर
ी जा सकी। 'मैंने कहा' और 'तूने
ले भी सामने आए, पर नकल और
-पाताल का अन्तर बना ही रहा।
विद्वान तो थे ही, तेजस्वी और
न थे। ऐसे पंडित और ऐसे वीर
थोड़े समय तक ही रह पाते हैं। पर
भार बढ़ता है, उन्हें लम्बी वय
स्वी जीवन-ज्योति में प्रखरता से


महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी
पु०सं० 263
भारती पुस्तकालय



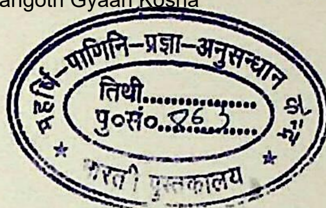


गुलेरी साहित्यालोक

अमर साहित्यकार गुलेरी का बहि:-
साक्ष्य और अंत:साक्ष्य द्वारा लेखा
जोखा : गु ले री सा हि त्या लो क



किताब घर
गांधी नगर दिल्ली-110031



गुलेरी साहित्यालोक

सम्पादक

डॉ० मनोहरलाल



प्रकाशक : किताबघर,
मेन बाज़ार, गांधी नगर
दिल्ली-११००३१

प्रथम संस्करण : १९८४

आवरण : इमरोज़

मूल्य : ९२ रुपये

मुद्रक : चोपड़ा प्रिंटर्स, मोहन पार्क,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

GULERI SAHITYAALOK (Hindi)
Edited by Dr. Manohar Lal Price : 92.00



इतिहास - पुरुष की अमर थाती

भावी पीढ़ियों को

स म र्पि त

अपनी बात

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी मनीषी साहित्यकार थे। उनका पाण्डित्य असाधारण था और प्रतिभा विचक्षण। वह बहुज्ञ थे, विद्या-व्यवसनी थे। अनेक विषम परिस्थितियों में भी उन्होंने जीवन को उदारता, सहिष्णुता और अदम्य साहस के साथ जिया था। उनकी कृतियों में उनका व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित है, उन पर वैयक्तिकता की छाप है। कोई उनकी कृतियों में उनकी आत्माभिव्यक्ति का अन्वेषण करना चाहे तो कर सकता है। वह पूरे द्विवेदी-युग के महान आधार-स्तम्भ ही दिखाई पड़ते हैं। मात्र पल्लवग्राही पाण्डित्य का आश्रय लेकर चलने वालों के लिए गुलेरी जी को समझना आसान नहीं है। उनकी कृतियों को पढ़ते समय सावधान और सतर्क रहना बहुत जरूरी है। प्रस्तुत पुस्तक का सम्पादन करते समय इस बात को बराबर ध्यान में रखा गया है। इसमें अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखी आलोचना तथा उनके समग्र कृतित्व का उत्तम प्रतिनिधित्व करने वाली उनकी मौलिक रचनाएं संकलित की गई हैं।

इस पुस्तक का **प्रथम खण्ड** (१) साहित्यकार, (२) कहानीकार, (३) भाषा-विद् तथा (४) संस्मृतियां—इन उपखण्डों में विभाजित है। इनके अन्तर्गत गुलेरी जी के व्यक्तित्व तथा कृतित्व पर लिखे लेखों को विषयानुसार वरीयता से रखने का प्रयास किया गया है जिससे उनके गहन कृतित्व की विभिन्न कोटियों को समझने में सहायता मिल सके। 'साहित्यकार' में जीवनी, जन्मकुण्डली, कृतित्व, निबन्धकार, समीक्षक तथा संस्कृतनिष्ठ साहित्य-सृजन के साथ-साथ उनके कृतित्व के अन्यान्य पक्षों पर विश्लेषण करने वाले लेख हैं तो 'कहानीकार' में उनके समकालीन वयोवृद्ध साहित्यकार पं० मुकुटधर पाण्डेय के लेख के साथ-साथ गुलेरी जी की कहानी-कला, प्रेम का स्वरूप, आंचलिकता, मनोविज्ञान तथा कहानियों की विश्लेषणात्मक व्याख्या द्वारा एक अच्छी बहस का एक ही स्थान पर संयोजन किया गया है।

'उसने कहा था' को जहां शिल्प तथा संवेदना की दृष्टि से हिन्दी की ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहानी बताया जाता रहा है वहीं कुछ आलोचकों ने गुलेरी जी की

कहानियों की संरचनात्मक दुर्बलताओं के कारण उनके कहानीकार को नकारने का साहस भी किया है। इस तरह उठाए गए प्रश्न गुलेरी जी के पुनर्मूल्यांकन की गुहार भी लगाते हैं। इस पुस्तक में ऐसी बहुविध विचारोत्तेजक सामग्री को एक स्थान पर संजो देने के पीछे भी मेरा यही लक्ष्य रहा है कि नये सिरे से चिन्तन-मनन करने का अवसर प्राप्त हो।

गुलेरी जी व्याकरणाचार्य थे और भाषाशास्त्री भी। उन्होंने हिन्दी-जगत् को 'पुरानी हिन्दी' जैसा अनूठा ग्रंथ देकर हिन्दी के जन्म तथा उसके वास्तविक स्वरूप के विषय में अपनी जो मौलिक मान्यताएं स्थापित की हैं, उन्हें विद्वज्जन प्रमाण के रूप में उद्धृत करते हैं। इससे उनके तलस्पर्शी गुरुत्व का बोध होता है। 'भाषाविद्' शीर्षक में उनके ऐसे ही अगाध पाण्डित्य का परिचय कराने वाले शोध-लेख रखे गए हैं।

'संस्मृतियां' में उन विद्वानों के प्रामाणिक संस्मरण हैं जो गुलेरी जी के निकट सम्पर्क में रहे हैं। यहां इतिहासपुरुष गुलेरी जी को जानने के लिए बाह्य साक्ष्यों पर आधारित संस्मरणों को भी स्थान दिया गया है।

इस पुस्तक के **'द्वितीय खण्ड'** में गुलेरी जी के उपलब्ध कृतित्व का प्रतिनिधित्व करने वाली विशिष्ट रचनाएं ही दी जा सकी हैं। उनकी शेष कृतियों का कलेवर भी एक बड़े ग्रंथ से कम नहीं है। अभी बहुत सारी रचनाएं तो उपलब्ध भी नहीं हैं। उन्होंने जो कुछ छद्मनामों से लिखा है, उसे ईमानदारी से छानबीन करके प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करना अब भी शेष है। यह काम जितना महत्त्वपूर्ण है उतना जटिल भी। शोधार्थियों को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

इस खण्ड में गुलेरी जी का कृतित्व—कहानी, निबंध, भाषा, विज्ञान, लोक और कला, काव्य तथा विविध इन कोटियों में विभाजित किया गया है। उनकी इतिहास-विषयक अधिसंख्य कृतियां 'गुलेरी-ग्रंथ-१' में आ गई हैं, इसलिए उन सबको यहां रखना उचित नहीं समझा। मात्र 'देवकुल' निबंध ही प्रतिनिधित्व के रूप में लिया गया है। गुलेरी जी पाण्डित्य तथा बहुज्ञता से मण्डित होते हुए भी अपनी कहानियों में आम बोलचाल की भाषा के सहज-सरल रचनाकार के रूप में सामने आए हैं। इनमें उनकी बहुमुखी प्रतिभा तथा व्यक्तित्व की प्रत्येक विशिष्टता का संधान किया जा सकता है। इस दृष्टि से उनका ठीक-ठीक मूल्यांकन होना अभी शेष है। इस ग्रंथ में इन मुद्दों को उजागर भी किया गया है।

गुलेरी जी की कहानियों के जो संकलन उपलब्ध हैं, उनके पाठ की प्रामाणिकता को लेकर मेरे मन में बराबर प्रश्न-चिह्न बना रहा है। इस संदर्भ में 'उसने कहा था' चर्चा का विषय रही है। उपलब्ध संकलनों तथा अन्यान्य पाठ्य-

पुस्तकों में इस कहानी का पाठ खण्डित ही नहीं, पर्याप्त भ्रष्ट भी छपा है। यहां तक कि कई सम्पादकों ने इसमें आए गीत को अश्लील मानकर, कहानी से निकाल भी दिया और कुछ ने इसे रखा तो इसके पाठ की शुद्धता एवं प्रामाणिकता की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। प्रस्तुत ग्रंथ में पहली वार 'सरस्वती' में छपे पाठ को ज्यों का त्यों प्रस्तुत किया जा रहा है, वर्तनी भी सरस्वती-सम्पादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की ही रखी है। द्विवेदी जी ने अपने सम्पादन में भाषा को परिमार्जित तथा परिष्कृत करने और वर्तनी को शुद्ध करने के लिए, समय की चाल से वर्तनी में भी परिवर्तन कर दिए थे। इसी तरह मूलपाठ में कतिपय शब्दों तथा वाक्यांशों को अश्लील जानकर, उन्होंने हटाया भी था। इन परिवर्तित स्थलों के स्पष्टीकरण के लिए गुलेरी जी द्वारा प्रस्तुत पाठ को, उनकी हस्त-लिखित प्रति के पाठ की सहायता से आवश्यकता एवं संदर्भ के अनुसार 'उसने कहा था' की पाद-टिप्पणियों में 'गुलेरी' नाम से ज्यों का त्यों दे दिया गया है। इससे अनुसंधित्सु लाभ उठा सकेंगे।

गुलेरी जी के व्यक्तिव्यंजक ललित निबन्ध—'कछुआ धरम' तथा 'मारेसि मोंहि कुठाऊं' प्रासंगिकता की दृष्टि से आज भी उतने ही ताजा हैं। लगता है किसी ने आज की परिस्थितियों के संदर्भ में इन्हें आज ही लिखा हैं।

'भाषा' के अन्तर्गत उनकी पुरानी हिन्दी सम्बन्धी मान्यताओं तथा भाषा की संरचना की परिचायक कृतियां तथा टिप्पणियां हैं। 'विज्ञान' शीर्षक में उनका लम्बा लेख 'आँख' उनके वैज्ञानिक अध्ययन तथा अभिरुचि का द्योतक है। इस शताब्दी के आरंभ में विज्ञान पर ऐसा गंभीर तथा सर्वांगीण प्रतिपादन विस्मय की बात है। काश ! ज्ञानेन्द्रियों का ऐसा तलस्पर्शी वर्णन करने का समय उन्हें मिला होता ! 'लोक और कला' में उनकी संगीत, लोकतत्त्व तथा चित्रकला सम्बन्धी कृतियां उनके इतिहास-बोध, तथ्यान्वेषण तथा तथ्याख्यान की सूचक हैं। 'काव्य' के अन्तर्गत उनकी उन्हीं विशिष्ट काव्यकृतियों को रखा गया है जो राष्ट्रीय भावना की पक्षधर हैं। 'विविध' में उनके अन्यान्य विषयों पर लिखे लेखों तथा टिप्पणियों को एक स्थान पर एकत्र कर दिया गया है।

'बुद्धू का कांटा' कहानी पर एक विशिष्ट लेख विलम्ब से मिलने के कारण 'कहानीकार' शीर्षक के अन्तर्गत यथास्थान नहीं जा सका। अतः उसे 'परिशिष्ट' में रख दिया गया है। पाठक अपनी सुविधा से इसे पृष्ठ १३० पर 'गुलेरी जी की पहली कहानी : सुखमय जीवन' के बाद पढ़ सकते हैं। वैसे परिशिष्ट में शीर्षस्थ विद्वानों की सम्मतियां, तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित चुनींदा श्रद्धाजंलियां तथा गुलेरी जी की समग्र रचनाओं की अकारादि क्रम से सूची जोड़ दी गई है।

इस पुस्तक में संकलित गुलेरी-कृतित्व को पुरानी पत्र-पत्रिकाओं में से संजोने के लिए मुझे सर्वश्री चिरंजीलाल पालीवाल, चिरंजीव पुस्तकालय,

आगरा; कल्याणसहाय पारीक, पुस्तकाध्यक्ष, मारवाड़ी पुस्तकालय, दिल्ली; विद्यानिवास मिश्र, आगरा तथा मुरारीलाल केड़िया, वाराणसी का अन्यतम सहयोग मिला है। मैं इन महानुभावों के प्रति हृदय से आभारी हूं।

गुलेरी जी की जन्मकुण्डली उनके वंशज डॉ० पीयूष गुलेरी के सौजन्य से प्राप्त हुई है, इसके लिए उनका भी कृतज्ञ हूं।

'गुलेरी साहित्यालोक' को वर्तमान रूप दे पाने के लिए जिन-जिन विद्वानों ने अपने लेखों को संकलित कर लेने की स्वीकृति-अनुमति प्रदान करके अनुग्रहीत किया है उनके प्रति मैं विशेष रूप से आभारी हूं। उनके अप्रतिम सहयोग से गुलेरी जी की कृतियों को समझने में आसानी हो गई है, ऐसा मेरा विश्वास है।

गुलेरी जी की कृतियों में आए संस्कृत-कृतित्व को स्पष्ट करने के लिए डॉ० वाचस्पति उपाध्याय, रीडर, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय; श्री सन्तराम वत्स्य तथा श्री कृष्ण विकल ने मेरा विशेष मार्ग-दर्शन किया है। श्री विकल जी ने 'गुलेरी-साहित्यालोक' की पाण्डुलिपि को व्यवस्थित करके सम्पादन-कार्य में मेरा अन्यतम सहयोग दिया है। आप महानुभावों के प्रति औपचारिक धन्यवाद प्रदर्शित करके उऋण हो पाना मेरे लिए संभव कहां है!

मेरे सम्पादन के इस प्रयास में त्रुटियां रह जाना अस्वाभाविक नहीं है। इस संदर्भ में विद्वानों तथा साहित्य-प्रेमी पाठकों के परामर्शों का मैं सर्वदा स्वागत करूंगा।

मैं, इस पुस्तक के प्रकाशक पं० जगतराम जी द्विवेदी तथा श्री सत्यव्रत जी द्विवेदी का विशेष आभारी हूं, जिन्होंने मुझे इस असाधारण प्रातिभ को हिंदी-जगत् के सम्मुख वर्तमान रूप में प्रस्तुत करने के लिए प्रोत्साहित किया तथा ग्रंथ को सुचारु ढंग से एवं पूरी लगन से छपवाया।

और अंत में, मैं उन सब विद्वानों के प्रति पुनः आभार प्रकट करता हूं जिनके ग्रंथों तथा रचनाओं की सहायता से मेरा यह प्रयास साकार हो पाया है।

—मनोहरलाल

हिंदी विभाग,
श्रीराम कॉलेज ऑफ कॉमर्स,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.
विजयादशमी, २०४० विक्रमी

विषय-सूची

प्रथम खंड

साहित्यकार

कहानीकार



द्वितीय खंड

परिशिष्ट

प्रथम खंड

चंद्रधर शर्मा गुलेरी के साहित्य की समीक्षा

साहित्यकार * कहानीकार * भाषाविद् * संस्मृतियां

साहित्यकार

- ☐ जीवनवृत्त
- ☐ जन्मकुंडली
- ☐ साहित्य-परिचय
- ☐ निबंधकार
- ☐ ललित निबंधकार
- ☐ सहजधर्मी समीक्षक
- ☐ संस्कृतनिष्ठ साहित्य
- ☐ कांगड़ा-चित्रकला
- ☐ राय कृष्णदास के नाम पत्र



वायें से खड़े : बाबू श्यामसुंदर दास, रामनारायण मिश्र, रामचंद्र शुक्ल
बैठे हुए : जगन्नाथदास रत्नाकर, कामताप्रसाद गुरु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, लज्जाशंकर झा, चंद्रधर शर्मा गुलेरी

जीवन-वृत्त

□ डॉ॰ पीयूष गुलेरी

प॰ चंद्रधर शर्मा गुलेरी के पूर्वज श्री पुरोहित नारायण गुलेर (कांगड़ा) के निवासी थे। वह वेद-वेदांग, तथा धर्मशास्त्र के विलक्षण विद्वान थे। उनके घर तीन पुत्र हुए—शिवराम, शिवदत्त और चेतराम।

पं॰ चंद्रधर शर्मा गुलेरी के पिता पं॰ शिवराम का जन्म सन् १८३४ ई॰ में गुलेर में हुआ। उन्होंने काशी के प्रकाण्ड संस्कृतज्ञ श्री विभवराम जी से शिक्षा ग्रहण की और हिमालय से आए तीन महात्माओं को शास्त्रार्थ में पराजित किया। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर जयपुर के महाराजा सवाई रामसिंह ने उन्हें अपने यहां 'प्रधान पण्डित' नियुक्त करके धर्मव्यवस्था देने वाली 'मान-मंदिर सभा' का अध्यक्ष बना दिया। अब पं॰ शिवराम जयपुर में ही बस गए।

राजसम्मानप्राप्त महान संस्कृतज्ञ धर्म-व्यवस्थापक, दार्शनिक, वैयाकरणाचार्य तथा लब्धप्रतिष्ठ विद्वान पं॰ शिवराम शास्त्री के घर तृतीय पत्नी से अमर कहानीकार पं॰ चंद्रधर शर्मा गुलेरी का जन्म शनिवार, २५ आषाढ़, सं॰ १९४० वि॰, तदनुसार ७ जुलाई, सन् १८८३ ई॰ को जयपुर में हुआ। जन्मलग्न में कर्क राशि का स्वामी चंद्र होने से पिता ने इनका नाम 'चंद्रधर' रख दिया।

बालक चंद्रधर में शैशव ही से अद्भुत प्रतिभा के लक्षण प्रकट होने लगे। बुद्धि बड़ी प्रखर थी। घर का वातावरण संस्कृतमय था। इन्होंने चार-पांच वर्ष की आयु में ही संस्कृत बोलने का अच्छा अभ्यास कर लिया। यह अभ्यास माता ने करवाया। पांच-छः वर्ष की अवस्था में इन्हें संस्कृत के तीन-चार सौ श्लोक और अष्टाध्यायी के दो अध्याय एवं कई सूत्र कण्ठस्थ थे। स्मरणशक्ति इतनी प्रखर थी कि घर में आए अतिथियों को 'अमरकोष' सस्वर सुनाते थे। नौ-दस वर्ष की अल्प आयु में ही मातृभाषा की भांति संस्कृत में वार्तालाप करते थे। बालक चंद्रधर ने एक बार संस्कृत में एक छोटा-सा भाषण देकर 'भारत-धर्म महामण्डल' के सदस्यों को भी चमत्कृत किया था। उस समय इनकी अवस्था दस वर्ष की थी।

आरम्भिक शिक्षा

बालक चंद्रधर ने सन् १८९३ ई० में महाराज कॉलेज, जयपुर में प्रवेश लिया। इस प्रकार इनकी अंग्रेजी-शिक्षा का श्रीगणेश हुआ। सन् १८९७ ई० में द्वितीय श्रेणी में मिडिल की। सन् १८९९ ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त किया। इसी वर्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय से ऐंट्रेंस में मैट्रिक की परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में ही उत्तीर्ण की। इसके लिए महाराजा जयपुर ने जयपुर राज्य की ओर से स्वर्ण-पदक तथा अन्यान्य पुरस्कार प्रदान किए।

गुलेरी जी ने एफ० ए० की परीक्षा में—तर्कशास्त्र, ग्रीक तथा रोमन इतिहास, भौतिकी, रसायन शास्त्र, संस्कृत, गणित विषय लिए। उन्होंने एफ० ए० की परीक्षा में अंग्रेजी-गद्य के पर्चे में कलकत्ता के सभी कॉलेजों में दूसरा स्थान प्राप्त किया था।

सन् १९०२ ई० में जब कर्नल सर स्विण्टन जेकब तथा कैप्टन ए०ए फ० गैरेट जयपुर की वेधशाला के जीर्णोद्धार के लिए नियुक्त हुए तो उन्हें ऐसे व्यक्ति की तलाश थी जो संस्कृत का प्रकाण्ड पंडित, ज्योतिष-शास्त्र का वेत्ता तथा पश्चिम की दो-तीन भाषाओं में भी पारंगत हो। इस कार्य में विदेशियों की सहायता के लिए युवक चंद्रधर शर्मा को चुना गया। उन्होंने जयपुर के ज्योतिष-यंत्रालय के जीर्णोद्धार में सहायता की तथा सम्राट्-सिद्धांत जैसे दुर्बोध ज्योतिष-ग्रथ का अंग्रेजी में अनुवाद किया। इसके साथ-साथ यंत्रों को स्थिर तथा निश्चित करने और उनके परीक्षण में योगदान दिया।[1]

गुलेरी जी की योग्यता, कर्मठता, निष्ठा, अद्भुत ज्ञान तथा अमूल्य सहायता से प्रभावित होकर दोनों विदेशी विद्वानों ने उन्हें संस्तुति-पत्र प्रदान किए थे। उन्होंने दोनों विदेशी विद्वानों की 'जयपुर आब्जर्वेटरी एण्ड इट्स बिल्डर्स' पुस्तक लिखने में सहायता की थी। इसके लिए जयपुर राज्य ने उन्हें तीन सौ रुपये की पुस्तकें प्रदान कर सम्मानित किया था।

सन् १८९७ ई० में गुलेरी जी का जयपुर के श्री जवाहरलाल जैन से परिचय हुआ। वह 'जैन वैद्य' नाम से प्रसिद्ध थे। वह विद्यानुरागी, हिंदी-प्रेमी तथा सजग कांग्रेस कार्यकर्ता थे। उनका अनेक सामाजिक और साहित्यिक संस्थाओं से सम्बन्ध था। उन दोनों ने मिलकर हिन्दी सेवा का व्रत लिया और सन् १९००ई० में जयपुर में 'नागरी भवन' स्थापित किया। उन्होंने सन् १९०२ ई०में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा प्रथम श्रेणी में, सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करके, उत्तीर्ण की। विषय थे—अंग्रेजी, दर्शनशास्त्र तथा संस्कृत। इस परीक्षा-परिणाम

१. द जयपुर आब्जर्वेटरी एण्ड इट्स बिल्डर्स की प्रस्तावना

की उपलब्धि के लिए उन्हें जयपुर राज्य ने तीन सौ रुपये की पुस्तकों तथा अन्यान्य पुरस्कारों से सम्मानित किया। उन्होंने फिर एक बार जयपुर राज्य का स्वर्णपदक भी जीता। उन्हें विश्वविद्यालय की ओर से जयपुर का नार्थब्रुक रजतपदक प्रदान कर वर्ष का सर्वोत्तम छात्र घोषित किया गया।[1]

गुलेरी जी दर्शन-शास्त्र में एम०ए० करने के इच्छुक थे परन्तु एक आकस्मिक घटना के कारण पूरी परीक्षा न दे सके। हुआ यह कि परीक्षा के एक दिन पहले भी वह रात को देर तक पढ़ते रहे। नींद पूरी नहीं हुई और परीक्षा भवन में तंद्रा की अवस्था में सारा समय बिताकर चले आए। गुलेरी जी के शब्दों में—"मैंने दर्शनशास्त्र में एम० ए० की तैयारी थी, परीक्षा की आवश्यकता से भी बढ़कर विषय का अनुशीलन किया किंतु अस्वस्थता के कारण परीक्षा न दे सका।"[2]

सन् १६०४ ई० में गुलेरी जी जयपुर राज्य के आग्रह से खेतड़ी-नरेश जयसिंह के शिक्षक और अभिभावक बनकर मेयो कॉलेज, अजमेर चले गए। इस प्रकार उनका एम० ए० करने का विचार पूरा न हो सका।

विवाह

कोई बीस-बाईस वर्ष की अवस्था में गुलेरी जी का विवाह पद्मावती से हुआ।[3] उनके विवाह की बड़ी अद्भुत कहानी है। जब गुलेरी जी बी० ए० पास कर चुके तो पिता ने उनका सम्बन्ध गरली में निश्चित कर दिया। शिवराम जी विवाह करने अपने गांव गुलेर गए हुए थे। विवाह की तैयारियां पूरी हो गई थीं। दुर्भाग्यवश कन्या के पिता का देहांत हो गया। पं० शिवराम जी असमंजस में पड़ गए। वह चंद्रधर जी को अविवाहित लेकर जयपुर लौटना नहीं चाहते थे। कारण, उन्हें जयपुर राज्य की ओर से विवाह के लिए पांच सौ रुपये की सहायता मिली हुई थी। वह विवाह किए बिना लौटने में अपमान समझ रहे थे, इसलिए शीघ्र ही हरिपुर-निवासी कवि रैणा की पुत्री पद्मावती से उनका विवाह बड़ी धूमधाम से सम्पन्न किया।

परिवार

गुलेरी जी के दो भाई—सोमदेव और जगद्धर तथा एक बहिन विद्या देवी थीं। गुलेरी जी की चार संतानें हुईं—योगेश्वर, शक्तिधर, अदिति और विजया।

१. निबंध-रत्नावली-प्रस्तावना : श्यामसुन्दर दास
२. गुलेरी जी की पर्सनल फाइल, मेयो कॉलेज, अजमेर।
३. (क) श्री सतीश धर : गुलेरी जी का विवाह सन् १८६६ ई० में हुआ था : देखें ५ मई, १६०५ ई० की गुलेरी जी की डायरी, संदर्भ : गिरिराज : ६ जुलाई, १६८३ ई०।
(ख) सारिका : ३४२, १ अक्तूबर, १६२३, पृ० ५-६. —सम्पादक

श्री योगेश्वर जी का विवाह शकुन्तला देवी—नैहरन पुक्खर (कांगड़ा) से हुआ। इनका यौवनकाल ही में देहांत हो गया। आप प्राध्यापक थे। इनके तीन पुत्र हुए—सुधीर, जयधर और विद्याधर। दुर्भाग्यवश सुधीर और जयधर का किशोरावस्था ही में देहावसान हो गया। विद्याधर एक अध्यापक के रूप में सरकारी सेवा में हैं।

श्री शक्तिधर पिता जैसे ही मेधावी थे। उन्होंने अंग्रेजी में एम० ए० प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया और प्रयाग विश्वविद्यालय से प्राचीन लिपियों पर शोध कर रहे थे। उन्होंने गुलेरी जी की कहानियों को 'गुलेरी जी की अमर कहानियां' में संकलित किया। दुर्भाग्यवश वह भी दीर्घजीवी नहीं हुए। बेटी अदिति का बाल्यकाल ही में स्वर्गवास हो गया। विजया का विवाह पालमपुर तहसील (कांगड़ा) के श्री श्यामचरण बेदवा से हुआ। विवाह के कुछ समय पश्चात् ही विजया का भी देहांत हो गया था।

आज गुलेरी जी का कुल उनके एकमात्र पौत्र श्री विद्याधर से दीप्त है।

अजमेर-प्रवास

गुलेरी जी ने सन् १९०४ ई० में एक अभिभावक और शिक्षक के रूप में शिक्षा-क्षेत्र में प्रवेश किया था। यहीं से उनका कार्यक्षेत्र विस्तृत होने लगा। वह सफल अभिभावक रहे। राजा जयसिंह भी अपने गुरु पं० चंद्रधर जी की भांति अद्वितीय प्रातिभ थे। उनके कुशल निर्देशन और व्यावहारिक जीवन-दर्शन से राजा जयसिंह में विनय और सौजन्य का समन्वय हुआ। मेयो कॉलेज के प्रिंसिपल और जयपुर हाउस के मोतमिद, सभी गुलेरी जी की योग्यता और सदाचार की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते थे। वह कुशल शिक्षक, सहृदय मित्र, विनम्र सेवक और महान् सहयोगी माने जाने लगे। हृदय से सब उनका आदर किया करते थे।

सन् १९०७ ई० में पं० चंद्रधर जी को जयपुर भवन का मोतमिद नियुक्त किया गया। वह अनुशासन के हामी थे। बड़ी कड़ाई से नियमों का पालन करते और करवाते थे। वह स्वभाव से जितने नम्र थे, नियम-पालन करवाने में उतने ही कठोर भी। इस संदर्भ में एक घटना इस प्रकार है—एक राजकुमार किसी पेड़ के नीचे छिपकर मदिरापान कर रहा था। अकस्मात् गुरुदेव—गुलेरी जी उधर से आ निकले। भयातुर राजकुमार जैसे ही बोतल फेंककर भागने लगा, ठोकर खाकर गिर पड़ा। इस बीच गुलेरी जी दूर निकल गए। उसकी घिग्घियां बंध रही थीं, बार-बार यही पूछ रहा था—"गुरुदेव ने मुझे देखा तो नहीं ?"

गुलेरी जी ने जयपुर के समस्त सामंतों की बड़ी देखभाल की। मेयो

कॉलेज में कश्मीर-नरेश हरिसिंह, प्रतापगढ़-नरेश रामसिंह, ठाकुर रामसिंह (आर्मी मिनिस्टर, जयपुर) गाजीगढ़ के ठाकुर कुशलसिंह, रोहेट के ठाकुर दलपत सिंह प्रभति शिष्यों पर उनकी बड़ी कृपा थी।'

गुलेरी जी सन् १६१६ ई० तक मोतमिद रहे। उनकी अध्यापन में विशेष रुचि थी। वह जब जयपुर भवन के अधीक्षक थे तब मेयो कॉलेज में अवैतनिक रूप से अध्यापन कार्य भी करते थे।

३ जुलाई, १६१६ ई० को गुलेरी जी ने मेयो कॉलेज में संस्कृत-विभागाध्यक्ष का पद संभाला।

हिन्दू विश्वविद्यालय में

मेयो कॉलेज, अजमेर में गुलेरी जी की कार्य-दक्षता और योग्यता की धाक के कारण उनका यश-सौरभ दूर-दूर तक फैल गया। उन दिनों महामना पं० मदनमोहन मालवीय हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के लिए घूम-घूमकर धन एकत्र कर रहे थे। इस बीच उनका गुलेरी जी से परिचय हुआ था। उन्होंने इस काम के लिए मालवीय जी की बड़ी सहायता की। मालवीय जी देश के कोने-कोने से चोटी के विद्वानों को बुलाकर हिंदू विश्वविद्यालय में लाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। वह गुलेरी जी की विद्वत्ता तथा साहित्यिक पैठ से प्रभावित थे और उन्हें काशी विश्वविद्यालय में लाने का प्रयत्न करने लगे। उनके प्रयत्न से बाद में वह हिंदू विश्वविद्यालय के प्राच्य विभाग (ओरियण्टल लर्निंग) के प्राचार्य तथा पुरातन इतिहास और धर्म की मनीन्द्र चंद्र नंदी चेयर के प्रोफेसर नियुक्त हुए।

गुलेरी जी ने काशी पहुंचकर प्राच्य-विभाग का पुनर्गठन किया। विभाग के लिए भवन-निर्माण और छात्रावास की योजनाएं बनाईं। उस समय संस्कृत-प्राध्यापकों के वेतनमान दूसरे विषयों के प्राध्यापकों से अपेक्षाकृत न्यून थे। उन्होंने सभी विभागों के समान वेतनमान करवाए। प्राचीन इतिहास और धर्म-सम्बन्धी विषयों का उचित विभाजन करके उनके शिक्षण की व्यवस्था की। कुछ ही दिनों में उन्होंने प्राच्य-विभाग का कायाकल्प कर दिया।

महाप्रयाण

गुलेरी जी को काशी जाना फला नहीं। वह जिन भावनाओं को लेकर वहां गए थे, वे धरी की धरी रह गईं। वहां पहुंचने के कुछ समय पश्चात् उन पर विपत्तियां टूटने लगीं। वह अजमेर से काशी जाने की तैयारी में ही थे कि उनकी

1. गुलेरी जी की अमर कहानियां : सम्पादक शक्तिधर गुलेरी, पृ० ५, तृतीय संस्करण

बेटी अदिति का देहांत हो गया। अभी काशी पहुंचकर अपने को अच्छी तरह व्यवस्थित भी नहीं कर पाए थे कि मध्यम भ्राता—श्री सोमदेव जी के आकस्मिक देहांत का दारुण समाचार मिला। इसे सुनकर जैसे उनपर पहाड़ टूट पड़ा हो। उन्हें भारी मन से जयपुर जाना पड़ा। गुलेरी जी के लिए भ्रातृ-वियोग असह्य था। वह व्याकुल और शोक-संतप्त रहने लगे। उनका मन संसार से विरक्त हो गया। सोमदेव जी के देहांत के लगभग अढ़ाई मास बाद उनकी छोटी भाभी (श्री जगद्धर की प्रथम पत्नी श्रीमती जयदेवी) का काशी में स्वर्गवास हो गया।

इन दिनों गुलेरी जी को भयंकर पीलिया हो गया। सूखकर कांटा हो गए। परन्तु कुछ समय के अनन्तर धीरे-धीरे शरीर में शक्ति आने लगी और पहले जैसे हृष्ट-पुष्ट हो गए। उन्हें पीलिया हो जाने का मुख्य कारण मानव-स्वभाव की कुटिल प्रवृत्ति थी। किसी ईर्ष्यालु ने उनके मान-सम्मान से चिढ़कर कोई चीज खिला दी थी, परिणामतः पीलिया हो गया। इस बीच उनकी भतीजी स्वर्ग सिधार गई और सोमदेव जी का एक बालक भी चल बसा। अब वह पूरी तरह शोक-सागर में डूब गए।

गुलेरी जी के अन्तिम रोग की एक विचित्र कहानी है। अपने देहावसान से सोलह दिन पूर्व अपनी भाभी (श्रीमती जयदेवी) के अन्तिम संस्कार के लिए मणिकर्णिका घाट (काशी) पर गए थे। उनका शरीर कुछ ढीला था। अतः उन्होंने गंगाजल का आचमन ही किया, गंगा-स्नान नहीं। तब पण्डित पद्मनाभ[1] (भाभी के भाई) ने क्रोधित होकर कहा—"क्या तुम नहाओगे नहीं? जान पड़ता है तू ब्रह्मराक्षस है।"

पद्मनाभ महाक्रोधी ब्राह्मण था। गुलेरी जी सनातनी थे। यदि उन्हें श्मशान घाट पर नहाना होता तो वस्त्रों सहित नहाते। उन्हें पद्मनाभ की बात से बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने कहा—"अरे चाण्डाल! जो तू मेरे प्राण लेना चाहता है तो ले।"[2] और वह गंगा में कूद गए। उस दिन से उन्हें हल्का ज्वर रहने लगा किंतु उन्होंने विश्वविद्यालय के कार्य में ढील नहीं आने दी। भाभी के उत्तर-कृत्य भी किए और दुःख के घट भी पिए। वह नंगे सिर-पैर विश्वविद्यालय जाते, यहां तक कि वह अपने भोजन के प्रति भी उदासीन रहने लगे। अब उन्हें तेज ज्वर रहने लगा। चिकित्सा शुरू हुई परन्तु मर्ज बढ़ता ही गया। ज्वर १०४° हुआ, १०५° हुआ और फिर १०७° हो गया। डॉक्टरों ने नंगा करके बर्फ पर लिटाने की सलाह दी। उन्हें बर्फ की सिल्लियों पर लिटाया गया। बाद में जब बिस्तर पर लिटाने लगे तो होश में आ गए। वह 'हटो' कहकर पार्श्व में

१. स्व० रायकृष्ण दास ने इस व्यक्ति का नाम नित्यानंद भी बताया है।—सम्पादक।
२. श्री रायकृष्णदास से १४.६.१९६९ को भारत कला भवन, काशी में भेंटवार्ता।

पड़े कुशासन पर जा बैठे। कुछ क्षणों के लिए ध्यान लगा। "विजयचंद्र (गुलेरी जी के शिष्य) गीता सुनाओ।" इतना कहकर वहीं लेट गए। प्रलाप चल रहा था—'राजनि कमल···आदि।' टीकाओं का खण्डन हो रहा था। पक्ष के समर्थन के लिए तर्क दिए जा रहे थे। वह 'शतपथब्राह्मण' पर एक जर्मन विद्वान की टीका का खण्डन कर रहे थे।

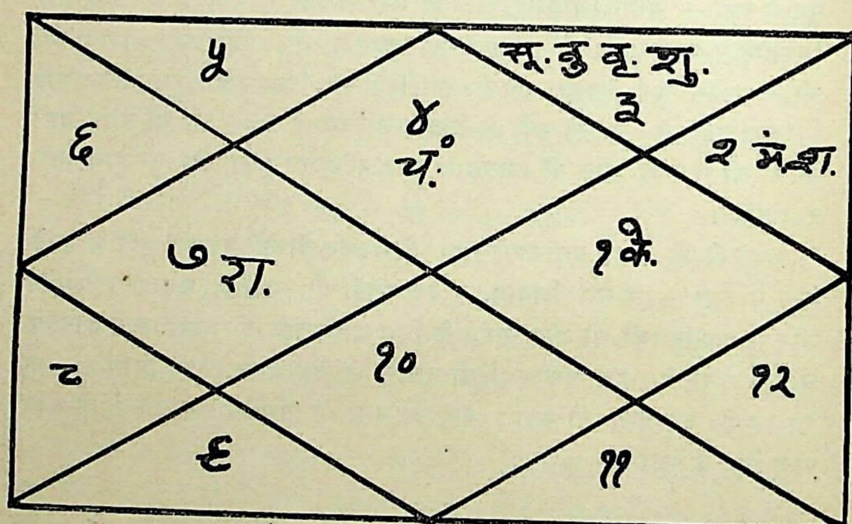
रोती हुई आवाज में विजयचन्द्र ने विराट रूप-दर्शन का पाठ आरम्भ किया। फिर गुलेरी जी अपनी पुत्री से बोले—"विजया! रुद्राक्ष ले आ।" भोली लड़की रुद्राक्ष की माला उठा लाई। गुलेरी जी अन्तिम हँसी हँसे और पुत्र से कहा—"योगा (योगेश्वर)! जा मेरे कैशबक्स में अनबिंधे रुद्राक्ष रखे हैं, सिरहाने से चाबी ले ले।"[1] योगेश्वर जी रुद्राक्ष ले आए। विजयचंद्र जी ने गुलेरी जी के संकेत पर रुद्राक्ष उनकी चोटी में बांध दिया। वह कुछ समय तक निश्चेष्ट पड़े रहे। उनकी पुत्री ने टैम्परेचर लिया। १०६° से भी ऊपर था। गुलेरी जी ने आंखें खोल दीं। गऊदान हुआ, स्वर्णदान हुआ और न जाने क्या-क्या हुआ।

गुलेरी जी ने नेत्र बंद कर लिए। विजयचंद्र जी ने झुककर जोर से उनके कान में कहा—"ऊं नमः शिवाय।" यह गुलेरी जी का प्रिय मंत्र था। उन्होंने जोर से एक हिचकी ली और सदैव के लिए आंखें खोल दीं। उस समय प्रातः के चार बज रहे थे। इस प्रकार हिंदी संसार का यह भास्कर १२ सितम्बर, सन् १६२२ ई० को अस्त हो गया। वह उस समय उनतालीस वर्ष, दो महीने और पांच दिन के थे।

१. गुलेरी जी के अन्तिम क्षण : नया समाज : पृष्ठ ४३०, ६ जून, १९५० ई०

गुलेरी जी की जन्म-कुण्डली

□ पं० रत्नलाल रत्नाम्बर



गुलेरी जी का जन्म-लग्न और जन्मराशि एक ही है। चंद्रमा, कर्क (लग्न) का स्वामी लग्न में स्थित है। फलस्वरूप जातक की कुलीनता, सुयश और सत्यता का द्योतक है। यह प्रकांड पांडित्य, अनुसंधित्सुवृत्ति दाता तथा जातक को पंडित-समाज का मंडनभूत बनाता है।

एकादश भाव में मंगल एवं शनि की युति और मिथुन राशि, बारहवें भाव में सूर्य, बुध, बृहस्पति तथा शुक्र की चतुर्ग्रही भी विशेष द्रष्टव्य है।

बुधादित्य योग के अतिरिक्त चारों ग्रहों का एक ही स्थान होना—बृहस्पति और शुक्र—देवाचार्य और असुराचार्य—का एक स्थान में होना दो विरोधी प्रवृत्तियों की उपस्थिति का द्योतक है।

दूसरे स्थान में सिंह स्थिर राशि है और सूर्य उसका स्वामी है। तीसरे

स्थान में तुला द्विस्वभाव राशि है और बुध उसका स्वामी है।

कर्क लग्न चर राशि है और वहां स्वक्षेत्री चंद्रमा बैठा है। जातक सुदर्शन, स्वस्थ मन वाला और निर्भीक होना चाहिए।

चतुर्थ स्थान में राहु (छायाग्रह) है। यद्यपि इसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है, तथापि सुखस्थान में होने तथा पितृस्थान पर इसकी पूर्ण दृष्टि होने के कारण यह 'पितृहन्ता' है। माता को वैधव्य देने वाला है।

सप्तम भाव का स्वामी शनि, मंगल के साथ युति के कारण शनि के वायु प्रकृति और मंगल के अग्नि प्रकृति वाला होने के कारण संघर्ष पैदा करता है। यह पत्नी का स्थान है। ग्रह स्थिति बताती है कि पत्नी कर्कशा होनी चाहिए। पत्नी द्वारा पति की पग-पग पर अवमानना होने का योग है।

पंचमेश मंगल के, शनि के साथ होने के कारण पत्नी को बार-बार गर्भपात होने का योग है। साथ ही पत्नी टोने-टोटके में विश्वास करने वाली, अल्प-शिक्षित, असहिष्णु तथा प्रतिकार की भावना वाली होनी चाहिए।

ग्रहमालिका समन्वित रूप से जातक में तीन मुख्य गुणों की सृष्टि करने वाली है—१. मौलिकता, २. स्वतंत्र विचारधारा और ३. प्रतिभा।

नवमेश गुरु बारहवें भाव में है। यह ग्रह उच्चाभिलाषी है। मिथुन में स्थिर होकर अगली राशि अपनी उच्चराशि कर्क का अभिलाषी है। यह यात्रा में सिद्धि और यश प्रदान करने वाला है।

उपर्युक्त योग से गुरु स्वस्थान से अन्यत्र ले जाकर, किसी पवित्र स्थान, विद्याकेंद्र में जातक की अवस्थिति करवाकर और गुरुत्व प्रदान करता है।

चतुर्थ राहु, दशम केतु मार्ग में भय उत्पन्न करने वाले हैं।

दशमेश और अष्टमेश का एकादश भवन में और एकादशेश का द्वादश में होना भी किसी पुण्यतीर्थ में परलोक गमन का योग बनाता है।

यदि एकादशेश द्वादश में हो और दशमेश एकादश में हो तो जातक की कीर्ति दिग्दिगंत में फैलती है और वह भी छोटी अवस्था में ही। यह जातक मध्यावस्था में ही काल कवलित होगा।

शनि की दृष्टि कर्क राशि में स्थित चंद्रमा पर पड़ने से, शुक्र के कारकत्व के खो देने से तथा सप्तमेश और अष्टमेश की मंगल के साथ युति होने से जहां राज्य से सम्मान मिलने का योग बनता है, वहीं यह योग दशमेश होकर मंगल-शनि के साथ वृष राशिगत होने से पीलिया, रक्तचाप, जिगरदोष, विषसंचार आदि मृत्यु का कारण भी बनाता है।

जातक रूढ़ियों का विरोधी, विश्वस्त लोगों द्वारा वंचित, नेत्र-रोगी तथा हकलाने वाला सिद्ध होता है।

गुलेरी-साहित्य : एक परिचय

□ डॉ० मनोहरलाल

प्राय: कहा जाता है कि गुलेरी जी ने बहुत थोड़ा (मात्र तीन कहानियां) लिखकर बहुत अधिक ख्याति अर्जित की है। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। उन्होंने सन् १९०० से १९२२ ई० पर्यन्त प्रचुर साहित्य लिखा तथा हिंदी के लेखकों का मार्गदर्शन करके हिंदी की सेवा करने में कोई कसर उठाकर नहीं रखी। उनकी रचनाओं पर बाद में लेखकों का ध्यान क्यों नहीं गया, यह आश्चर्य की बात है। संभवत: इसका मुख्य कारण उनकी समग्र रचनावली का पुस्तकाकार न छप पाना हो। साथ ही यह भी सत्य है कि गुलेरी जी के कृतित्व का आस्वाद वही ले पाएगा जो बहुपठित, बहुश्रुत तथा बहुज्ञ होगा। मात्र पल्लवग्राही पाण्डित्य के सहारे चलने वालों के हाथ कुछ न लगेगा। विषयों की दुरूहता, शैली की अर्थ-गर्भित वक्रता, गूढ़ प्रसंगोद्भावना तथा भाषा-शिल्प की विशिष्टता आदि कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जिनके कारण उनकी रचनावली दुरूह लगती है। कारण, वह संस्कृत, पाली, अपभ्रंश, मराठी, गुजराती, पंजाबी, बंगला, अंग्रेजी, लेटिन, फ्रेंच प्रभृति भाषाओं के ज्ञाता थे। ज्योतिष, मनोविज्ञान, दर्शन, भाषाशास्त्र, भाषाविज्ञान, काव्यशास्त्र, इतिहास, पुरातत्त्व, चित्रकला तथा संगीत पर भी उनका अचूक अधिकार था। ये विशेषताएं उनके समग्र कृतित्व में सम्प्रेषित हुई हैं, इसका प्रमाण उनके निबंध, कहानियां, कविताएं तथा अन्यान्य टिप्पणियां हैं। उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन के दो दशकों में 'समालोचक', 'सरस्वती', 'मर्यादा', 'भारतमित्र', 'इन्दु', 'वैंश्योपकारक', 'प्रतिभा' तथा 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' आदि में खूब लिखा, और बहुत अच्छा लिखा।

गुलेरी जी का समग्र कृतित्व उनकी मृत्यु के लगभग ६० वर्ष बाद तक भी एक प्रामाणिक ग्रंथावली का रूप धारण नहीं कर पाया। यह बड़ी शोचनीय बात है। बाबू श्यामसुंदर दास ने अपने २०-८-३३ के पत्र में गुलेरी जी के अनन्य मित्र पं० झाबरमल्ल शर्मा को गुलेरी-कृतित्व के संदर्भ में लिखा था—'गुलेरी

जी के लेखों का संग्रह कोई १००० पृष्ठों में (क्राउन अठ पेजी) पूरा होगा, इसके लिए लगभग २००० रुपयों की आवश्यकता होगी। सभा में द्रव्य का बड़ा अभाव हो रहा है। कोई बड़ा काम उठाने का साहस नहीं होता।"[1]

काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने सं० २००० वि० में श्री कृष्णानंद के सम्पादकत्व में गुलेरी-ग्रंथ (पहला खण्ड—पहला भाग : इतिहास) में उनकी कुछ गद्य रचनाएं छापीं और प्रस्तावना में लिखा—"गुलेरी जी की समस्त कृतियों में चार कोटियां लक्ष्य हैं—इतिहास, भाषा, रचना और आलोचना। इस ग्रंथ में इनकी कृतियों का संग्रह इन कोटियों के अनुसार चार भागों में सम्पादित है। पहले दो भाग वैज्ञानिक हैं और पिछले दो साहित्यिक। अतः यह संग्रह दो खण्डों में विभाजित है। पहले खण्ड में स्थित पहले और दूसरे भाग में छोटे-बड़े प्रबंध तथा टिप्पणियां हैं, दूसरे खण्ड में स्थित तीसरे भाग में कुछ स्फुट कविताएं, वस्तुप्रधान एवं भावप्रधान निबंध तथा कहानियां हैं और चौथे भाग में आलोचनात्मक निबंध तथा टिप्पणियां हैं। गुलेरी जी का विस्तृत चरित एक पृथक् अर्थात् तीसरे खण्ड में उपस्थित होगा।"[2]

सभा ने सं० २००५ वि० में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के सम्पादकत्व में 'पुरानी हिंदी' प्रबंध प्रकाशित किया था। गुलेरी जी के अनन्य मित्र पं०झाबरमल्ल शर्मा ने उनके शेष कृतित्व का संकलन तथा सम्पादन 'गुलेरी गरिमा-ग्रंथ' नामक ग्रंथ के रूप में किया है। शर्मा जी जीते जी इस ग्रंथ को प्रकाशित देखना चाहते थे पर ऐसा संभव न हो सका। संक्षेप में, इस समय गुलेरी जी की पुस्तकाकार कृतियां हैं—'गुलेरी जी की अमर कहानियां', 'गुलेरी-ग्रंथ' तथा 'पुरानी-हिंदी'।

इधर डॉ० विद्याधर शर्मा गुलेरी ने 'गुलेरी जी की अमर कहानियां' का नया संस्करण भी निकाला है। इसमें गुलेरी जी के पुत्र योगेश्वर शर्मा गुलेरी की कहानियां भी संकलित कर ली गई हैं। इन्होंने गुलेरी जी की कुछ हिंदी-संस्कृत कविताओं को 'पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और उनकी कविताएं' पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित किया है।

काव्य

गुलेरी जी पहले कवि हैं, बाद में निबन्धकार, कथाकार या अनुसंधित्सु, कुछ भी। उन्होंने ब्रज, खड़ीबोली, राजस्थानी तथा संस्कृत में भी कविताएं लिखी हैं। अंग्रेजी तथा संस्कृत काव्य का ब्रज और खड़ीबोली में अनुवाद भी किया है।

१. पं० झाबरमल्ल शर्मा अभिनंदन ग्रंथ, पृ० ७९
२. गुलेरी-ग्रंथ : संपादक : कृष्णानंद, प्रस्तावना, पृ० ४

उनकी प्रथम ब्रज कविताएं—'स्वागतशीः-कुसुमांजलि' (रचनाकाल : १ जनवरी, १९०२ ई०) है। शेष हैं—'एशिया की विजयादशमी', 'भारत की जय', 'वेनाक बर्न', 'आहिताग्निका', 'झुकी कमान', 'स्वागत', 'रवि', 'सोऽहम्' तथा 'प्राकृत के कुछ सुभाषित'। ये कविताएं 'समालोचक', 'सरस्वती' तथा 'मर्यादा' में छपी थीं। राष्ट्रीय संग्राम की पीठिका को लेकर लिखी। इनमें से अधिकांश कविताओं में राष्ट्रीय जागरण तथा उद्बोधन का आदर्श स्वर मुखर है। इनमें स्वदेश तथा स्वदेशी वस्तुओं के प्रति प्रेम, ब्रिटिश साम्राज्य की निन्दा, आक्रोश, ग्लानि तथा व्यंग्य के साथ-साथ भारत के गौरवमय अतीत का मार्मिक वर्णन है। हां, प्रसंगोद्भावना की जटिलता तथा संस्कृतनिष्ठ भाषा-शैली के कारण दुरूह अवश्य हैं। प्रथम कविता में रीतिकालीन शैली में लार्ड कर्जन की प्रशस्ति की गई है। इसमें लार्ड कर्जन को 'प्रजापालक प्रभु' तथा विक्टोरिया को 'मात सविता शक्ति-श्री विक्टोरिया' कहा गया है।

'एशिया की विजयदशमी' का संदर्भ सन् १९०४ ई० की विजयादशमी है। इसमें जापान की रूस पर विजय को आदर्श मानकर देशवासियों को जागृत किया गया है। 'भारत की जय' में धर्मनिरपेक्षता, भारत की अखण्ड एकता, भिन्नता में अभिन्नता तथा साम्प्रदायिक संगठन का स्वर ओजस्वी तथा प्रेरक शब्दावली में प्रस्तुत किया गया है। 'वेनाक वर्न' स्कॉटलैण्ड के कवि 'राबर्ट बर्न' की इसी शीर्षक की अंग्रेजी कविता का अनुवाद है। इसमें राष्ट्र-प्रेम मुखर है। सन् १३१४ ई० में राबर्ट ब्रूस ने एडवर्ड द्वितीय को पराजित करने के लिए जिन शब्दों में अपनी सेना को ललकारा था, उसी को गुलेरी जी ने मूल को ध्यान में रखकर अनुवाद में उतारा है। कवि-कथन है कि स्वतंत्रता के लिए युद्ध-भूमि में लड़कर शत्रु का मुकाबला करना तथा वीरगति पाना ही जीवन की सार्थकता है। 'आहिताग्निका' में स्वतंत्रता की देवी का 'अग्नि-शिखा' के रूप में आह्वान करके स्वदेशी वस्तुओं के प्रति प्रेम जगाया गया है। 'झुकी कमान' का स्वर भी 'जन-जागरण' का है। इसमें 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की भावना कूट-कूटकर भरी पड़ी है। 'स्वागत' युवराज जार्ज पंचम की भारत-यात्रा को लेकर आक्रोश भरा तीखा व्यंग्य है। इसमें कवि का आक्रोश ज्वालामुखी की तरह लावा उगल रहा है। कवि ने अंग्रेजों की शोषणमूलक नीति, निर्दयता तथा निरंकुशता का पर्दाफाश करके युवराज का जी भरकर उपहास उड़ाते हुए उसकी शासन-नीति को 'सिंह का खेल' कहा है। यह कविता अपनी मुहावरे-दानी तथा शब्दशक्ति के कारण बड़ी ओजस्वी बन पड़ी है। 'रवि' बड़ी क्लिष्ट कविता है। इसमें खगोलशास्त्र तथा ज्योतिष के परिवेश में १२ राशियों तथा ऋतु-चक्र का सांगोपांग वर्णन छान्दोग्योपनिषद्, ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के संदर्भ में है। इस कविता में कूट शैली का प्रयोग करके सूर्यवंशी राजाओं की लंपटता

पर तीखी चोट भी की है। इसमें ज्योतिष तथा खगोलशास्त्र का सहारा लेकर तारा भौतिकी, गणित-फलित ज्योतिष की दोनों शाखाओं, सायन और निरयन दोनों पद्धतियों, चलन-कलन गणितीय विधियों तथा भारत-विद्या (इंडोलोजी) के परिप्रेक्ष्य में विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की है। सूर्य-स्तवन और सूर्यवंशी राजाओं की निंदा के लिए यह कविता दस्तावेज है। 'सोऽहम्' शुद्ध खड़ीबोली में लम्बी कविता है। इसका प्रतिपाद्य 'मातृभाषा-प्रेम' है। कवि ने एक अंग्रेजी-भक्त युवक के मन में 'जिसे न भाषा-माया व्यापी, है जग में वह पूरा पापी' भाव जगाकर उसके अंग्रेज आफिसर से भी मातृभाषा की भूरि-भूरि प्रशंसा कराई है। राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति प्रेम इस कविता का उद्देश्य है। 'प्राकृत के कुछ सुभाषित' श्वेताम्बर जैन कवि जयवल्लभ के 'वज्जालग्ग' के चुने हुए ३५ सुभाषितों का खड़ीबोली मिश्रित ब्रज में उल्था है। एक मात्र राजस्थानी कविता 'अमल की तारीफ' में अमल (नशे) की चर्चा है।

गुलेरी जी की 'प्रजापरिषद्-स्थापना' के अतिरिक्त 'शिवार्चनम्', 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', 'राजराजेश्वर का स्वागत', 'राजराजेश्वर को आशीर्वाद','महिमा-आशी: प्राय' तथा 'आशिष:' संस्कृत कविताएं भी हैं। इनमें कवि का प्रतिपादन पढ़कर काफी निराश होना पड़ता है। 'राजराजेश्वर का स्वागत' तथा 'राज-राजेश्वर को आशीर्वाद' कविताएं 'जार्ज पंचम' को निवेदित हैं तथा इनमें राजप्रशस्ति के लिए चारणों का स्वर अपनाया गया है।

गुलेरी जी के हिन्दी-संस्कृत काव्य को पढ़कर उनके अच्छे कवि होने का बोध होता है। काव्य में मुख्य स्वर राष्ट्रीयता का है। पर आश्चर्य होता है कि उनकी जो कलम हिन्दी कविताओं में ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति विष उगल रही है वहीं संस्कृत कविताओं में मधु पोषण क्यों करने लगती है! इतना होते हुए भी उनके काव्य में भारतेन्दु तथा द्विवेदी युग के सन्धि काल की प्रवृत्तियों का सहज ही संधान किया जा सकता है। संक्षेप में, गुलेरी जी का राष्ट्र तथा राष्ट्रभाषा प्रेम स्तुत्य है।

कहानियां

गुलेरी जी मूलत: कहानीकार के रूप में जाने जाते हैं। उनकी मात्र तीन कहानियां उपलब्ध हैं—'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का कांटा' तथा 'उसने कहा था'। 'सुखमय जीवन' पहली बार 'भारत मित्र' (१९११ ई०) में प्रकाशित हुई थी। 'बुद्धू का कांटा' कब किस पत्र-पत्रिका में प्रकाशित हुई, इसका कुछ पता नहीं चल पाया। विद्वानों ने इसके सन् १९११ से १९१५ ई० के बीच रचे जाने का अनुमान लगाया है। लेकिन गुलेरी जी के निधन पर श्री दुलारेलाल भार्गव ने 'माधुरी' के २७ सितम्बर, १९२२ ई० के अंक में 'गुलेरी जी का गोलोकगमन'

शीर्षक के अन्तर्गत 'उसने कहा था' की चर्चा न करके मात्र 'बुद्धू का कांटा' का ही उल्लेख किया था। उन्हीं के शब्दों में —"उनकी कहानियां बहुत अच्छी होती थीं। उनकी 'बूद्धू का कांटा' शीर्षक कहानी लोगों ने बहुत पसंद की थी।" स्पष्ट है कि यह कहानी कहीं-न-कहीं छपी अवश्य थी।

गुलेरी जी की इन तीनों कहानियों को सन् १९३० ई० में उनके पुत्र श्री शक्तिधर गुलेरी ने 'गुलेरी जी की अमर कहानियां' नाम से संकलित तथा संपादित करके छपवाया था। बाद में इसके कुछ संस्करण सरस्वती प्रेस, वाराणसी से छपे। इस संकलन की प्रमुख विशेषता यह थी कि इसमें 'उसने कहा था' का प्रामाणिक पाठ नहीं लिया गया। श्री शक्तिधर गुलेरी ने न तो 'सरस्वती' में प्रकाशित पाठ को अपनाया और न ही गुलेरी जी द्वारा तैयार की गई मूल पाण्डुलिपि के पाठ को। कहानी में आए तथाकथित अश्लील गीत का भ्रष्ट पाठ इस संदर्भ में विशेषत: उल्लेखनीय रहा है।

जब 'गुलेरी जी की अमर कहानियां' सरस्वती प्रेस ने छापना बंद कर दी तो श्री श्रीकांत व्यास ने सन् १९७३ ई० में 'गुलेरी की अमर कहानियां' नाम से लिपि प्रकाशन, दिल्ली से पुन: प्रथम संस्करण निकाला। पर पाठ श्री शक्तिधर गुलेरी वाला ही लिया। बाद में डॉ० विद्याधर शर्मा गुलेरी ने इन तीन कहानियों में अपने पिता स्व० योगेश्वर शर्मा गुलेरी की पांच कहानियां मिलाकर सन् १९८१ में कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर से पुन: 'गुलेरी की अमर कहानियां' का प्रथम संस्करण निकाला। 'उसने कहा था' का परम्परा से चला आ रहा भ्रष्ट पाठ इस पुस्तक में भी ज्यों-का-त्यों अपना लिया गया। और फिर इस परम्परा का सांगोपांग निर्वाह राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर की मासिक पत्रिका 'मधुमती' के 'गुलेरी शती विशेषांक' (जनवरी-फरवरी १९८३ ई०) में भी किया गया।

प्रस्तुत ग्रंथ में पहली बार 'उसने कहा था' का प्रामाणिक पाठ, मूल पाण्डुलिपि तथा 'सरस्वती' में छपे पाठ के आधार पर, प्रस्तुत किया जा रहा है। डॉ० विद्याधर ने अपने संकलन में गुलेरी जी द्वारा रचित 'पनघट' नामक चौथी कहानी होने का स्वर भी उठाया पर अपने मत की पुष्टि में प्रमाण नहीं दिए। इस संदर्भ में अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ है कि यह तथाकथित 'पनघट' 'बुद्धू का कांटा' का ही तीसरा खण्ड है।

गुलेरी जी की कहानियां सामाजिक हैं। इनमें उनका निजी जीवन तथा व्यक्तित्व व्याप्त है। इनकी केन्द्रीय संवेदना—'प्रेम तथा कर्तव्य-भावना' है। 'सुखमय जीवन' की विवरणात्मकता में नारी के रूप के प्रति लिप्सा, आकर्षण तथा मांसल रोमांस है। इसमें लेखक का छात्र-जीवन अनुस्यूत है। इसमें वर्णित प्रेम उतना अन्तर्मुखी नहीं है जितना 'उसने कहा था' में। 'बुद्धू का कांटा' का

सारा वातावरण उनकी आत्माभिव्यक्ति, आत्मचरित तथा उनके पैतृक गांव गुलेर की लोक-संस्कृति का सजीव जीवंत दस्तावेज है। इस कहानी की आंचलिकता उल्लेखनीय है। सारा वातावरण भाषा को भी आंचलिक परिवेश में ढालता है। इसमें नायक का अव्यक्त प्रेम नारीत्व के परिप्रेक्ष्य में नायक की हीनभावना को उजागर करता है। नायिका इतनी वाचाल तथा शोख है कि सैक्स को लेकर साहसभरी पहल करने से नहीं चूकती। और 'उसने कहा था' के प्रेम तथा कर्तव्य का तो कहना ही क्या! यह कहानी किशोरावस्था के भाव-प्रपण प्रेम को कर्तव्य की पराकाष्ठा तक पहुंचाती है। किशोरावस्था का सहज आकर्षण पवित्र प्रेम में परिणत होकर भावों के संसार में डूबता-उतराता, विशुद्ध कर्तव्य-भावना का रूप धारण करके जिस चरम स्थिति पर जा टिकता है, उसकी परिणति मात्र आत्मत्याग, उत्सर्ग, देशप्रेम, निःस्वार्थता तथा निष्कपटता में बड़े स्वाभाविक ढंग से हुई है। यही कारण है कि लहनासिंह का उज्ज्वल चरित्र पाठक के हृदय की वस्तु बन जाता है। कहानी महज घटनाओं, संयोगों तथा इतिवृत्तात्मक प्रसंगों की गठजोड़ नहीं, वल्कि सूक्ष्म रूप से प्रवाहित प्रेम और कर्तव्य-भावना की अन्तःसलिला के सुष्ठु संगुम्फन का बेजोड़ उदाहरण है। कहानी और कहानीकार पेट में दाढ़ी वाले बालक की तरह एकदम प्रौढ़ हैं। इस कहानी में यथार्थवाद है, मर्यादा है, भावुकता है और प्रेम का स्वर्गीय रूप है।

गुलेरी जी की कहानियों की वर्णनात्मकता, भाषा, कथ्य, संवाद, नाटकीयता तथा प्रतिपादन शैली में अनूठा हास्य-व्यंग्य रह-रहकर गुदगुदाता है, विनोद की फुलझड़ियां छोड़ता है। हास्य साध्य नहीं, साधक बन जाता है। 'बुद्धू का कांटा' का वाक्‌चातुर्य तथा वाक्‌चापल्य भाषा की शक्ति को बड़ा प्रभावोत्पादक बनाता है। इन कहानियों का हिंदी कहानी के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

निबंध

गुलेरी जी की गणना द्विवेदी-युग के सशक्त निबंधकारों में की जाती है। उनकी निवंध की कोटि में आने वाली शताधिक रचनाएं 'समालोचक', 'सरस्वती', 'मर्यादा', 'इंदु', 'प्रतिभा', तथा 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में छपी हैं। इनके विषय पौराणिक, वैदिक, इतिहास, संस्कृति, विज्ञान, भाषा, पुरातत्त्व, कला, दर्शन, भाषा-विज्ञान तथा भाषाशास्त्र हैं। उनका पहला श्रेष्ठ निबंध 'सोऽहम्' सबसे पहले 'समालोचक' के (अगस्त, १६०३ ई०) के अंक में छपा था। कविताओं की तरह इनके निवंध भी सारगर्भित प्रसंगोद्‌भावना तथा खोजपूर्ण नई मान्यताओं की स्थापना करने वाले हैं। इनके विशद कृतित्व में शुद्ध निवंध कही जाने वाली कृतियां मात्र दर्जन भर हैं, शेष शोधलेख तथा टिप्पणियां भर हैं। इस दृष्टि से उनके उल्लेख्य भावप्रधान, ललित तथा व्यक्तित्वव्यंजक निबधों

के शीर्षक हैं—'कछुआ धरम', 'मारेसि मोंहि कुठाउं', 'काशी', 'देवकुल', 'अमंगल के स्थान में मंगल शब्द', 'जय जमुना मैया जी की', 'संगीत', 'पुरानी-पगड़ी', 'न्यायघण्टा', 'आत्मघात', 'सांप के काटे का विलक्षण उपाय', 'देवानां-प्रिय', तथा 'राजाओं की नीयत से बरकत' ।

'वेद में पृथिवी की गति', 'जयसिंह प्रकाश', 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्य', 'संस्कृत की टिपरारी', 'पुरानी हिंदी', 'आंख', 'सिंहलद्वीप में महाकवि कालिदास का समाधिस्थल', 'पंचमहाशब्द', ,अवंतिसुंदरी' तथा 'पाणिनि की कविता', उनके शोधपूर्ण आलोचनात्मक निबंध हैं। ध्यातव्य है कि जब 'मर्यादा' (सन् १९११-१२) में गुलेरी जी के 'पुराने राजाओं की गाथाएं', 'पृथु वैन्य का अभिषेक', 'मनु वैवस्वत', 'राजसूय', 'वाजपेय', 'शुनःशेप की कहानी', 'सुकन्या की वैदिक-कहानी' तथा 'सौत्रामणी का अभिषेक' शीर्षक ऐतिहासिक-वैदिक शोधलेख छपे तो श्री रायकृष्णदास जी ने अपने २५-४-१९१२ के पत्र में उन्हें लिखा—"इधर 'मर्यादा' की एक संख्या में आपके कई वैदिक लेख निकले थे। क्या आपका इरादा कोई वैदिकैतिहासिक पुस्तक लिखने का है ? यदि हो तो बड़े ही हर्ष का विषय है । यदि नहीं है तो हमारी आपसे प्रार्थना है कि वैदिक ग्रंथों को मथ-कर जरूर नये-नये तत्त्व निकालिए । यह काम आप ही लोगों का है··· इसलिए गुलेरी जी महाराज, हाथ जोड़कर आपसे हमारी प्रार्थना है कि जरूर वैदिक साहित्य से नई-नई ऐतिहासिक बातों को निकालकर दरिद्रिनी हिंदी को धनवती बनाइये ।···यदि आप कहें कि अभी हिंदी में वैसे पाठक नहीं तो निवेदन है कि वैसे पाठक बनाने से बनेंगे। चुपचाप बैठे रहकर प्रतीक्षा करने से वैसे पाठक कहीं आपसे-आप पैदा होंगे ? यत्नाद् सिद्धिः न दैवत. ।"

यह पत्र गुलेरी जी की शोध-प्रक्रिया का भी परिचय करवाता है। उनके निबंधों को समझने के लिए खूब परिपक्व बुद्धि होनी चाहिए । उनके निबंधों में जो अनेक संकेत-गर्भित रहते हैं, उन्हें वही समझ सकता है जिसने संकेतित ग्रंथस्थल देखे हों। इस दृष्टि से उनके—'चाणूर अंध्र', 'पृथु वैन्य का अभिषेक', 'महर्षि च्यवन का रामायण', 'शैशुनाक मूर्तियां', 'तुतातिल-कुमारिल', 'पूर्ण पात्र', 'चारणों और भाटों का झगड़ा', 'अधिक संतति होने पर स्त्री का पुनर्विवाह', 'मनोरंजक श्लोक', 'काकपद' तथा 'कालिदास के समय में हूण' प्रभृति लेख उल्लेख्य हैं । 'मारेसि मोंहि कुठाउं' तथा 'कछुआ धरम' समय-समय पर पाठ्य-पुस्तकों में स्थान पाते रहे हैं ।

गुलेरी जी की गद्यशैली में सहजता, भावभंगिमा का चटपटापन, संस्कृत की छाया, मुहावरेदानी, व्यंग्य-विनोद के साथ-साथ अरबी-फारसी, अंग्रेजी तथा हिमाचली पहाड़ी का सटीक प्रयोग है । इतिवृत्त की स्थिति में वैदिक तथा

पौराणिक पद सहज ही उद्धरण बनकर उनकी विशिष्ट शैली बन जाते हैं। अर्थ-गर्भित वक्रता, गम्भीरता तथा पाण्डित्यपूर्ण हास्य इनके निबन्धों की विशेषता है। भाषा में वेग, स्फूर्ति, चलतापन, नाटकीयता, संवादात्मकता तथा विचार-तत्त्व की गरिमा है। उनके विचार मौलिक तथा स्वाधीन चिंतक एवं दार्शनिक होने के सूचक हैं। समग्र रचनावली में बहुभाषाविद् तथा असाधारण प्रातिभ होने के कारण पंडिताऊपन भी झलकता है। उनकी गद्यशैली के दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१. "हमारे यहां पूंजी शब्दों की है, जिससे हमें काम पड़ा, चाहे और बातों में हम ठग गए, पर हमारी शब्दों की गांठ नहीं कतरी गई। राज के और धन के गठकटे यहां कई आए, पर शब्दों की चोरी (महाभारत के ऋषियों की कमलनाल की तांत की चोटी की तरह) किसी ने न की। यही नहीं जो आया उससे हमने कुछ ले लिया।···वकौल शेक्सपीयर जो मेरा धन छीनता है, वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है, वह सितम ढाता है, आर्यसमाज ने मर्मस्थल पर वह मार की है कि सिर नीचा कर दिया है। गैरों को गांठ का कुछ न दिया पर इन्होंने तो अच्छे-अच्छे शब्द छीन लिए। इसी से कहते हैं कि 'मारेसि मोहिं कुठाउं' अच्छे-अच्छे पद यों ही सफाई से ले लिए हैं कि इस पुरानी जमी हुई दूकान का दिवाला निकल गया।"

—मारेसि मोहिं कुठाउं से

२. "चंद्रवंश की वंश-परम्पराओं के आदिकमल वासुदेव कृष्ण को जो अपना पूर्वज मानते हैं, वे किस मुंह से गाने-बजाने की निंदा करते हैं। कृष्णचंद्र ने न केवल स्वयं गीतागीत गाया, प्रत्युत उसके कारण गाए हुए पंचगीत आज भी संस्कृत-साहित्य के प्रियतम रत्नों में से हैं। मनुष्यों और देवताओं पर ही उसका व्यामोहन नहीं चलता था—पशु-पक्षी, तरु, लता, नदी, पर्वत – सब उस धुन में मस्त थे।"

—संगीत से

टिप्पणियां

'गद्य की कसौटी निबंध है।' यह बात गुलेरी जी के निबंधों की अपेक्षा उनकी पचासों टिप्पणियों पर भी खरी उतरती है। इस क्षेत्र में भी उन्होंने गागर में सागर भरकर नये-नये खोजपूर्ण तथ्य जुटाए हैं। इन टिप्पणियों के शीर्षक कुतूहल जगाने वाले तथा रोचक हैं। इन टिप्पणियों में अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओं में छपे लेखों पर प्रतिक्रियाएं भी हैं। विशेषकर 'मनोरमा', 'प्रतिभा' तथा 'सरस्वती' की सामग्री पर उन्होंने अधिक तीखी टिप्पणियां की हैं। यथा—'खोज की खाज', 'कलकत्ते का अशोकारिष्ट', 'अनुवादों की बाढ़', 'आर्ष हिंदी' तथा 'जालहंस की सुभाषित मुक्तावली' तथा 'चंद की षट्भाषा' ऐसी ही टिप्पणियां

हैं। इनके अतिरिक्त कुछ शीर्षक हैं—'चारण', 'छट्ट', 'सवाई', 'तुतातिल = कुमारिल', 'पूर्ण पात्र', 'विरामण की सरवण की', 'खूब तमाशा', 'हूण', 'यंत्रक', 'वेलावित्त', 'रड्डा छंद', 'बनारसी ठग', 'मनोरंजक श्लोक', 'काकपद', 'श्रद्धा', 'वेसिर की हिंदी', 'सुगतेता = मृगनेत्रा', 'पूत्कार = पुकारना', 'पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ', 'असूर्यम्पश्या राजदारा', 'अशोक शास्त्री','जोड़ा हुआ सोना', 'झख मारना', 'धर्म में उपमा', 'लायलपुर के बछड़े', 'हलवाई', 'घड़ी के पुर्जे', 'दूध के पैगम्बर', 'नौरंगशाह के नौरंग', 'कस्तूरी मृग', 'ब्रह्मचारी को पान खिलाना', 'होली की ठिठोली वा एप्रिल फूल', 'हा हा ता ता', 'पानी पीकर रह जाती है', 'उलूलु ध्वनि = हुर्रा', तथा 'विवाह की लाटरी' आदि।

कुछ बानगी देखिए—

१. "महाविरा पुराना है। काम भी अच्छा है। बड़े-बड़े करते हैं।"

—झख मारना से

२. "विवाह एक लाटरी है। गाय-बजाय कर, आंख मूंदकर, काठ में पांव दिया जाता है। आगे चलकर किसी को वह काठ सोने का कंकण बन जाता है, किसी को काठ ही बना रहता है, किसी को लोहे की बेड़ी और किसी को जलते अंगारों की माला बन जाता है। दो न्यारे दृश्यों को मिलाकर एक बनाने का काम है।"

—विवाह की लाटरी से

३. "मेरे एक अन्य मित्र हिंदी के लेखक हैं। लेखक तो क्या हैं, छठे सवार हैं, बुझी हुई ज्वालामुखी हैं, खून लगाकर शहीद बनते हैं, पर हैं कुछ ठठोल।"

—ब्रह्मचारी को पान खिलाना से

जीवनी-लेखक

गुलेरी जी ने अपने समय के चार महानुभावों के दुःखद निधन पर श्रद्धांजलि-स्वरूप जीवनीपरक लेख भी लिखे थे। इन लेखों में उन्होंने दिवंगतों के व्यक्तित्व तथा कृतित्व पर बड़ी सटीक टिप्पणियां प्रस्तुत की हैं। ये लेख हैं - 'आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी', 'राव संसारचंद्र सेन बहादुर (एम०बी०ओ०, सी०आई०ई०, प्रधानमंत्री, जयपुर)', 'मनीषी समर्थदान जी' तथा 'महामहोपाध्याय कविराजा मुरारीदान जी'।

ध्यातव्य है कि इन लेखों में गुलेरी जी ने अपने तथा अपने वंश-विषयक भी कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत किए हैं। 'मनीषी समर्थदान जी' में लिखा है कि बाल्यावस्था में 'काव्यप्रकाश' स्व० महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसाद जी से पढ़ा था। ये चारों लेख उस युग की साहित्यिक चेतना को रेखांकित करने में बड़े सक्षम हैं।

सपादक

गुलेरी जी 'समालोचक' के अतिरिक्त 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के सम्पादक-मण्डल में भी रहे। एक सुधी सम्पादक के नाते वह समय पर लेखकों से लेख लिखवाने के लिए टंटा किए रहते थे। उन्होंने 'समालोचक' में सर्वश्री श्यामसुन्दरदास, मिश्रबंधु, रामचन्द्र शुक्ल, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, राय-कृष्णदास, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी तथा महेन्द्रुलाल प्रभृति विद्वानों के लेख छापे थे। उन्होंने पं० माधवप्रसाद मिश्र के विषय में एक पत्र में आचार्य शुक्ल को लिखा था—"मिश्र जी बिना किसी अभिनिवेश के लिख नहीं सकते। यदि हमें उनसे लेख पाने हैं तो सदा एक-न-एक टंटा उनसे छेड़ ही रक्खा करें।" गुलेरी जी जब १९२० में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के सम्पादक-मण्डल में आए तो उन्होंने अपनी 'पुरानी हिंदी' पुस्तक लेखों के रूप में छापी और 'पत्रिका' के लिए ओझा जी तथा श्यामसुन्दरदास जी के साथ 'अशोक की धर्मलिपियां' का सम्पादन किया जो धाराप्रवाह छपता रहा। उनके द्वारा पत्रिका का अन्तिम सम्पादित अंक २२ अक्तूबर, १९२२ का था।

गुलेरी जी सभा की 'देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला' तथा 'सूर्यकुमारी पुस्तकमाला' के भी सम्पादक थे। 'सूर्यकुमारी पुस्तकमाला' का उनके द्वारा सम्पादित प्रथम ग्रंथ था—विवेकानन्द ग्रंथावली--१ (ज्ञानयोग)। उन्होंने इस माला की 'करुणा', 'शशांक' तथा 'बुद्धचरित' पुस्तकों का सम्पादन भी किया था। कालान्तर में 'गुलेरी-ग्रंथ' इसी माला का अठारहवां पुष्प बनकर छपा।

छद्म नाम

गुलेरी जी ने चंद्रधर, चंद्रधर शर्मा तथा चंद्रधर शर्मा गुलेरी के अतिरिक्त कुछ छद्म नामों से भी लिखा है। उनके नाम के साथ 'गुलेरी' (गुलेर के आधार पर) पहली बार 'द जयपुर आब्जर्वेटरी एण्ड इट्स बिल्डर' के सह-सम्पादक के रूप में जुड़ा था। उन्होंने 'समालोचक' में 'चिट्ठी वाला' तथा 'एक चिट्ठी वाला' और 'अनाम' से, 'प्रतिभा' में 'कण्ठा'और 'शब्द कौस्तुभ का कण्ठा' और 'मर्यादा' में 'एक ब्राह्मण' छद्म नामों से लिखा है। उनके प्रसिद्ध निबन्ध 'कछुआ धरम' तथा 'मारेसि मोहिं कुठाउं', 'कण्ठा' तथा 'शब्द कौस्तुभ का कण्ठा' नामों से छपे थे। उनके 'बी० ए०', 'जिम्मकड़', 'विवेचक', 'ललन' तथा 'समालोचक' छद्म नाम भी बताए जाते हैं।

पत्र-लेखक

गुलेंरी जी सधे हुए पत्र-लेखक भी थे। उनके पत्रों में सहजता, स्पष्टवादिता

तथा विविधता है। उनके पत्र यत्र-तत्र विद्वानों के संग्रहों तथा उनके वंशजों आदि के पास हैं। ये पत्र नितांत व्यक्तिगत होते हुए पारिवारिक, सामाजिक तथा साहित्यिक परिवेश की भी अच्छी झांकी प्रस्तुत करते हैं। इस दृष्टि से सर्वश्री दीनदयालु शर्मा, रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदरदास, जगन्नाथदास रत्नाकर, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचंद, मैथिलीशरण गुप्त, केदारनाथ पाठक, रायकृष्णदास, झाबरमल्ल शर्मा, नानकचंद एवं रामलाल (चचेरे भाई) तथा श्रीमती चांद कुंवर (प्रतापगढ़ की राजमाता) आदि को लिखे पत्र बड़े उपादेय हैं। इन पत्रों का सुष्ठु संपादन तथा पुस्तककार छपना आधुनिक हिंदी साहित्य के उन्नयन के इतिहास की अंतरंगता को स्पष्ट करने में समर्थ है।

अंग्रेजी में

गुलेरी जी के 'ऑन शिव भागवत इन पातंजलि', 'ए पोइम बाई भास', 'ककातिका मान्कस्', 'दि रियल आर्थर ऑफ जयमंगला', 'ए कमेन्टरी ऑन वात्स्यायन कामसूत्रा' और 'ए साइन्ड मौलाराम' आदि लेख अंग्रेजी में भी छपे हैं।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी निबंधकार

□ आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी के नाम में 'चंद्रधर' शब्द होने से या ''शर्मा' होने से या कांगड़ा के 'गुलेर' स्थान का होने से, न जाने किस कारण मेरा आकर्षण उनके प्रति विशेष हो गया। उनकी शैली हिंदी में सबसे निराली है। वैसी भाषा, वैसी व्यंजकता, वैसी मुहावरेदानी कहीं किसी में देखने को नहीं मिली। उनकी कहानी पहले पढ़ी या 'पुरानी हिंदी' निबंध पढ़ा, यह भी स्मरण नहीं रहा। पर स्मरण है, पता भर चल जाए, गुलेरी जी ने कुछ कहीं लिखा है तो मैं सारा काम छोड़-कर उसे पाने और पढ़ने को लालायित हो जाया करता था। उनके लेख या टिप्पणी में नई वात होती थी। जो स्थापना पहले की होती थी उससे भिन्न स्थापना वह प्रायः किया करते थे। नया शोध, नई खोज उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। उनकी सारी उपलब्धियों पर विचार करना यहां संभव नहीं। उस पर स्वतंत्र ग्रंथ ही लिखा जा सकता है। उनके व्यक्तिव्यंजक निबंधों को पढ़कर समझने में थोड़ी भी सावधानी न रखी जाए तो फिर कुछ का कुछ समझा जा सकता है। उनकी भाषा-शैली पर दृष्टि न रहे तो अर्थ का अनर्थ हो जा सकता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने माना है कि गद्य की कसौटी निबंध है। इसकी सत्यता उनके निबंधों से तो प्रमाणित होनी ही चाहिए। गुलेरी जी के निबंधों से तो सबसे अधिक सिद्ध होती है। आचार्य शुक्ल को समझना अपेक्षाकृत सरल है। पर गुलेरी जी के निबंधों के समझने में विशेष कठिनाई होगी। जिसकी बुद्धि परिपक्व है उसे शुक्ल जी को समझने में प्रयास करने की अपेक्षा नहीं। पर परिपक्वबुद्धि होकर भी जो बहुश्रुत नहीं है उसे गुलेरी जी के निबंध केवल शैली की विशेषता दिखाकर रह जाएंगे। उनमें जो अनेक संकेत गर्भित हैं उन्हें तभी समझा जा सकता है जब उनके संकेतित ग्रंथस्थल देखे गए हों। 'अमंगल के स्थान में मंगल शब्द' में व्याकरण की ऐसी-ऐसी बातें दी गई हैं कि वैयाकरण के लिए

उसमें जैसी सहजता है वैसी सबके लिए नहीं।

'घनआनंद' की एक पंक्ति में, मैं कई दिनों से उलझा था उसका ठीक अर्थ ही नहीं समझ में आ रहा था। उन्होंने लिखा है कि —

तिहारे निहारे विन प्राननि करत होरा,
विरह-अंगारनि मगारि हिय होरी सी।

नागरी प्रचारिणी सभा से जो 'रसखानि और घनानंद' 'मनोरंजन-पुस्तकमाला' में बाबू अमीरसिंह के संपादकत्व में प्रकाशित किया गया है उसमें 'मगारि' के बदले 'मगरि' पाठ है और 'मगरि' को मगरी, मंगली, छोकड़ी बताया गया है। पर यह छोकड़ी मुझे जंचती नहीं थी। संयोग से मैं बनारस के एक प्रकाशक से मिलने हेतु गया। उसी दिन होली जलने वाली थी। वह जयपुर के थे। मुझसे पूछने लगे कि आपके मुहल्ले में होली कितने बजे मंगलेगी। मैं दो क्षणों के लिए चुप रह गया तो उन्होंने समझा कि मैंने जो कहा है वह जयपुर की बोली है, अतः उन्होंने विनम्रतापूर्वक कहा कि हमारे यहां होली जलने को 'होली मंगलना' कहते हैं। मुझे गुलेरी जी का उक्त निबंध याद आया जिसमें यह मुहावरा दिया गया है। बस, फिर क्या था! मैं समझ गया कि 'मंगलना' से ही 'मगरना' बना है। 'मगरना' का अर्थ जलना और 'मगारना' का अर्थ जलाना हुआ। उक्त निबंध में तो 'चूल्हा' जलाने के प्रसंग में अनेक प्रयोगों की चर्चा की गई है।

मैंने विधिवत् हिंदी का एक ही ग्रंथ गुरुमुख से पढ़ा है, जिसका नाम 'रामचरितमानस' है। इसमें अवधी भाषा-क्षेत्र के वहुतसे प्रयोग हैं। जो उन्हें न जाने वह अवसर-विशेष पर समुचित अर्थ कर ही नहीं सकता। यहां केवल उसी प्रयोग की चर्चा करनी है जिसका संबंध गुलेरी जी से है। मानस के मेरे गुरु थे स्वर्गीय लाला भगवानदीन जी, जिन्होंने स्वयं रामचरितमानस एक महात्मा से पढ़ा था। यह महात्मा भाषा के अच्छे मर्मज्ञ थे। लाला जी का प्राचीन हिंदीकाव्य में गहरा प्रवेश था। उन्होंने निम्नलिखित अर्द्धाली का जो अर्थ मुझे बताया था वह उसके प्रचलित अर्थ से भिन्न था —

'दसन गहउ तिन कंठकुठारी। परिजन सहित संग निज नारी।

इसके पहले चरण का अर्थ अधिकतर लोग यही करते हैं—दांतों में तिनका ग्रहण कर लो और गले में कुठार लटका लो। यह संकेतित करो कि मैं पशु की भांति आपकी शरण में हूं। तिनका दांत में इसी से दबाकर आया हूं और कुठारी या कुल्हाड़ी इसलिए लटका ली है कि आप चाहे मारिए, चाहे छोड़िए। लोगों के ध्यान में परशुराम का प्रसंग आ जाता है —

'कर कुठार आगे यह सीसा।'

पर वात ऐसी नहीं है। 'कंठकुठार' कहते हैं, गले के चारों ओर घूमी हुई

रस्सी, कपड़ा, लोहे का तौक आदि । जो इस प्रकार गले में कपड़ा लपेटे वह 'कंठकुठारी' कहलाता है । लाला जी स्वयं गले में दुपट्टा लपेटे रहते थे । वैसे ही जैसे मालवीय जी महाराज। गुलेरी जी भी वैसे ही दुपट्टा लपेटे रहते थे । कदाचित् इन्हें इसीसे इसका ठीक अर्थ भी लग सका । जब 'पुरानी हिंदी' लेख में अपभ्रंश के भीतर झांकती हिंदी का उदाहरण उन्होंने दिया तो उसमें एक पंक्ति यह आई—

कंठे पाग निवेश जाह शरणं श्रीमल्लदेवं विभुम् ।

प्राचीनकाल में शरणागति को संकेतित करने के लिए (यदि दुपट्टा न हो) तो पगड़ी को ही खोलकर गले से लपेट लेते थे। यह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की परंपरा में चला आ रहा है। इसीलिए गुलेरी जी ने उसके समानांतर रामचरितमानस की उक्त अर्द्धाली उद्धृत कर दी है । जो परंपरा से परिचित न होंगे, वे अपनी कल्पना भिड़ाएंगे । इधर हिंदी में प्राचीन ग्रंथों या ग्रंथावलियों के पाठशोध का शौक बहुतों को चर्राया है । पर परंपरा से परिचित न होने के कारण वे पाठ भी ऊटपटांग देते हैं और अर्थ भी। एक स्थान पर कहीं 'साढ़े तीन' वज्र आ जाने पर एक सज्जन संकट में पड़ गए। उन्होंने देखा कि हनुमान इस प्रसंग में उपस्थित हैं। बस, फिर क्या था, उन्हींकी लंबी लांगूल को साढ़े तीन बार घुमा दिया। पर वास्तविकता यह है कि (परंपरा कहती है) दधीचि की हड्डी से वज्र बने। मनुष्य अपने हाथ से साढ़े तीन हाथ का होता है। एक-एक हाथ की हड्डी से एक-एक वज्र। एक वज्र विष्णु का धनुष है। दूसरा शिव का पिनाक और तीसरा उन्हींका गांडीव जो अर्जुन को उन्होंने (शिव के) किरात (वेश) से युद्ध करने पर युद्धकौशल से प्रसन्न होकर उन्हें (अर्जुन को) दिया था। इंद्र का वज्र ही वस्तुतः आधा वज्र है । पूरा वज्र हड्डी के धनुष दंड को बीच में से तोड़ देने से दो-दो बन सकते थे। पिनाक के दो टुकड़े हुए, पर कैसे, क्या हुए उनका वज्रादि के रूप में उपयोग हुआ या नहीं, राम जाने ! पर साढ़े तीन वज्रों की यही कथा प्रचलित है। किसी पुराण में होगी । अस्तु। बात गुलेरी जी की चलती थी और गुलेला दूसरों को लगने लगा।

मैं इतिहास का भी अध्येता रहा हूं । भारत का प्राचीन इतिहास बी० ए० में लिया ही था। फिर तो विश्वविद्यालयों में बी० ए० में भी 'प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति' का एक विषय आ गया । एम० ए० में तो यह विषय पहले आ गया। यहां आने से पहले इसको संभालने वाले या तो इतिहास से एम० ए० करने वाले होते थे या संस्कृत से एम० ए० करने वाले। इसलिए इस विषय की ओर मेरी अभिरुचि पहले से ही थी। जब संस्कृत में एम० ए० का अध्ययन कर रहा था अर्थात् उसके उत्तरार्द्ध में था तभी सुना कि विशाखदत्त का

एक नाटक 'देवीचंद्रगुप्तम्' खंडित मिला है। देखा है, गुलेरी जी ने उसके आधार पर अद्‌भुत काम कर डाला है, जिसको इतिहास वालों को भी मानना पड़ा। आधी बात तो पक्की ही मान ली गई। चंद्रगुप्त द्वितीय के पहले उसका भाई रामगुप्त भी कुछ समय के लिए राजगद्दी पर था, पर शराब में चूर रहने वाला था। खाखेल के आक्रमण के समय उसने अपनी रानी ध्रुवदेवी को शत्रु के यहां भेजने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था। पर उसके बदले चन्द्रगुप्त देवी का रूप धारण करके गया और अंत में प्रकट होकर शत्रु को मार डाला। गुलेरी जी ने 'कच' मुद्रा के नाम से प्रसिद्ध मुद्राओं के संबंध में, इसी प्रसंग में लिखा था कि 'राम' शब्द को पढ़ने की भूल से कच पढ़ा गया है। इसे तो ऐतिहासिकों ने नहीं माना। पर रामगुप्त का गद्दी पर बैठना अब सभी ने स्वीकार कर लिया है। अर्थात् वह केवल साहित्य में ही नहीं, भाषाविज्ञान या शब्दानुशासन में ही नहीं, भारतीय इतिहास में भी पूरा अभिनिवेश रखते थे और ऐसा कि अपनी स्थापनाओं को मनवा लेते थे। प्रसाद जी ने 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक इसी रामगुप्त के 'प्राकट्य' को आधार बनाकर लिखा है।

कौन कह सकता है कि ऐसा सर्वतोमुखी प्रातिभ अल्प वय में इस लोक से उठ गया। जो उठने के पहले काशी विश्वविद्यालय के 'प्राच्यविद्या विभाग' में महाविद्यालय का प्राचार्य भी था, 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' ऐसी उच्च स्तर की शोधपत्रिका का संपादक भी था, जिसने बड़े ही मनोरंजक और गंभीरता से भरे निबंध भी अनेक लिख डाले थे और जिसने कुछ अपने ढंग की कहानियां भी लिखी थीं। 'उसने कहा था' के जोड़ की दूसरी कहानी फिर कभी नहीं लिखी जा सकी। 'मैंने कहा' और 'तूने कहा' लिखने वाले भी सामने आए, पर नकल और असल में आकाश-पाताल का अंतर बना ही रहा।

गुलेरी जी तेजस्वी तो थे ही, मनस्वी भी थे। पहले संस्कृत के अध्यापकों को सेंट्रल हिंदू कॉलेज या आर्ट्स कॉलेज के ऑफिस में जाकर और वहीं रजिस्टर पर हस्ताक्षर करके वेतन लेना पड़ता था। ये तो प्राचार्य (प्रिंसिपल) थे, इसलिए इन्हें तो कभी कोई कठिनाई नहीं हुई। कार्यालय में स्थान ही कितना था। एक बार प्राचार्य महोदय उस समय वहां पहुंच गए जब संस्कृत के बेचारे प्राध्यापक अधिक संख्या में वेतन लेने गए थे। गुलेरी जी ने देखा कि बड़े-बड़े विद्वानों की मौलि-माला जिनके चरणों में लौटने को लालायित रहती है। ऐसे-ऐसे पंडित यहां कार्यालय के किरानी के सामने खड़े हैं; उन्होंने उनसे निवेदन किया कि आप सब अपनी गद्दी पर चलिए। वेतन वहीं जाएगा। तब से संस्कृत के विद्वानों को उनकी गद्दी पर ही नियत तिथि पर वेतन मिलने लगा था, उन्हें कार्यालय नहीं जाना पड़ता था।

पर हा हंत! गुलेरी जी का शरीरपात रूढ़िवादिता के आग्रह के कारण हो

गया। उनके परिवार या संबंध में किसी की[1] मृत्यु हुई थी। उस समय वह ज्वर में थे। शवयात्रा में जाने पर स्नान के लिए विवश किया गया। मैं नाम किसी का लिखना नहीं चाहता[2] कि किसने हठधर्मिता की। पर 'अवश्यंभावी' होनी थी। उन्हें 'सन्निपात' हो गया और वह बच न सके। उनके काशीवास से हाहाकार मच गया। मैं किसी की मृत्यु पर रोता नहीं रहा। पर दो की मृत्यु पर रो पड़ा हूं—एक पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी के निधन पर और दूसरे श्री चंद्रशेखर 'आजाद' के वीरगति ग्रहण करने पर। ऐसे पंडित और ऐसे वीर धरित्री पर थोड़े समय, अत्यल्प काल तक ही रह पाते हैं। पर जिनसे भूमि का भार ही बढ़ता है उन्हें लंबी वय मिलती है। तेजस्वी का तेज, जीवन-ज्योति में प्रखरता से जलकर शीघ्र समाप्त हो जाता है। मंद दीपक देर तक जलता रहता है। अपने को ही भरपूर प्रकाशित करने में समर्थ नहीं होता, अन्यों को भला वह क्या प्रकाशित करेगा!

१. भरजाई श्रीमती जयदेवी अर्थात् भाई श्री जगद्धर की प्रथम पत्नी। —संपादक

२. डॉ० पीयूष गुलेरी के मतानुसार, श्रीमती जयदेवी के भाई पंडित पद्मनाभ ने उन्हें नहाने के लिए विवश किया था जबकि स्व० रायकृष्णदास ने इस अवसर पर गुलेरी जी को नहाने के लिए विवश करने वाले गुलेरी जी के रिश्तेदार का नाम 'नित्यानंद' बताया है। देखें : इसी पुस्तक में रायकृष्णदास जी का लेख। —संपादक

ललित निबंधकार

☐ डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में जिन कृती-साहित्यकारों ने हिंदी भाषा और साहित्य को समृद्ध बनाने में उल्लेखनीय योग दिया उनमें पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी का अन्यतम स्थान है। गुलेरी जी के प्रदेय का आकलन उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा के आधार पर ही करना होगा। वंशानुगत वैदुष्य और पांडित्य का संस्कार दुर्लभ होता है। किंतु गुलेरी जी को यह संस्कार अपने पिता श्री पंडित शिवराम शास्त्री से सहज सुलभ था। उनके पिता 'महामहोपाध्याय' उपाधि से विभूषित तो थे ही, जयपुर और काशी के विद्वत्समाज में भी उनका सम्मान था। गुलेरी जी ने संस्कृत भाषा की प्राचीन परंपरा से व्याकरण, कोश, साहित्य, दर्शन आदि का ज्ञान प्राप्त किया था। तत्कालीन विद्वानों में कंठस्थ विद्या को प्राथमिकता दी जाती थी, फलतः गुलेरी जी ने संस्कृत के कोश और व्याकरण विषय पर ग्रंथों को कंठस्थ कर उनका संपूर्ण ज्ञान भी हस्तामलकवत् स्वायत्त किया।

गुलेरी जी की ख्याति का कारण बड़ा विचित्र है। हिंदी-जगत् उन्हें एक कहानीकार के रूप में ही अधिक जानता है। 'उसने कहा था' कहानी पिछले साठ-पैंसठ वर्षों से हिंदी के कथा-संकलनों में स्थान पा रही है और गुलेरी जी की पहचान यह कहानी ही बन गई है। उनके देहावसान के बाद तो दो अन्य कहानियां भी यत्र-तत्र पुनः प्रकाशित हुईं जिन्हें कथा-संग्रहों में भी स्थान मिला, किंतु जो ख्याति, यश और प्रचार 'उसने कहा था' कहानी ने पाया वैसा कोई दूसरी कहानी नहीं पा सकी। कहना न होगा कि एक कहानी के द्वारा इतना व्यापक यश-प्रसार हिंदी में अन्य किसी लेखक का नहीं हुआ। कहानी की मार्मिकता ने प्रथम महायुद्ध की स्मृति को पाठक के मन में जिस रोमांच के साथ उद्धृत किया वह रोमांच होने के साथ बलिदान की भावना भी जगाती है। किशोरावस्था का प्यार किस प्रकार प्रणय-कथा में पर्यवसित होकर, स्मृति में

ही जीवित रहकर गुदगुदाता रहा यह जिस शैली से कहानी में व्यंजित हुआ है वह अद्भुत है और विलक्षण होने के साथ एक सैनिक के बलिदान को भी पूर्ण त्याग के साथ उभारता है।

'उसने कहा था' कहानी से जहां गुलेरी जी को साधारण हिंदी पाठक पहचान सका वहां इस पहचान से एक हानि भी हुई, उनका समग्र योगदान ओझल हो गया और पाठक कहानी तक ही उनके प्रदेय से संतुष्ट बना रहा। 'उसने कहा था' के वट-वृक्ष के नीचे मानो गुलेरी जी के कृतित्व-यश के अन्य पक्ष पनप नहीं सके। वस्तुतः गुलेरी जी तो बहुमुखी प्रतिभा के धनी, सर्जक साहित्यकार, प्राच्यविद्या विशारद तथा भाषावैज्ञानिक महापंडित थे। उनके द्वारा इन विधाओं में जो कार्य हुआ उसका अनुसंधान की प्रविधि से न तो आकलन ही हुआ और न ही हिंदी जगत् को पूरी तरह ज्ञान है। यदि उनके संपूर्ण कृतित्व का विधिवत् अनुशीलन-आकलन किया जाए तो निस्संदेह उनका प्रदेय अत्यंत मूल्यवान एवं उपादेय सिद्ध होगा। वह मात्र ३९ वर्ष की अल्पायु में ही दिवंगत हुए किंतु उनकी सर्जनक्षमता के स्तर को देखकर विमुग्ध हुए बिना नहीं रहा जाता।

भाषा के क्षेत्र में गुलेरी जी का योगदान अप्रतिम है। वह स्वयं तो पालि, प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि के पंडित थे ही, उन्होंने इन भाषाओं के पुनरुद्धार के लिए जो किया उसकी ओर अभी तक विद्वानों का ध्यान नहीं गया है। हिंदी भाषा के संबंध में उन्होंने बीसवीं शती के प्रथम शतक में जो लेख लिखे वे इस तथ्य के साक्षी हैं कि वह हिंदी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने की दिशा में प्रामाणिक सामग्री संकलित कर रहे थे। हिंदी भाषा के संबंध में उनकी ये टिप्पणियां उल्लेखनीय हैं—पुरानी हिंदी, डिंगल, सुगतेता = मृगनेत्रा, पूत्कार = पुकारना, श्रद्धा, छट्ट, यंत्रक, वैदिक भाषा में प्राकृतपन, रड्डा छंद, उलुलू ध्वनि = हुर्रा, यूनानी प्राकृत, तुतातिल = कुमारिल, आर्ष हिंदी, क्रियाहीन हिंदी और बेसिर की हिंदी। इनमें गुलेरी जी ने हिंदी की प्राचीन रूप-पद्धति को प्रकाशित करते हुए उसके प्रयोग और नव्य स्वरूप को उद्‌घाटित किया है। 'पुरानी हिंदी' लेख तो हिंदी में चर्चित रहा है, शेष रचनाओं से हिंदी-जगत् अद्यावधि प्रायः अपरिचित ही है।

गुलेरी जी वस्तुतः सच्चे अनुसंधाता थे। उन्होंने जिन विषयों का चयन किया उनमें अधिकांश प्राच्यविद्या अथवा साहित्य से संबद्ध हैं। कुछ वैदिक विषय भी उन्होंने चुने हैं। वैदिक भाषा और वेद-संबंधी विषयों में उनकी गहरी रुचि थी। यह उनके दो दर्जन से अधिक लेखों से ज्ञात होता है। शोधदृष्टि का पता तो इसी से चलता है कि उन्होंने पाणिनि की कविता विषयक टिप्पणियां लिखी हैं। शुष्क वैयाकरण को ललित कविता से जोड़ना गुलेरी जी जैसे अनु-

संधाता के लिए ही संभव है। 'वेद में पृथिवी की गति', 'ब्रह्मदेवता', 'अश्वमेध', 'राजसूय', 'वाजपेय', 'मनुवैवस्वत', 'सौत्रामणि का अभिषेक', 'देवकुल', 'श्री-श्री श्री श्री', 'चारण', 'सवाई', 'पंचमहाशब्द', 'सिंहलद्वीप में महाकवि कालिदास का समाधिस्थान', 'कालिदास की देशभाषा', 'चाणूर अंध्र', 'आत्मघात', 'अवन्ति-सुंदरी', 'आंख', 'पृथ्वीराज विजय-महाकाव्य', 'जयसिंह प्रकाश', 'संस्कृत की टिपरारी' तथा 'महर्षि च्यवन का रामायण' आदि कृतियां उनकी जिज्ञासा तथा अनुसंधान-प्रवृत्ति की ही परिचायक हैं।

गुलेरी जी के समग्र लेखन पर दृष्टिपात करने पर यह तथ्य उभरकर उजागर होता है कि ललित शैली के निबंध-लेखकों में उनका श्रेष्ठतर स्थान है, जिसे हिंदी-जगत् भूल रहा है। उन्होंने ललित निबंधों का प्रणयन उस समय किया था जब भारतेन्दुयुगीन निबंध-लेखकों की परंपरा समाप्त हो गई थी। ललित निबंधों एवं टिप्पणियों में 'घंटाघर', 'जय जमुना मैया की', 'हा हा ता ता', 'मारेसि मोहिं कुठाउं', 'घड़ी के पुर्जे', 'अक्ल बनाम नस्ल', 'बनारसी ठग', 'पुरानी पगड़ी', 'पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ', 'ढेले चुन लो', 'काशी', 'कछुआ धरम', 'जोड़ा हुआ सोना', 'विवाह की लाटरी', 'अमंगल के स्थान में मंगल शब्द' आदि उल्लेख्य हैं।

निबंध में आलोचना को स्थान देने वालों में भी गुलेरी जी का उच्च स्थान है। उन्होंने जयपुर से 'समालोचक' पत्र का पांच वर्षों तक संपादन किया और उसमें समीक्षाएं भी लिखीं। उन्होंने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का भी संपादन किया और उसमें भी समालोचनात्मक लेख लिखे। इस प्रकार वह निबंध के सभी प्रकारों को स्वीकार कर, हिंदी निबंध के उन्नायकों में स्थान पाने योग्य ललित निबंधकार हैं।

प्राच्य विद्या महार्णव महापंडित श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की रचना-शैली की प्रधानता उसकी व्यावहारिकता में है। भाषा में विचित्र चलतापन है। छोटे-छोटे एवं स्पष्ट वाक्य, मुहावरों का उपयुक्त प्रयोग, अवसर व विषयानुरूप शब्द-योजन उनके गद्य के आकर्षण-प्रसाधन हैं। विषय-प्रतिपादन की क्षमता उनमें अपूर्व थी। इतिवृत्त-निरूपण में उन्होंने स्थल-स्थल पर प्राचीन वैदिक तथा पौरा-णिक पदों और प्रमाणों द्वारा अपने कथन का समर्थन किया है। सामाजिक तथा आलोचनात्मक निबंधों की लेखशैली चुलबुली तथा चटपटी है। मुहावरों का इतना सुंदर निर्वाह हुआ है कि अभिव्यंजन का समस्त कौतुक उनके प्रयोग पर आश्रित दृष्टिगत होता है। शैली की इस विशिष्टता और अर्थगभित वक्रता के कारण उनकी रचनाओं में वैयक्तिकता की छाप लग गई है।

सहजधर्मी समीक्षक

□ प्रभाकर माचवे

उनतालीस वर्ष की अल्पायु में दिवंगत संस्कृत-पंडित, पुरातत्त्वज्ञ, कथाकार, सत्समालोचक, बहुभाषाविद्, शोधकार्यरत प्रतिभाशाली व्यक्ति के संस्मरण से मेरे मन में एक युग उभर आता है। जब विद्या का मान था, और जिसे अंग्रेजी में 'लिबरल एजुकेशन' कहते हैं, उस प्रकार के विविध विषयग्राही और उदार अध्ययन की परंपरा थी। गुलेरी जी हिंदी में 'उसने कहा था' कहानी के लिए ही विशेष माने जाते हैं, जो कि गल्प-लेखन की शैली में एक प्रतिमान उपस्थित करती है—विशेषत: बोली का प्रयोग संवादों में जिस सहजता से प्रयुक्त किया गया है और जैसा अमृतसर के बाजार का वर्णन बहुत कम शब्दों में चित्रवत् गुलेरी जी उपस्थित करते हैं, उसकी मिसाल मिलनी बहुत मुश्किल है।

मैंने बहुत पहले उनका 'कछुआ धरम' निबंध पढ़ा था, जिसका असर मेरे मन पर रहा होगा। इसीसे जब इलाहाबाद से 'प्रतीक' निकला तो उसमें मैंने एक 'कछुआ' नामक कविता भी लिखी थी। आज जब गुलेरी जी के निबंधों की विषय-सूची पढ़ता हूं तो उसका मनोहारी विषयवैविध्य मुझे बहुत आकर्षित करता है। हिंदी में गंभीरता और परिहास-विजल्पितम् के मानो दो कक्ष बन गए हैं। आजकल हमारे तरुण और किशोर समीक्षक जब अनावश्यक गुरुगंभीरता का लबादा ओढ़े 'दुनिया के अन्देशे से दुबले' होने का स्वांग भरते हैं तो मुझे बहुत हँसी आती है। दूसरी ओर हिंदी में हास्य के नाम पर चुटकुले-बाजी और फूहड़पन ने उसकी साहित्यिक सांकेतिकता और सोफियानापन नष्ट कर दिया है। झूठी गंभीरता और झूठा, फूहड़, खोखला ठहाका दोनों मस्तिष्क के भीतर के खालीपन को व्यक्त करते हैं। दुर्भाग्य से हमारे तथाकथित अर्द्धसाहित्यिक पत्रों के अस्सी प्रतिशत से अधिक पन्ने इसी प्रकार के चर्चित-चर्वण, उबाऊ और अर्थशून्य शब्द-व्यायाम से अटे पड़े हैं। जब मैंने सन् १९५० ई० में 'खरगोश के सींग' पुस्तक में कुछ परिहासपूर्ण व्यक्तिगत ललित निबंध

लिखे तो हमारे मित्रगण मुझे 'विदूषक' कहने लगे (शमशेरबहादुर सिंह ने श्रीकान्त वर्मा के पत्र 'कृति' में मुझे यह उपाधि सन् साठ में ही दी थी) परंतु बर्नार्ड शॉ ने एक जगह लिखा है कि 'गंभीर से गंभीर बातें भी मैं अत्यंत अगंभीर शैली में कहता हूं। यही मेरी सिफत है।' गुलेरी जी जैसे कुछ गद्य-लेखक हिंदी में थे जिन्होंने भारतेन्दु-मंडल के बाद उस परंपरा को आगे विकसित किया। वही हास-परिहासमय ललित निबंध हमें बाद में विनोद शर्मा, भ्रमरानंद 'कुट्टिचातन' आदि उपनामों से लिखने वाले सांप्रतिक लेखकों की शैली में मिलता है। गंभीरता और अगंभीरता का यह मिश्रण बहुत कम लोगों के हाथों सध पाता है।

एक ओर गुलेरी जी अत्यंत जटिल और कठिन शोधपरक विषयों पर टिप्पणियां लिखते हैं तो दूसरी ओर वह काव्यशास्त्र के विनोद अंश को भी नहीं भूलते। यह एक स्वस्थ चिंतन की परंपरा है। एक ओर 'वैदिक षष्ठ तप गोदानम्', 'वेद में पृथिवी की गति', 'पाणिनि की कविता', 'सिंहलद्वीप में महाकवि कालिदास का समाधिस्थान', 'जालहंस की सुभाषित मुक्तावली और चन्द की षट्भाषा' 'भारद्वाजगृह्यसूत्र', 'डिंगल', 'वैदिक भाषा में प्राकृतपन', 'मनुर्वैवस्वत' जैसे लेख हैं तो दूसरी ओर 'घंटाघर', 'हा हा ता ता', 'बेसिर की हिंदी', 'ढेले चुन लो', 'झख मारना', 'बनारसी ठग', 'ब्रह्मचारी को पान खिलाना', 'उलुलू ध्वनि = हुर्रा' ऐसे भी शीर्षक हैं। मनोविज्ञान के जानकार बताते हैं कि बुद्धि जितनी ही तीव्र होगी, उतनी ही उसकी गति सर्वगामी होगी। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अनेक विषयों और भाषाओं के ज्ञाता अल्प वय में ही हो गए थे। योरोपीय और भारतीय पंडितों के साथ निकट से काम करने का उन्हें मौका मिला था और उनमें राजस्थान में रहने से एक ठेठ माटी का रंग और बनारसी रसियापन भी था। ऐसा विविध-आयामी संगम कम ही विद्वानों में पाया जाता है। संस्कृतज्ञों में एक प्रो० पे० गोड़े थे जिन्होंने संस्कृत के गहरे विद्वान होने पर अनेक ऐसे छोटे-छोटे विषयों को उठाया है, जैसे 'प्राचीन भारत में खाने की वस्तुएं', 'ताम्बूल का इतिहास' या 'कई तरह के खेल' आदि। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'प्राचीन भारत में कला-विनोद' या पं० मोतीचन्द्र कृत 'प्राचीन भारतीय वेशभूषा' आदि पुस्तकें हिंदी में अपवाद हैं। अधिकांश संस्कृतज्ञ हिंदी में दर्शन या भाषाविज्ञान तक ही सीमित रहे हैं, जबकि संस्कृत में किस विषय पर लिखा नहीं गया है!

मनुष्य जितनी ही ऊंचाई पर जाएगा, उसे नीचे की चीजें छोटी-छोटी नजर आएंगी। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने दुनिया-जहान देखा, कई प्रतिष्ठित पदों पर कार्य किया। अल्पायु में ही उन्हें इस संसार की अनित्यता का बोध हो चुका था। इसी कारण से उनकी कविताओं, कहानियों और निबंधों के भीतर

एक मानवीय करुणा की अंतर्धारा है। निस्संगता के साथ-साथ सब रंगों में रस लेने का एक अपनापन है, एक गहराई के साथ-साथ पानी में दिखने वाली पारदर्शिता और निश्छलता है। इसी कारण से उनके निबंध आज भी अपूर्व आनंद देते हैं। उनकी संपादकीय टिप्पणियों की भांति बाद में 'सरस्वती' में श्री नारायण चतुर्वेदी की अनेक दशकों तक विविध विषयों पर लिखी टिप्पणियों तथा स्व० ललित विलोचन शर्मा की 'बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्' के 'साहित्य' पत्र में लिखी टिप्पणियों से गुलेरी जी के गुरुत्व की याद आती है। और भी कई ऐसे संपादक होंगे। आजकल तो ऐसे साहित्य-रसिकों का अभाव होता जा रहा है। मेरे जैसा मूर्ख जरा हर विषय में रोड़ा अड़ाता है तो उसे हमारे मित्र 'घिघियाते-घिघयाते बन गए घोंघा' (अज्ञेय की हम पर तुक्तक) कहते हैं। खैर, किसी के कहने न कहने से क्या आता-जाता है! अपना स्वभाव छोड़कर कहां जाएंगे, उनका यह दुरतिक्रम है, हमारा सहज भाव है।

स्व० पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी सहजधर्मी थे। उन्हें प्रणाम!

संस्कृतनिष्ठ साहित्य

□ संतराम वत्स्य

यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि गुलेरी जी मूलतः संस्कृत और संस्कृति के क्षेत्र के व्यक्ति थे। किंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह आधुनिक युग के लिए हिंदी की उपयोगिता को नकारते थे या वैदिक युग की पुनःस्थापना करना चाहते थे। संस्कृत-उपासना उनकी पारिवारिक परंपरा थी।

कुछ तो गुलेरी जी की समग्र रचनाओं की अनुपलब्धता के कारण और कुछ उनके कृतित्व की मूल चेतना के वैदिक-पौराणिक वाङ्मय पर आधारित होने के कारण हिंदी के पाठकों और आलोचकों ने उनके संस्कृतनिष्ठ साहित्य की उपेक्षा की है।

कहा जाता है कि गुलेरी जी ने चार-पांच वर्ष की अवस्था में ही संस्कृत में बात करना सीखकर 'अष्टाध्यायी' तथा 'अमरकोष' को लगभग कंठस्थ कर लिया था। साथ ही दस वर्ष की अल्प वय में 'भारत धर्म महामंडल' के वार्षिकोत्सव पर संस्कृत में भाषण देकर विद्वन्मंडली को आश्चर्यचकित भी किया था। अभी तीस वर्ष के भी नहीं हुए थे कि मेयो कॉलेज, अजमेर में संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष पद पर नियुक्त हुए। उन्होंने वेद-वेदांग, महाकाव्यों तथा संस्कृत की अमर कृतियों का गहन अध्ययन किया था। दर्शन-शास्त्र पर भी उनकी गहरी पकड़ थी। यद्यपि उनकी संस्कृत-शिक्षा प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुसार हुई थी तथापि अपने असाधारण अंग्रेजी ज्ञान द्वारा उन्होंने पश्चिम की आधुनिक अनुशीलन और अनुसंधान-पद्धतियों का प्रभूत ज्ञान प्राप्त किया था। यह मणि-कांचन-संयोग सुफलदायक सिद्ध हुआ। उन्होंने हिंदी साहित्य के प्राचीन और अर्वाचीन ग्रंथों का अवधानपूर्वक अध्ययन और मनन किया था। संस्कृत के साथ-साथ पालि, प्राकृत और अपभ्रंश का भी उन्हें पूर्ण ज्ञान था। अंगरेजी के अतिरिक्त लैटिन, फ्रेंच और जर्मन भाषाओं के भी वह ज्ञाता थे।

गुलेरी जी के ज्ञान-क्षेत्र का आकलन करें तो वह वैदिक-पौराणिक वाङ्मय

के मननशील अध्येता, संस्कृत-साहित्य के महारथी, हिंदी-साहित्य के मर्मज्ञ, बहु-भाषाविद्, पुरातत्त्ववेत्ता, कर्मकांड और न्यायशास्त्र के सुधी विद्वान, इतिहास-समाजशास्त्र के तलस्पर्शी ज्ञाता, मूर्तिशास्त्र और लिपिविज्ञान के विचक्षण विज्ञाता भी थे। वेद के सर्वांगों, तुलनात्मक अनुसंधान, कहानी-लेखन, निबंध-लेखन, पत्र-लेखन, पत्रकारिता, अनुवाद, कविता, आलोचना, पाठालोचन, चित्रकला आदि कितने ही क्षेत्रों में उनकी गहरी पैठ थी। फारसी का भी उन्हें कार्यकारी ज्ञान था। उन्होंने इतिहास के क्षेत्र में पुस्तकों के अलावा पुरानी मुद्राओं, मूर्तियों, ताम्रपत्रों, शिलालेखों तथा पण्डों की वहियों की छानबीन भी की थी।

संस्कृत के पंडितों के बारे में प्रायः यह समझ लिया जाता है कि वह गतानुगतिक होते हैं। मैं मानता हूं कि यह स्थापना भ्रांतिमूलक है और श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी जी के बारे में तो नितांत भ्रममूलक। उन्होंने अंत्यजों के वैदिक कर्मकांड में सम्मिलित होने के उदाहरण ब्राह्मण और सूत्र ग्रंथों से दिए हैं, और अंत में अपना मंतव्य प्रकट करते हुए कहा है—"इस कथा से यह सिद्ध होता है कि सभी प्रजा यज्ञ में सम्मिलित होती थी, राजा को सबमें अपनापन की बुद्धि होती थी। जो लोग अंत्यजों को वैदिक धर्म से दूर समझते हों, वे इस आख्यान को ध्यान से पढ़ें।"[1]

स्त्रियों के बारे में भी हमारा भूतकाल उज्ज्वल रहा है। 'अवंति सुंदरी' लेख में लिखते हैं कि 'अवंति सुंदरी' राजशेखर की पत्नी थी और वह काव्य-शास्त्र की इतनी विदुषी थी कि 'काव्य मीमांसा' ग्रंथ में राजशेखर ने उसके मत को तीन जगह उद्धृत किया है।

श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी यह स्वीकार नहीं करते थे कि हम ज्ञान और क्रिया के क्षेत्र में अपने पूर्वजों से आगे नहीं बढ़ सकते। अपनी चुटीली भाषा-शैली में लिखते हैं—"पिछले हजार दो हजार वर्षों से हिंदू सभ्यता में धर्म के नाम पर यह कुसंस्कार घुस गया है कि पहले जो कुछ हो गया वैसा अब नहीं हो सकता, अब गिरने के दिन हैं, चढ़ने के नहीं। प्रचलित धर्म और समाज के शोक-संगीत की टेक यही है कि न पहले का-सा समय है, न राजा, न ऋषि, न विद्या और न संपत्ति। वर्तमान आंदोलनों में भी आगे उन्नति करने की प्रवृत्ति को दबाकर यह रोग बढ़ता जा रहा है कि प्राचीन समय फिर लौट आवे तो हम निहाल हो जायं। जिस बुद्धि ने हिंदू सभ्यता की जड़ों में अवसर्पिणीकाल और कलियुग के तेल की सिंचाई की है, उसने बड़ा अनर्थ किया है, सारे समाज को उत्साहशून्य बना दिया है। और देशों में पिता पुत्र से यह आशा करता है कि वह मुझसे सब बातों में बढ़कर हो, पर यहां वह यही कहता है कि हमारी चाल निबाह लोगे तो बहुत है, हमसे बढ़कर क्या हो सकते हो। जहां पलने से लेकर बैकुंठी तक यही

१. गुलेरी-ग्रंथ : भाग-१, पृ० ६४, नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २००० वि०

मनहूस शोर मचा रहता है कि जो पीछे गया अच्छा, आगे आवेगा वह बुरा-ही-बुरा होगा, वहां उन्नति की क्या आशा की जा सकती है ? यह बारहमासी आत्म-ग्लानि, यह निराशामय आत्मवंचना, यह दुर्भाग्यजनक आत्मघर्षण, पहले न था। पहले लोग अपने पूर्वजों को बराबरी का समझते थे और यह असंभव नहीं मानते थे कि हम उनसे बढ़कर हो सकते हैं। कम-से-कम उन पर यह निराशा का उन्माद और जन्म भर का सियापा तो नहीं चढ़ा था कि हम गिरते ही जायंगे।"[1]

यद्यपि उन्होंने पाश्चात्यों की आधुनिक अनुसंधान-पद्धतियों से प्रेरणा ग्रहण की थी तथापि पाश्चात्यों से अभिभूत होकर उनकी शोधों या आलोचनाओं को यथावत् स्वीकार नहीं करते थे। वह उनकी त्रुटियों और भ्रांतियों का तर्कसम्मत ढंग से निराकरण करते थे।

'बौद्धों के काल में भारतवर्ष' नामक पुस्तक प्रो० रिस डेविड्स ने अंगरेजी में लिखी थी। उसकी स्थापनाओं का युक्तिपूर्वक खंडन करने के बाद अंत में वह लिखते हैं—"उन्नतिमत्त पाश्चात्य अपनी दशा को और देशों के इतिहास में पढ़ने का उद्योग करते हैं। यूरोपीय क्लर्जी ने राजाओं पर पीछे प्रभाव डाला और उनके और राजाओं के बीच इस बात पर लड़ाइयां हुईं, यही बात भारतवर्ष में ढूंढ़ना चाहते हैं। अपनी छठी शताब्दी की सभ्यता से बढ़कर सभ्यता यहां नहीं दिखाना चाहते और ब्राह्मण तो गालियां देने को हैं ही।"[2]

इससे स्पष्ट पता चलता है कि वह अंगरेज इतिहासकारों के मन की निगूढ़ भावनाओं को कितनी अच्छी तरह समझते थे।

श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी के संस्कृत-कृतित्व को निम्न विभागों में बांटा जा सकता है—

१. संस्कृत में उनकी मौलिक रचनाएं; इसके अंतर्गत उनकी छंदोबद्ध स्फुट काव्य-रचनाएं आती हैं।
२. सस्कृत वाङ्मय के तत्-तत् स्थलों का अनुवाद; इसके अंतर्गत उनके निम्न लेख आते हैं—
    (१) पृथु वैन्य का अभिषेक।
    (२) मनु वैवस्वत।
    (३) सुकन्या की वैदिक कहानी।
    (४) शुनःशेप की कहानी।
    (५) पुराने राजाओं की गाथाएं।
    (६) वाजपेय।

१. गुलेरी-ग्रंथ, भाग-१, पृ० १०४
२. वही : पृ० २०६

(७) राजसूय ।
(८) सौत्रामणी का अभिषेक ।
(९) अश्वमेध ।
(१०) वज्जालग्गम् ।

३. कुछ संस्कृत संज्ञाशब्दों और संस्कृत ग्रंथों की विविधपक्षी आलोचना है :

(१) चाणूर अंध्र ।
(२) पुरानी पगड़ी ।
(३) तुतातित = कुमारिल ।
(४) पंचमहाशब्द ।
(५) देवानां प्रिय ।
(६) सुगतेता = मृगनेगा ।
(७) वैदिक षष्ठतप गोदानम् ।
(८) असूर्यम्पश्या राजदारा ।
(९) उलुलू ध्वनि = हुर्रा ।

और ग्रंथों में हैं—

(१) महर्षि च्यवन का रामायण ।
(२) कादंबरी के उत्तरार्ध का कर्ता ।
(३) कादंबरी और दशकुमारचरित के उत्तरार्ध ।
(४) विक्रमोर्वशी की मूलकथा ।
(५) भारद्वाज गृह्यसूत्र ।
(६) बृहद्देवता ।

गुलेरी जी ने कई जगह संस्कृत पद्यों का हिंदी पद्यानुवाद भी किया है—

(क) शुनःशेप की कहानी, (ख) पुराने राजाओं की गाथाएं, (ग) वाजपेय और (घ) राजसूय आदि लेखों में इसके नमूने देखे जा सकते हैं।

श्वेताम्बर जैन कवि जयवल्लभ के 'वज्जालग्गम्' के सुभाषितों में शब्द-लाघव, सारतत्त्व और नीतिमत्ता से आकर्षित होकर उन्होंने उसके चुने हुए पैंतीस सुभाषितों का प्राकृत से हिंदी में पद्यानुवाद किया था।

'वज्जालग्गम्' संग्रह कवि जयवल्लभ की मौलिक कृति न होकर, उपलब्ध सुभाषितों में से चयन किया गया संग्रह है। इसकी विशेषता यह है कि कवि ने वर्गीकरण करके इसे प्रस्तुत किया है।

इस अनुवाद के संबंध में वक्तव्य देते हुए श्री गुलेरी जी ने लिखा है—

"कवि का यह दावा है कि—

श्रृंगारयुत, रसीली, कामिनी-मनभामिनी मिठास भरी।
प्राकृत कविता रहते, संस्कृत को कौन है पढ़ता ?

" 'मैं उन गाथाओं का, मिलते हुए आर्या या गीति छंदों में, अनुवाद कर रहा हूं। मेरे पास एक हस्तलिखित प्रति थी। अनुवाद जहां तक बन पड़ा, मूल प्राकृत से किया है। भाषा, भाव, श्लेष आदि को निभाने का यत्न किया गया है। एक जर्मन विद्वान का संपादन किया हुआ मूल, संस्कृत-छाया सहित, 'बिब्लोथिका-इंडिका' में भी छपने लगा है। उसकी संस्कृत-छाया दोष-रहित नहीं है। आज उसी 'वज्जालग्गम्' की कुछ गाथाओं के नमूने 'सरस्वती' के पाठकों को भेंट किए जाते हैं। कहीं-कहीं टिप्पणी भी दिए देता हूं।''[1]

ऐतरेय ब्राह्मण, ऋग्वेद, महाभारत, कौटिल्य-अर्थशास्त्र, मनुस्मति, सूत्र-ग्रंथों, वेदों, स्मृतियों, महाभारत और अन्यान्य संस्कृत-ग्रंथों से जो अनुवाद किया गया है, वह मात्र शब्दानुवाद है। वैदिक वाक्य-रचना की शैली दिखाने के लिए उसी तरह के हिंदी पदन्यास का औचित्य तो युक्तिसंगत लगता है किंतु सभी जगह लकीर का फकीर बनना खटकता है।

मूल पाठ को गुलेरी जी ने छोड़ दिया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

कलिः शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठन् भवति त्रेता, कृतं संपद्यते यदा॥

इसका गुलेरी जी द्वारा किया गया अनुवाद यों है—

सोता कलि कहाता है द्वापर स्थान छोड़ता।
त्रेता वह खड़ा जो हो, चलता कृत ही बने॥[2]

इसमें लालित्य तो नाम को भी नहीं है। 'द्वापर स्थान छोड़ता' अशुद्ध भी है 'द्वापर स्थान छोड़ता' में तो मूल को संभवतः ठीक से समझा ही नहीं गया है।

गद्य के अनुवाद में भी 'मक्षिका स्थाने मक्षिकापातः' का केवल एक उदाहरण इस प्रकार है—

"न मुझे कोई मनुष्य दे सकता है (सारी को) भुवन के पुत्र विश्वकर्मन्, तैंने मुझे दे डाला! मैं समुद्र के जल में डूब जाऊंगी, कश्यप को भी दी हुई तेरी प्रतिज्ञा (सारी पृथ्वी देने की) व्यर्थ है।''[3]

'वज्जालग्गम्' के सुभाषितों में से एक सुभाषित यह है—

ज्ञाता दोष दिखाना, कवि-रचना में उसी सुजन का है।
जो काट कुपद को झट, सुंदर पद दूसरा धर दे॥[4]

१. सरस्वती : पृ० २८८, दिसम्बर, १९१९ ई०, संपादक : महावीरप्रसाद द्विवेदी
२. गुलेरी-ग्रंथ, पृ० २४
३. वही, पृ० ३५
४. प्राकृत के कुछ सुभाषित : ७, मूल : २६, सरस्वती : पृ० २८८, दिसंबर, १९१९ ई०

इसका संस्कृत पाठ भी देख लिया जाए—

स शोभते दूषयन् कविजनरचितानि विविधकाव्यानि ।
यो भङ्क्त्वा अपदम् अन्यपदं सुन्दरं ददाति ॥[1]

और प्राकृत पद्य इस प्रकार है—

सो सोइ दूसंतो कइयणरइयाइं विविहकव्वाइं ।
जो भंजिऊण अवयं (कुवयं) अन्नपयं सुंदरं देइ ॥[2]

इसमें पहली बात तो यह है कि एक जर्मन विद्वान के संपादित किए हुए 'वज्जालग्गम्' की संस्कृत-छाया में जो दोष गुलेरी जी ने दिखाया है, वह उनकी संस्कृत छाया में भी है।

अंतिम पद में 'सुंदर पद दूसरा धर दे' इस अंश में 'धर दे' प्रयोग भी खटकने वाला है।

मैं सुभाषित की चुनौती को न तो सही मानता हूं और न स्वीकारता हूं। क्या इसे यों नहीं किया जा सकता—

शोभा देता कविकृत विविध काव्य में दोष दिखाना ।
उसको, जो सदोषपद को निज प्रतिभा से निर्दोष करे ।।

'वज्जालग्गम्' का श्री गुलेरी जी द्वारा रचित पहला पद्य भी द्रष्टव्य है—

मोती जैसी कविता, स्वभाव-विमला, सुवर्ण-जटिता, तब ।
खिलती है, जब पड़ती, श्रोता के कर्ण-छिद्रों में ॥[3]

× × ×

मुक्ताफलमिव काव्यं स्वभावविमलं सुवर्णसंघटितम् ।
श्रोतृकर्णकुहुरे प्रपतितं (प्रकटितं) प्रकटं भवति ॥[4]

इसमें भाव यह है कि सुवर्णा के कर्णाभरण में जटित शुभ्र मोती जैसे शोभा पाता है, वैसे ही सुष्ठु वर्णविन्यास वाला विमल काव्य भी श्रोता के कर्णकुहुरों में पड़कर प्रसार पाता है।

किंतु श्री गुलेरी जी के पद्यानुवाद में 'खिलती है' और 'कर्ण-छिद्रों में' ये प्रयोग खटकने वाले हैं। 'छिद्रों' की जगह मूल का 'कुहुर' शब्द ज्यों-का-त्यों भी रहने दिया जाता तो पद निर्दोष रह जाता।

१. वज्जालग्गम् : ३/२६, पृ० १०, प्राकृत ग्रंथ परिषद्, अहमदाबाद, १९६९ ई०
२. वही, ३।२६ पृ० १०
३. प्राकृत के कुछ सुभाषित : १, सरस्वती : पृ० २८८, दिसंबर, १९१९ ई०
४. वज्जालग्गम्, पृ० ४-५

कर्ण-छिद्रों में पड़कर खिलने का विंब बनता नहीं। खिलना शोभा पाने के अर्थ में प्रयुक्त है। अगर 'कर्णावलंवी' पद होता तो कर्णकटु दोष से बचा जा सकता था।

'गुलेरी-ग्रंथ' में प्रकाशित उनके लघुकलेवर लेखों (टिप्पणियों) को जब मैंने बहुत पहले पढ़ा था तब मैं समझ नहीं सका था कि वे इतने छोटे क्यों हैं। संपादक ने भी उनके प्रकाशन का विवरण नहीं दिया है। बाद में समझ सका कि जब कोई विचार उनके मानस-क्षितिज पर कौंधता था (या समकालीन साहित्य-जगत् में जो प्रश्न उठाए जाते थे) उनके सबंध में वह अपनी प्रतिक्रिया को लेखनी-बद्ध कर लेते थे। इस तरह की कुछ टिप्पणियों के संबंध में जब उन्हें लगता कि कुछ और कहना बाकी रह गया है तो वह अगले अंक में उसे भी लिख डालते। उदाहरणस्वरूप 'कादंबरी के उत्तरार्ध का कर्त्ता' और इसके बाद 'कादंबरी और दशकुमारचरित के उत्तरार्ध'। इस संभावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि पाठकों की प्रतिक्रिया से भी नये विचार-विंदु उभर आते होंगे। किंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उनका समग्र लेखन पत्रकारिता के स्तर का है। उनकी प्रौढ़ रचनाएं— 'आंख', 'देवकुल', 'शैशुनाक मूर्तियां', 'अवंति सुंदरी' 'पुराने राजाओं की गाथाएं', 'पुरानी पगड़ी', 'कछुआ धरम' तथा 'मारेसि मोंहि कुठाउं' आदि अनुपम हैं। उन पर श्री गुलेरी जी का अगाध पांडित्य तो प्रकट होता ही है, शोध की सही दिशा का भी ज्ञान होता है।

'चाणूर अंध्र' 'विष्णुसहस्रनाम' में आया शब्द है। पूरा नाम है—चाणूरांध्र-निषूदन। कुल दस पंक्तियों के इस लेख में ८६ पंक्तियां पाद-टिप्पणियां हैं।

इससे मिलती-जुलती स्थिति 'महर्षि च्यवन का रामायण' की है। इसके पांच पृष्ठों के मूल कथ्य के लिए ग्यारह पृष्ठों की पाद टिप्पणियां हैं। हमारे हिमाचल प्रदेश का ग्राम-देवता 'चानो' यही चाणूर है।

पुरानी पोथियों के संबंध में लिखते समय पोथी के आकार-प्रकार और लेखन के विषय में जानकारी किस तरह दी जानी चाहिए, इसका मानक नमूना 'जयसिंहप्रकाश' (रघुवंश का हिंदी कविता में पुराना अनुवाद) में देखा जा सकता है।

'देवकुल' निबंध का प्रारंभ बाण के जिस श्लोक से हुआ है, उसका उत्तरार्द्ध यों है—'सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव' अर्थात् पताका वाले देवकुलों की तरह भास ने अपने पताकायुक्त नाटकों से यशलाभ किया। किंतु वह आगे लिखते हैं कि 'देवमंदिरों से विपरीत इनमें (देवकुलों से अभिप्राय है) झंडे, आयुध, ध्वजाएं या कोई बाहरी चिह्न न होता था। इनमें कौनसी बात ठीक है : 'सपताकैर्देवकुलैरिव' या बाहरी चिह्नों का अभाव। इस तरह के 'देवकुल' पालमपुर और जयसिंहपुर जनपद (कांगड़ा) में देखे जा सकते हैं जो 'देहरियां'

कहलाते हैं। कुंजद्वार से पैदल चलकर जयसिंह पुर की सीमा में प्रवेश करते ही ये सड़क के दोनों ओर बड़ी संख्या में विद्यमान हैं।

मौलिक पद्य रचनाएं : चंद्रधर शर्मा गुलेरी की मौलिक संस्कृत पद्य-रचनाएं अंगुलियों पर गिनी जा सकती हैं। इनमें भी तीन कविताएं जार्ज पंचम की प्रशस्ति में लिखी गई हैं।

'स्वागतम्' कविता विवाह में कन्यादान से पूर्व वर के स्वागत आदि किए जाने वाले कर्मकांड की पद्धति पर विरचित है। इसमें राजराजेश्वर (जार्ज पंचम) का सारस्वत पुष्पांजलि से स्वागत करते हुए विष्टर, पाद्य, अर्घ, आचमन, मधुपर्क, गौ, आशिष शीर्षकों के अंतर्गत पद्य प्रस्तुत हैं।

दूसरी जार्ज पंचम स्तुति 'महिमा, आशीः प्रद' के शीर्षक से प्रस्तुत है।

इसमें कहा गया है कि भारतीयों को जो पद इससे पूर्व स्वप्न में भी नहीं मिले थे, उनके देने वाले राजेन्द्र की क्यों न वंदना करें। उसके (जार्ज पंचम के) सौ वर्ष जीने की कामना करते हुए, उन्हें अपने मानस पीठ पर आसीन किया गया है।

तीसरी कविता भी 'राजराजेश्वर को आशीर्वाद' के रूप में प्रस्तुत की गई है। उन्हें आर्यधर्म का त्राता स्वीकार करते हुए, उनकी विजय की कामना की गई है।

भारतीयों के हृदय रूपी देहली—दिल्ली में उनका हर्षोल्लास से स्वागत करते हुए उनका राज्य सदा स्थिर रहे, यह कामना की है।

आगे के पद्य में उनको द्विजभूत, द्विजपति और द्विजावनिप की उपाधियों से विभूषित किया गया है।

इसके बाद ब्रिटिश और भारतीयों के नयनानंद-कारक जार्ज पंचम को बाहरी और भीतरी अंधकार का नाशक माना है।

तत्पश्चात् भगवान् से प्रार्थना की गई है कि हम (भारतीय) सदा के लिए आपको अपना स्वामी स्वीकार करते हैं।

अंत में इंद्रप्रस्थ में इंद्रस्वरूप (जार्ज पंचम) को शांति, समृद्धि और विद्या का प्रसारकर्ता स्वीकार किया गया है।

सौ पहरों का दिन, सौ दिनों का महीना और सौ महीनों का वर्ष; ऐसे सौ वर्ष के दीर्घायुष्य की कामना जार्ज पंचम के लिए की गई है। इस प्रकार जार्ज पंचम की स्तुति करते समय गुलेरी जी आवश्यकता से अधिक भावाविभूत हुए-से लगते हैं।

चौथी कविता शिव स्तुतिपरक है। संभवतः चंद्रधर के इष्ट चंद्रमौलि ही हैं। यह सुंदर रचना है। अनुप्रास की छटा दर्शनीय है। भक्त का दैन्य और अकिंचनकारित्व मनोहर रूप से अभिव्यक्त हुआ है।

पांचवीं कविता 'ग्रीष्म' है। चार पद्यों की इस कविता में ग्रीष्म का वर्णन मनोहारी है।

कुछ इधर-उधर विखरे हुए स्फुट पद्य भी गुलेरी जी के मिलते हैं। मुरारि तथा महिषासुरमर्दिनी और भगवान परशुराम की स्तुति में उन्होंने एक-एक पद्य रचा है।

उन्होंने अपने पत्रों में भी यत्र-तत्र स्वरचित पद्यों का निवेश किया है।

कांगड़ा-चित्रकला और गुलेरी जी

□ डॉ० मनोहरलाल

कांगड़ा-कलम का जन्म कालजयी कथाकार पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी के पैतृक गांव 'गुलेर' में, महाराजा दलीप सिंह (सन् १६६५-१७३० ई०) के समय हुआ। गुलेर के स्थानीय दरवारी कवि उत्तम ने अपने प्रबंध काव्य 'दलीप-रंजनी' में गुलेर के इतिहास का विस्तृत तथा सांगोपांग वर्णन किया है।

यद्यपि गुलेरी जी के कार्यक्षेत्र अजमेर, जयपुर, इलाहाबाद, वाराणसी तथा कलकत्ता रहे हैं तथापि वह अपने पैतृक गांव (गुलेर) आते-जाते रहते थे। गुलेर-नरेश महाराजा बलदेव सिंह उन्हें अपना गुरु मानते थे। महाराजा के निजी संग्रहालय के चित्रों तथा हस्तलिखित ग्रंथों का गुलेरी जी ने समय-समय पर अध्ययन भी किया था। वह सन् १९१८ ई० में कांगड़ा-कलम के कतिपय चित्रों को आधार बनाकर लेख लिखने के लिए प्रयत्नशील थे। जब कांगड़ा-शैली के कुछ चित्र उनके मंझले भाई श्री सोमदेव शर्मा गुलेरी ने पं० झाबरमल्ल शर्मा (कलकत्ता) को बेचने के लिए दे दिए तो कुछ दिन बाद गुलेरी जी ने उन चित्रों को लौटा देने के लिए पं० झाबरमल्ल शर्मा को अपने ५ जनवरी, १९१८ के पत्र में लिखा था—"कांगड़ा-शैली के कुछ चित्र मध्यम ने आपको बेचने के लिए दिए थे। उनके संबंध में एक लेख मुझको लिखना है। उनमें से एक की पृष्ठ पर कुछ हिसाब लिखा है जो लेख में काम आवेगा। अतएव मुझे आप उन चित्रों को लौटा दें। लेख में भी एक-आध चित्र छपवाना है। फिर बाकी, यदि हुआ तो लौटा दूंगा।"

गुलेरी जी प्रख्यात वैयाकरणाचार्य भी थे। प्रायः वैयाकरणाचार्यों को शुष्क तथा नीरस कहा जाता है। उन्होंने अनेक स्थलों पर (दबी जबान से ही सही) इस बात को स्वीकारा भी है। यह अलग बात है कि उनकी कृतियों में, व्याकरण जैसे शुष्क तथा रूखे विषयों में भी हास्य का दखल रहता है और वह अपनी कृतियों में व्याकरण के पंडितों पर लगाए जाने वाले ऐसे दोषारोपण के खंडन के

लिए भी प्रयत्नशील रहते हैं। यही कारण था कि इस उद्देश्य से वह कभी-कभी उपस्थित परिस्थिति में हास्य की तरंग पैदा कर चुटकी भी लिया करते थे। उनका अंगरेजी में लिखित 'ए साइंड मौलाराम' लेख भी इस बात का अपवाद नहीं है। यह लेख 'रूपम्' (अप्रैल, १९२० ई०) की दूसरी संख्या में छपा था।

वाराणसी के विश्वविख्यात कला-समीक्षक स्व० रायकृष्णदास की गुलेरी जी के साथ प्रगाढ़ मैत्री थी। साहित्य-रचना में समानधर्मी होने के कारण दोनों विद्वान एक-दूसरे के प्रशंसक भी थे। कभी रायकृष्णदास के मन में कहीं यह रहा होगा कि संस्कृत-साहित्य और व्याकरण का पुरोधा गुलेरी चित्रकला के बारे में क्या जाने! गुलेरी जी ने कुछ-कुछ इसी बात को लेकर 'ए साइंड मौलाराम' लेख लिखा था। वह अपने कृतित्व में पुरानी स्थापित मान्यताओं का पुनर्मूल्यांकन करके नई स्थापना करने में भी दक्ष थे। वह इस कवि-कर्म के लिए सप्रमाण तथा सोदाहरण तर्क भी जुटाते थे। बस, सरकार (रायकृष्णदास) को चौंकाने तथा उनके विनोदार्थ लिखे इस लेख के विषय में उन्होंने अपने १ अक्तूबर, १९२० ई० के पत्र में अपने को चित्रकला-समीक्षा का 'अनधिकारी' तथा अपनी कृति को 'अनधिकार चर्चा' की संज्ञा देते हुए राय साहब को लिखा—

"एक अनधिकारी ने 'रूपम्' की दूसरी संख्या में मौलाराम के एक चित्र के बारे में कुछ अनधिकार चर्चा की है। आप उस पर हँसे होंगे कि चितरारी के विषय से कोरे वैयाकरण का यह साहस! आपके विनोद के लिए वह लिखा गया था।"

स्पष्ट है कि पं० झाबरमल्ल शर्मा को लिखे पत्र के अनुसार कांगड़ा-शैली के वे चित्र एकाधिक थे और गुलेरी जी ने उनमें से एक को ही अपने लेख का विषय बनाया था। पर 'रूपम्' में मौलाराम के जिस चित्र को लेकर लेख लिखा गया, यह वह चित्र नहीं था जिसकी पृष्ठ पर लिखे हिसाब का लेख में उपयोग किए जाने का संकेत उन्होंने पं० झाबरमल्ल शर्मा को दिया था। बहुत संभव है, इस संदर्भ में उनका कोई दूसरा लेख अन्यत्र छपा हो।

गुलेरी जी द्वारा स्व० रायकृष्णदास को गुलेर से लिखे २० नवंबर, १९१६ ई० के पत्र से ज्ञात होता है कि उन दिनों वह अपने पिता का चातुर्वार्षिक श्राद्ध करने गुलेर गए हुए थे। बहुत संभव है, उन्हें अपनी इस गुलेर-यात्रा में गुलेर-दरबार से ये सब चित्र उपलब्ध हुए हों जिनका उल्लेख उन्होंने पं० झाबरमल्ल शर्मा को लिखे अपने ५ जनवरी, १९१८ ई० के पत्र में किया।

गुलेरी जी ने जिस एक चित्र के पृष्ठ पर जिस हिसाब की चर्चा की है, वह भी मौलाराम की चित्रशैली होने का प्रमाण है। पहाड़ी चित्रकला के मर्मज्ञ विद्वान श्री किशोरीलाल वैद्य ने अपनी पुस्तक 'पहाड़ी-चित्रकला' में लिखा है—"मौलाराम

बहुमुखी प्रतिभा का धनी था, जिसका परिचय हमें उसकी चित्रकला तथा काव्य-कृतियों से मिलता है। उसने अनेक चित्रों का संकलन भी कर रखा था जिसमें अपनी कलाकृतियों के अतिरिक्त उसके साथियों तथा उसके शिष्यों के चित्र भी रहे होंगे। अनेक चित्रों के ऊपर अथवा पृष्ठ पर कुछ पद्यात्मक पंक्तियां लिखी गई हैं, जिनसे मौलाराम द्वारा उनके चित्रांकन का सीधा पता चलता है।"[1]

गुलेरी जी ने अपने लेख में मौलाराम का जन्म सन् १७६० ई० तथा निधन सन् १८३३ ई० दिया है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि किसी राजनीतिक षड्यंत्र के कारण औरंगजेब के भतीजे सलीम को सुरक्षा की दृष्टि से गढ़वाल-नरेश फतेहसिंह (श्रीनगर-दरबार) की शरण लेनी पड़ी तो उनके साथ आए दो कलाकार शामदास और केहरदास यहीं रह गए और उन्हें पचास गांवों का दीवान बना दिया गया। उन्हें पांच रुपये प्रतिदिन के हिसाब से भत्ता भी दिया जाने लगा। (ये दोनों पिता-पुत्र थे) उन्हीं से यह पुश्तैनी कला मौलाराम को मिली। मौलाराम उन्हीं की चौथी पीढ़ी (?) का था। उसकी कला से सिद्ध है कि वह जन्मजात कलाकार था। वह हिंदी तथा फारसी का कवि भी था। उसकी उपलब्ध पांडुलिपियां तथा चित्रावली औरंगजेब के युग के इतिहास का जीवंत दस्तावेज हैं। मौलाराम का औरंगजेब के युग के इतिहास की परिगणना तथा सुरक्षा में बड़ा योगदान है। गुलेरी जी ने लिखा है कि कुमार स्वामी ने 'राजपूत पेंटिंग' में इस चित्रकार की कला की अच्छी चर्चा की है।

गुलेरी जी ने आगे लिखा है कि कुमार स्वामी ने मौलाराम के सन् १७७५ ई० के एक चित्र तथा उस पर लिखित एक दोहे का उल्लेख किया है। अपने लेख में गुलेरी जी ने दोहा तो उद्धृत नहीं किया। हां, उसका भावार्थ भर देते हुए लिखा है—हजारों और लाखों या अरबों रुपयों के स्वर्ण और गांवों का क्या मूल्य? मौलाराम तो अपने जीवन की सार्थकता सद्भाव, कीर्तिस्व तथा कुशल-क्षेम और कल्याण में ही समझता है। इस चित्र का नाम 'मोर प्रिया' है। इसमें नव-यौवना नायिका मोर से खेल रही है। वैसे चित्र के ऊपर दिए दोहे का पाठ इस प्रकार है—

कहां हजार कहां लक्ष है, अरब खरब धन ग्राम।
समझै 'मौलाराम' तो, सरव सुदेह इनाम॥[2]

गुलेरी जी ने मौलाराम के जिस चित्र को आधार बनाकर अपना लेख तैयार किया है उससे मौलाराम का कवि-कर्म तथा कला-कर्म दोनों ही लक्षित हैं। इस

१. पहाड़ी-चित्रकला : किशोरीलाल वैद्य, पृ० १४५, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९६९ ई०
२. गढ़वाल की दिवंगत विभूतियां : भक्त दर्शन, पृ० ७४ द्वितीय संस्करण —संपादक

चित्र का रचनाकाल सन् १७६५ ई० है। उस समय मौलाराम ३५ वर्ष का था। चित्र का विषय 'चंद्रमुखी नायिका' है। वह बाग में भ्रमणार्थ निकली कि उसके मुंह को चंद्रमा समझकर चकोर उस पर झपट पड़ा। वह अपने दुपट्टे से उसे हटाती हुई बच निकलती है। इस चित्र का सामाजिक संदर्भ —'धृष्ट नायक' की लंपटता है, जिसका उसे चकोर के प्रतीक अर्थ में शिकार होना पड़ता है। मौलाराम ने इस चित्र के साथ एक सवैया भी अपने हस्तलेख में लिखा है जो खंडित हो गया है। गुलेरी जी ने इस सवैये पर टिप्पणी भी की है। यह सवैया यों है—

बाग बिलोकन कूं नवला निकसी मुखचंद्र दिखावत ही।
लखी संग च (कोर)·········सब्द कठोर सुनावत ही॥
उझकि-उझकि फिरकी-सी फिरि चहु आशहि······।
कवि 'मौलाराम' चली हटी के दुपटा पट चोट बचावत ही॥

इस पर गुलेरी जी की टिप्पणी है—"सचमुच इस छंद के मूल मधुर शब्दों को यहां प्रस्तुत कर पाना कठिन कार्य है तथापि नीचे दिए गए इस छंद के भावानुवाद में छंद के कथ्य को स्पष्ट करते हैं—एक नवयुवती बाग देखने के लिए निकली। ज्यों ही उसने अपना सुंदर मुखचंद्र बाहर निकाला (दिखाया), एक ढीठ चकोर उस पर झपटा और अपनी कठोर वाणी सुनाकर उसे दग्ध करने लगा। वह नवेली बड़ी शालीनता और फुर्ती से पक्षी के अप्रासंगिक दुर्व्यवहार से बचती हुई फिरकी की तरह घूम गई। 'मौलाराम' कहता है कि नायिका ने मौका संभाला और वह अपने दुपट्टे के छोर से पक्षी पर हल्का-सा प्रहार करती हुई, उसे चकमा देकर पीछे मुड़ गई।"

गुलेरी जी ने स्पष्ट किया है कि इस नायिका की वेशभूषा कांगड़ा-चित्रकला की नायिकाओं की वेशभूषा जैसी है। गढ़वाल तथा कांगड़ा-कलम में ऐसा साम्य है। उन्होंने मौलाराम द्वारा चित्रित इस सुंदर नायिका के पीले दुपट्टे तथा चकोर को प्रताड़ित करती हुई के चित्रित अनुभावों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। स्पष्ट है कि मौलाराम के नायिकाभेद-संबंधी चित्र बड़े महत्त्व के हैं।

कांगड़ा, गुलेर तथा गढ़वाल के रजवाड़ों के परस्पर बड़े मधुर संबंध थे। मौलाराम के जीवनकाल में गुलेर में महाराजा प्रकाशचंद (सन् १७६०-१७६० ई०), महाराजा भूपसिंह (सन् १७६०-१८११ ई०), सिक्ख-शासन (सन् १८११-१८२० ई०) तथा महाराजा समशेरसिंह (सन् १८२० ई०) का राज्य था।

ध्यातव्य है कि मौलाराम को गढ़वाल के महाराजा प्रदीपशाह (सन् १७१७-१७७२ ई०), ललितशाह (सन् १७७२-१७८० ई०), जयकृतशाह (सन् १७८०-१७८५ ई०) तथा प्रद्युम्नशाह (सन् १७८५-१८०३ ई०) का दरबारी होने का अवसर मिला। इन्हें कांगड़ा के महाराजा संसारचंद के दरबार में भी समय-

समय पर सम्मान प्राप्त होता रहा था और वह अपने कांगड़ा-प्रवास के दिनों में गुलेर, डाडासीबा, सुजानपुर, सिरमौर तथा मंडी-सुकेत के राजदरबारों से भी जुड़े रहे। उनके गुलेर-नरेश समशेरसिंह की स्तुति में 'समशेर-जंग-चंद्रिका' तथा 'ज्वालामुखी' की स्तुति में 'ज्वाला-महिमा' ग्रंथ इसका प्रमाण है। गढ़वाल-नरेश ललितशाह के पुत्र प्रद्युम्नशाह का विवाह गुलेर राजवंश के अजबसिंह की बेटी के साथ हुआ था। इस घटना का प्रभाव गढ़वाल-कलम पर पड़ना स्वाभाविक था। दोनों राजवंशों के चितरेरों तथा कृतियों का आदान-प्रदान भी हुआ होगा। दहेज में कांगड़ा-शैली के चित्र अवश्य ही गढ़वाल गए होंगे और यदि मौलाराम का जन्म सन् १७८० ई० के आसपास मान लिया जाए तो वह अवश्य ही गुलेर के आरंभिक चितरेरों—पंडित सेओ तथा उसके दोनों पुत्रों (मानकू और नैनसुख) तथा महाराजा संसारचंद के दरबारी चितरेरों—खुशाला, कुशनलाल, फत्तू और पुरखू—से भी मिले होंगे, उनके चित्रों का अध्ययन भी किया होगा।

गुलेरी जी का मौलाराम की चित्रकला के संदर्भ में लिखना विशद अध्ययन तथा इतिहास-ज्ञान का सूचक है। यह लेख कांगड़ा-चित्रकला तथा कांगड़ा के ब्रजभाषा-साहित्य के अध्ययन में बड़ा सहायक है। 'मौलाराम' का शुद्ध नाम 'मौलराम' है। इसी को उसने अपनी दर्जनों ब्रजभाषा की काव्य-कृतियों में 'कवि-छाप' के रूप में प्रयोग किया है।

रायकृष्णदास के नाम पत्र

□ संपादक

पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी जी के पत्रों में उनका व्यक्तित्व झलकता है, पांडित्य छलकता है और पारिवारिक मधुर स्नेह तथा हास्य-व्यंग्य की फुलझड़ियां आलोकित होती हैं। उनका पत्र-व्यवहार अपने समकालीन लगभग सारे साहित्य-सेवियों से था। इनमें सर्वश्री महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, श्यामसुंदरदास, रामचंद्र शुक्ल, कामताप्रसाद गुरु, मैथिलीशरण गुप्त, रायकृष्ण-दास तथा पं० झाबरमल्ल शर्मा के नाम अग्रणी हैं।

गुलेरी जी के विद्वानों से होने वाले पत्राचार में, हिंदी तथा देश-प्रेम भरा रहता था। किसी सीमा तक स्वाभाविक रूप से साहित्य-सृजन को व्यक्तिगत गतिविधियों तथा उपलब्धियों के साथ घर-परिवार के दुःख-सुख का मुखर हो उठना भी अपवाद न था।

गुलेरी जी के स्व० रायकृष्णदास तथा पं० झाबरमल्ल शर्मा के साथ बड़े ही आत्मीय संबंध थे। इनके साथ हुआ पत्राचार गुलेरी जी की गुरु गरिमा, प्रतिभा तथा जीवन-दर्शन का दिग्दर्शन कराता है। मुझे वाराणसी के श्री मुरारीलाल जी केडिया के सौजन्य से गुलेरी जी के रायकृष्णदास जी के नाम लिखे कुछ पत्र उपलब्ध हुए हैं। ये पत्र गुलेरी जी के व्यक्तित्व तथा कृतित्व पर शोध करने वालों के लिए बड़े उपादेय हैं।

गुलेरी जी अपने पत्रों पर आरंभ में सबसे ऊपर 'ॐ नमः शिवाय' लिखा करते थे। उन्होंने रायकृष्णदास जी की सेवा में एक पत्र २५-१०-१९११ ई० को लिखा था। राय साहब उन दिनों 'सरोज' निकालने के लिए प्रयत्नशील थे और उनसे उसके लिए लिखने का आग्रह कर चुके थे। गुलेरी जी ने अपने लेखन के लिए 'फाउन्ड्री' शब्द का प्रयोग किया और कुछ बढ़िया लिखने की बात कही। उनकी मान्यता थी कि कच्चा-पक्का न लिखा जाए। कारण, वह राय साहब की विद्वत्ता के कायल थे। वह राय साहब को हिंदी का 'सर एड्विन आर्नल्ड' कहते

थे। सप्ताह भर में लेख भेजने के लिए प्रतिश्रुत हुए गुलेरी जी लिखते हैं—

प्रियवर राय साहब, चिरंजीव.

आपका एक कृपापत्र आया। दूसरे की प्रतीक्षा रही।

मैं बड़े हर्ष के साथ 'सरोज' के लिए लेख भेजूंगा। मैं सोचता ही था कि क्या भेजूं, क्योंकि आजकल कुछ तैयार नहीं है। 'फाउन्ड्री' में एक तैयार है सही, परन्तु वह श्रीमती नेहरू के लिए है, इससे लाचारी है। फिर आपके लिए कोई चीज ऐसी-वैसी तो नहीं भेजनी चाहिए ; बढ़िया चीज चाहिए। नहीं तो सर एड्विन आर्नल्ड के हिन्दी अवतार को पसंद कैसे आवे ?

पाठक जी तथा शुक्ल जी को मेरा यथायोग्य प्रेम-नमस्कार कहें। अपने लिए मेरे शुभ आशीर्वाद-कलाप स्वीकार करें।

आपका

श्रीचंद्रधर शर्म्मा गुलेरी

पुन: — शुक्ल जी की शिकायत है. उनने 'मैडल' विषयक मेरे पत्र का उत्तर नहीं भेजा !!

लेख एक सप्ताह में भेज दूंगा।

सन् १९११ ई० के दिसंबर तथा १९१२ ई० की जनवरी का, गुलेरी जी के साहित्यिक जीवन में अपना महत्त्व है। सन् १९११ ई० में उनकी प्रथम कहानी 'सुखमय जीवन'—'भारत मित्र' में छपी थी और इन्हीं दिनों 'मर्यादा' में 'वाजपेय', 'राजसूय', 'सौत्रामणी का अभिषेक', 'शुन: शेप की कहानी', 'पुराने राजाओं की पुरानी गाथाएं', 'मनु वैवस्वत', 'पृथु वैन्य का अभिषेक', 'सुकन्या की वैदिक कहानी' तथा 'अश्वमेध' प्रभृति लेख छपे थे। 'मर्यादा' के लेखों की ओर राय साहब का ध्यान आकृष्ट करने तथा 'सरोज' की साहित्यिक गरिमा एवं मुद्रण आदि की समस्या को लेकर गुलेरी जी ने २-१२-१९११ ई० को अपना पत्र अजमेर से लिखा था। राय साहब ने अपने पत्र में उनसे 'कलकत्ता' जाने के विषय में पूछा था तो उनका उत्तर था राजराजेश्वर (जार्ज पंचम) के परिप्रेक्ष्य में नहीं, बल्कि 'साहित्य-सम्मेलन' की बात हो तो अवश्य।

ध्यातव्य है कि 'मर्यादा' के उक्त अंकों में गुलेरी जी जार्ज पंचम की स्तुति में संस्कृत में 'राजराजेश्वर को आशीर्वाद' तथा 'राजराजेश्वर का स्वागत' शीर्षक कविताएं भी लिख चुके थे, जिनमें उनका खूब प्रशस्तिगान था। पर इस पत्र से उनके मन की अंगरेजी शासन-विषयक वितृष्णा झलकती है। यह पत्र अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। लिखते हैं—

'धीर' मान्यवर राय साहब, आशीर्वाद

आपका कृपापत्र पाकर चिन्ता और धन्यवाद की संसृष्टि हुई। आपने शारीरिक कष्ट पाया इससे प्रथम भाव और आप अब नीरोगता के मार्ग पर चल रहे हैं इससे परमेश्वर की ओर दूसरा। परमेश्वर आपको चिरायु करै !

आपकी 'तकल्लुफ़-पूर्ण' बातों का उचित उत्तर यह वैदिक ग्रामीण ब्राह्मण दे नहीं सकता उसके लिए क्षमा की जाय। 'नहूसत का कौआ' यह महाविरा हो चला है, गत मास की मर्यादा देखिए। आशा है कि आप शीघ्र पूर्ण आरोग्य लाभ करेंगे। लेख को जब हिन्दी-आर्नल्ड पसन्द करें तब बात है—

गाँव बसाया वाणियें
बस जाये जद जाणिये !

अब 'सरोज' के खिलने के मार्ग में कठिनाइयां न रही होंगी। अब उसके 'प्रकाशक' को ही 'मुद्रक' कहना पड़ता है ! प्रिन्टर का अनुवाद 'विकासक' कीजिए, 'मुद्रक' नहीं।

मुझे गौरीशंकरप्रसाद जी से कुछ लिल्लाही बुग़ज़ नहीं है। वे प्रसन्नता से काम करें। परन्तु फिर परस्पर वैमनस्य-कारिणी पार्टी न खड़ी होनी चाहिए। मेरे प्रस्ताव जैसे निरपराध विषय पर विवाद क्यों हुआ ? पाठक जी लिखें तो जान पड़े।

ओझा जी दिल्ली गए हैं और श्रीमती मेरी महारानी के अजमेर तारीख २१ को आने के कारण वे व्यग्र हैं। उस पीछे उनसे पूछकर उत्तर लिखूंगा।

'कलकत्ते आएंगे'—इस प्रश्न का क्या अर्थ है ? यदि राजराजेश्वर के वहां रहने पर, तो 'नहीं' और यदि अग्रिम साहित्य सम्मेलन पर तो 'आपके साथ'।

आपका

श्रीचंद्रधर शर्म्मा

पुनः —शुक्ल जी और बाबू साहब को 'स्मरण'— पाठक जी को विशेषतः श्रीमती बंगमहिला का लेखसंग्रह ही नहीं मिला, वाचस्पत्य तो कहां ?

और फिर जाने क्यों, गुलेरी जी तथा राय साहब के बीच पत्र-संपर्क टूट गया तो पाठक जी ने राय साहब को गुलेरी जी का स्मरण कराया। तब राय साहब ने दिसंबर, १९१२ ई० के प्रथम सप्ताह में उनको एक पत्र लिखा जिसका उत्तर गुलेरी जी ने मेयो कॉलेज, अजमेर से १७-१२-१२ को दिया। इस पत्र में नाराजगी नहीं, स्नेह व्यक्त था और अपने ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा थी। राग-द्वेष से परहेज था। घर-परिवार की चर्चा तथा 'सरोज' की सुध थी। इस पत्र की विशेषता यह है कि इसमें गुलेरी जी ने पूर्ण विराम (।) के स्थान पर अंगरेजी के पूर्ण विराम (.) का प्रयोग किया है। लिखते हैं—

प्रियवर राय साहब,

आशीर्वाद

मैं पाठक जी का बहुत ही उपकृत हूं कि उनने आपके काशी से जाने के विषय में झूठी खबर लिखकर आपको इस बात पर बाधित किया कि आप मुझे स्मरण करें.

मैं आपसे नाराज़ कभी न था, न हूं। आपने मेरे कोई अपराध नहीं किए हैं, इसको छोड़कर कि आप मुझे भूल गए हैं. यों तो मैं ब्राह्मण हूं, आप वैश्य, चरणों पर शिर कई दफा रखवाऊंगा, परंतु किसी मानसिक अपराध के लिए ऐसा न कीजिएगा, क्योंकि अभी वह हुआ ही नहीं. आगे यदि हो जायगा तो उसकी blank cheque अभी लिखे देता हूं.

मैं कलकत्ते नहीं जाऊंगा. यहां से १६ चलकर वहां २१ को नहीं पहुंच सकता। दूसरे, कुछ और भी कारण हैं.

काशी बुलाने के लिए धन्यवाद.

ओझा जी कदाचित् ता० २३ को चलकर काशी सकुटुंब आवें. यदि आवेंगे तो मैं तार दूंगा.

मुझे आपसे मिलने की उत्कंठा बहुत ही है. परमेश्वर आपसे मिलने का सुयोग लावे. बड़े दिनों में, खेद है कि, नहीं आ सकूंगा. यदि रुकता तो बड़े प्रेम से आता.

भाई जगद्धर प्रयाग हिन्दू बोर्डिंग हाउस में है। थर्ड इयर की सेवा करता है। काशी से प्रयाग आना हो तो मिलिएगा.

काशी वाले चुप हैं. चिन्ताशील शुक्ल जी—सर एड्विन आर्नल्ड—चुप, जन्तुकेतु जी चुप—आप भी चुप.

आप लोगों से मिलने के लिए कैसे काशी आकर बस जायं !

सच्चे ही, सरोज का क्या हुआ ?

आपका वही

श्रीचन्द्रधर शर्मा

गुलेरी जी के छोटे भाई सोमदेव शर्मा गुलेरी की पत्नी अस्वस्थ रहने लगीं तो वैद्य महोदय ने 'परवल' सेवन का पथ्य बताया। तब उन्होंने राय साहब को ६-३-१५ का पत्र, प्रति सप्ताह पांच सेर परवल भेजने के निवेदन को लेकर लिखा। पर तब तक सन् १९१२ ई० से निकलता चला आ रहा 'सरोज' नहीं निकल पाया था, इसलिए उन्होंने 'सरोज' पर श्लेष लगाकर उसके लिए लिखने का फिर आश्वासन दिया। उन्होंने आगाह किया कि पार्सल अजमेर न भेजकर जयपुर भेजा जाए। यथा—

प्रिय राय साहब

आशीर्वाद

बहुत व्यग्र हूं. मेरे छोटे भाई, सोमदेव, की स्त्री बहुत बीमार है. परवल चाहिए, यहां तो मिलते नहीं. क्या आप कृपा करके प्रति सप्ताह एक पांच सेर का परवल का पार्सल, फ्रैश फ्रूट के ढंग पर, रेल से नहीं भेज सकते? पता, पं० सोमदेव गुलेरी जयपुर रेलवे स्टेशन, बी०बी० सी० आई०. अजमेर न भेजिएगा. महीने के अन्त में हिसाब कर लिया करेंगे. बड़ी कृपा होगी यदि भेजा करें.

आजकल चिन्तित हूं. चिन्ताहर भगवान् ने किया तो आपके सरोज के खिलने पर साथी होऊंगा.

आपका

श्रीचन्द्रधर शर्मा.

यह 'परवल-गाथा' आगे भी चलती रही। गुलेरी जी सन् १९२१ ई० में हिंदू विश्वविद्यालय में महामना पंडित मदनमोहन मालवीय जी के निमंत्रण पर प्राच्य विभाग के प्राचार्य तथा पुरातन इतिहास एवं धर्म की मनींद्र चंद्र नंदी स्कालर चेयर के प्रोफेसर नियुक्त हुए तो एक बार फिर 'परवल' पर भाषा-भंगी के रूप में टिप्पणी करते हुए 'परबल' कहकर राय साहब से निवेदन किया। यह महत्त्वपूर्ण पत्र उनके काशी में रहने की व्यवस्था आदि विषय में भी प्रकाश डालता है। पत्र यों है—

मेयो कालेज

अजमेर

१८-७-१९२१

माननीय राय साहब

अब परवल न भेजिएगा। अब तो आप वहीं खिलाइएगा। अब हम वहीं आपके 'परबल' हुए आप 'स्वबल' रहें। मैं, आपने सुना ही होगा कि, काशी आता हूं। ता० २७ को यहां से यात्रा का मुहूर्त है। अब सारा भार आप पर है। नए विदेशी की सभी समस्याएं हल करना।

·· घर, नौकर, पलंग, फर्नीचर, कभी पहिए के पैर, सलाह आदि सब देना होगा। एक दिन को गुरुगृह जाऊंगा। पीछे बाबू साहब कहते हैं कि हमने लाहौरी टोला में बड़ा मकान लिया है, उसी में रहो। मैं विश्वविद्यालय के पास रहना चाहता हूं। आपके यहां देसाई वाला बंगला यदि खाली हो तो सर्वोत्तम था।··· आपका साथ और स्वास्थ्य – किन्तु बहुत दूर है। कामाख्या में कोई बंगला या घर दिला दीजिए। या पुराने हिन्दू विश्वविद्यालय के जितना पास कोई घर मिल

सके, खुला तथा अच्छा, खोज करवा रखिए। सम्भव है कि आप ही का कोई हो, या किसी परिचित मित्र का हो। साम से मिले तो साम से (याने यों ही) दाम से मिले तो वैसे। सुना है कि वहां विजयनगरम् वालों की छोटी कोठी है। बाग है, कुआं है। विजयनगरम् के राजकुमार को लिखा है। आप भी टोह लगाइए। वहां उनका एजेंट होगा।···इस विषय में आपकी सलाह, सहायता सब कुछ चाहिए।···आप ही के यहां रह जाता यदि इतनी दूर न होता तथा सकुटुंब न आता···अस्तु। मिलने पर सब बातें तैं होंगी। मैं यहां से ता० २७ को यात्रा करना चाहता हूं। पहुंचने की सूचना दे दूंगा, जिससे पाठक जी गाड़ी आदि मांग सकें। अब ईश्वर ने आपके समीप रहने का अवसर दिया है, कुछ फाइन आर्ट भी सीख लूंगा, क्यों ?

आपका

श्रीचन्द्रधर

गुलेरी जी के ये कुछ पत्र उनके सरल तथा शांत व्यक्तित्व की छवि प्रतिबिंबित करते हैं, जिनमें बीच-बीच में हास्य-व्यंग्य की हल्की-हल्की चुभन भी है। उनके पत्रों में अनुस्यूत व्यक्तित्व उनकी अन्य कृतियों में भी झलकता है।



कहानीकार

- द्विवेदी-युग के सशक्त कहानीकार
- गुलेरी जी की कहानी-कला-१
- गुलेरी जी की कहानी-कला-२
- गुलेरी जी की कहानी-कला-३
- गुलेरी जी की कहानी-कला-४
- गुलेरी जी की कहानी-कला-५
- गुलेरो जी को कहानियों में प्रेम का स्वरूप
- गुलेरी जी की कहानियों में आंचलिकता
- उसने कहा था : मनोभावों का विश्लेषण
- उसने क्यो कहा था : अधिकार और सीमा

द्विवेदी-युग के सशक्त कहानीकार

□ पं० मुकुटधर पाण्डेय

गुलेरी जी से मेरा प्रत्यक्ष परिचय नहीं था। वह मुझसे उम्र में काफी बड़े थे। पर मैं उनके नाम से पूर्ण परिचित था। वह हिंदी के ही नहीं, संस्कृत के भी विद्वान थे। साहित्य के ही नहीं—दर्शन, ज्योतिष, पुरातत्त्व, इतिहास आदि के पारदर्शी विद्वान थे। वह बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। वह काशी विश्वविद्यालय में संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष थे। अंग्रेजी में भी उनकी अबाध गति थी। प्रयाग विश्वविद्यालय से उन्होंने बी० ए० की डिग्री प्राप्त की थी। वह एक संपादक भी थे। उनके संपादकत्व में निकलने वाले 'समालोचक' के कई अंक मेरे देखने में आए थे।

मेरी छात्रावस्था की बात है। तब हिंदी के लेखकों में अंगरेजी की उच्च उपाधिप्राप्त लोगों की संख्या बहुत कम थी। गुलेरी जी उनमें से एक थे।

गुलेरी जी द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि लेखक तथा सशक्त कथाकार थे। मैंने भी उसी युग में लिखना शुरू किया था। द्विवेदी जी की सीख थी—कम लिखिए, प्रयत्न अच्छा लिखने का कीजिए। एक बार उन्होंने मुझे लिखा था—"दो-चार कविता या लेख लिखकर भी आदमी अमर हो सकता है जबकि बहुत लिखने के बाद भी, सौ-पचास वर्षों के बाद किसी का नाम तक लोगों को याद नहीं रहता।"

कहानी के क्षेत्र में कम लिखकर ज्यादा नाम कमाने वालों में एक गुलेरी जी भी थे। कहा जाता है, उन्होंने केवल तीन कहानियां लिखी थीं, जिनमें 'उसने कहा था' शीर्षक कहानी प्रमुख है, जिसे अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त है। मेरे देखने में उनकी केवल यही कहानी आई है। मैंने उसे कई बार पढ़ा। जब पढ़ता हूं, नई जान पड़ती है।

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति, तदैव रूपं रमणीयतायाः —माघ

रमणीयता की इस कसौटी पर गुलेरी जी की यह कहानी खरी उतरती है।

कहानी के आरंभ में वह अमृतसर के व्यस्त बाजार का ऐसा शब्द-चित्र खड़ा करते हैं कि वह सजीव हो उठता है। इसी बाजार में संयोगवश १२ वर्ष के एक लड़के की भेंट एक लड़की से होती है। लड़का सहज भाव से आकृष्ट होकर लड़की से पूछ बैठता है—"तेरी कुड़माई (सगाई) हो गई न ?" लड़की 'धत्' कहकर चली जाती है। यह रोज-रोज की बात हो गई। यह कोरी जिज्ञासा थी या उसमें कोई और बात छिपी थी ? एक दिन लड़की ने कहा, "हां, हो गई।" तब लड़के का जो हाल हुआ उससे बात उजागर हो गई। बिना कुछ कहे ही तथ्य का आभास, यही तो कला है।

हजारासिंह सूबेदार की पत्नी बन जाने पर उस लड़की के प्रति लड़के (लहनासिंह, जमादार) का वह भाव नहीं रहा। वह उसे माथा टेकता है। सूबेदारिनी युद्धभूमि को जाते हुए अपने पति और पुत्र (हजारासिंह और बोधासिंह) की रक्षा का भार लहनासिंह को सौंपती है। लहनासिंह युद्धभूमि में अपने प्राण देकर भी उनकी रक्षा करता है। यह आत्मोत्सर्ग इसीलिए कि—उसने कहा था।

लहनासिंह के पूर्वापर के भावों का जरा विश्लेषण तो कीजिए, कितना अंतर ! प्रेम की कैसी उच्च परिणति है। प्रेम की पयोधि में वासना का ऐसा विलय कि उसका अता-पता तक नहीं चलता। वहां वासना ही कहां थी, वह तो एक स्वर्गीय प्रेम था।

वैषयिक प्रेम का चित्रण करने वाले कहानीकार, कलाकार भूलते हैं कि सच्ची कहानी या कला मानसिक विलास के स्वर से सर्वथा मुक्त होती है।

इस कहानी का रचनाकाल प्रथम विश्व-युद्ध के आसपास है। तब मेरी छात्रावस्था थी। लड़ाई यूरोप की भूमि में लड़ी जा रही थी। पर यहां भारत में पल-पल युद्ध-वार्ता की प्रतीक्षा रहा करती थी। भारतीय सैनिक हजारों की संख्या में फ्रांस और बेल्जियम की भूमि पर लड़ रहे थे। हम लोग नक्शा निकालकर युद्धस्थलों का पता लगाते थे। समाचारपत्र लड़ाई की खबरों से भरे रहते थे। विद्वद्वर श्री काशीप्रसाद जायसवाल के संपादकत्व में निकलने वाले 'पाटलिपुत्र' साप्ताहिक में हमारे स्व० पूज्याग्रज की 'रण निमंत्रण' नामक कविता की धूम मची हुई थी।

श्री गुलेरी जी की इस कहानी में युद्धभूमि और युद्ध-प्रसंग का जैसा विराट वर्णन पाया जाता है, जान पड़ता है लेखक प्रत्यक्षदर्शी हो। यह गुलेरी जी की लेखन-कला का चमत्कार है।

गुलेरी जी की कहानी-कला—१

□ डॉ० नगेन्द्र

हमारे एक साहित्यिक मित्र ने जीवन के कुछ सिद्धांत स्थिर कर रक्खे हैं। उनमें से एक यह भी है कि अध्ययन का मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अतएव वह व्यक्तित्व के मूल्यांकन में विद्वत्ता को प्राय: अवगुण ही मानते हैं। उनका कहना है—और बात काफी हद तक ठीक भी है—कि विद्वत्ता के अनुपात से ही व्यक्ति की प्राणवत्ता में कमी होती जाती है। विद्वान् व्यक्ति प्राय: प्राणवान् नहीं रह पाता, उसके दृष्टिकोण में जीवन की ताजगी न रहकर पुस्तक-ज्ञान का बोझीलापन आ जाता है।

गुलेरी जी इस सिद्धांत के अपवाद हैं। उच्च कोटि की विद्वत्ता के साथ ही उतनी ही प्राणवत्ता भी उनके व्यक्तित्व में पायी जाती है। वह अपने युग में शुद्ध प्रथम श्रेणी के विद्वान् थे। पुरातत्त्व, इतिहास, दर्शन, ज्योतिष, साहित्य, भाषा-विज्ञान—सभी में उनकी अबाध गति थी। संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं और हिंदी, बंगला, मराठी, अंगरेजी आदि आधुनिक भाषाओं पर उनका समान अधिकार था। लैटिन, जर्मन और फ्रेंच का भी उन्हें ज्ञान था। परंतु अपने इस असाधारण पांडित्य को उन्होंने सदैव जीवन का साधन ही माना, साध्य नहीं बनने दिया। उनकी जीवन-चेतना इतनी प्रबल थी कि पांडित्य उसको पुष्ट तो कर सका पर दबा नहीं सका।

गुलेरी जी का संक्षिप्त जीवन सभी प्रकार से सफल ही कहा जा सकता है। वह पुत्र, वित्त और लोक—तीनों ओर से सुखी थे। विद्यार्थी-जीवन में उन्हें स्पृहणीय सफलता मिली थी। हाई स्कूल और बी० ए० में वह सर्वप्रथम रहे थे। यौवन-काल में भी सफलता उनके चरण चूमती रही। पहले वह जयपुर राज्य के सभी सामंत-पुत्रों के अभिभावक रहे। बाद में, उन्होंने बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी में 'कॉलेज ऑव ओरियंटल लर्निंग ऐंड थियोलोजी' के प्रिंसिपल पद को सुशोभित किया। लोक-जीवन में भी उनको अक्षय गौरव प्राप्त हुआ था। काशी 'नागरी

प्रचारिणी' का सभापतित्व, 'देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला' एवं 'सूर्यकुमारी पुस्तकमाला' का संपादन, अनेक लेखों का स्वदेशी-विदेशी विद्वानों द्वारा अभिनंदन— ये सब उनके गौरव की स्वीकृति के विभिन्न रूप थे। परंतु गौरव दीर्घजीवी नहीं होता ! उन्तालीस वर्ष की अल्पायु में ही समस्त दिशाओं को उद्भासित कर यह प्रकाश-पुंज भी तिरोहित हो गया और विद्वान् लोग यह अनुमान लगाते ही रह गए कि अगर कुछ और समय मिलता तो शायद वह हिंदी जगत् को समग्रत: आच्छादित कर लेता।

गुलेरी जी ने हिंदी साहित्य के अनेक विभागों को समृद्ध किया। भाषातत्त्व और पुरातत्त्व पर उनका पर्याप्त साहित्य विद्यमान है। पुरानी हिंदी और शैशुनाक-मूर्तियों पर लिखे हुए उनके लेख आज भी अत्यंत प्रसिद्ध हैं। परंतु मैं उनके इस साहित्यांग को स्पर्श नहीं करूंगा, क्योंकि मैं उसकी मीमांसा करने का अधिकारी नहीं हूं। मैं तो केवल उनके सृजनात्मक साहित्य, उनकी कहानियों की ही, विवेचना करता हुआ यह दिखाने का प्रयत्न करूंगा कि किस प्रकार उनकी सृजन-प्रतिभा अविकसित ही रह गई और कलाकार के रूप में वह अपना प्राप्य न पा सके।

गुलेरी जी की कहानियां

अभी एक-आध वर्ष पहले तक सबका यही खयाल था कि गुलेरी जी केवल एक ही कहानी 'उसने कहा था' लिखकर अमर हो गए। विद्वानों ने इस बात को पूरे विश्वास के साथ लिखित रूप में भी स्वीकृत कर लिया था। परंतु कुछ दिन हुए गुलेरी जी की दो और कहानियां सामने आईं – 'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का कांटा'—और आलोचक की यह उलझन कि गुलेरी जी ने एकसाथ ही ऐसी 'ए वन्' कहानी कैसे लिख डाली, कुछ-कुछ सुलझी। इस दशा में उन्होंने तीन पग रखे। पहला था 'सुखमय जीवन', दूसरा 'बुद्धू का कांटा' और तीसरा 'उसने कहा था'। संभव है, उन्होंने कुछ और भी प्रयत्न किए हों जो आज उपलब्ध नहीं।

दृष्टिकोण

जीवन के प्रति गुलेरी जी का दृष्टिकोण, जैसा मैंने आरंभ में कहा है, सर्वथा स्वस्थ है। उनके साहित्य का आधार छायानुभूतियां नहीं हैं, जीवन की मांसल अनुभूतियां ही हैं। निदान उनमें मानसिक ग्रंथियों का सर्वथा अभाव मिलता है। जीवन में नीति और सदाचार को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हुए भी वह सेक्स के नाम पर बिदकने वाले आदमियों में से नहीं थे। जहां-कहीं भी प्रसंग आया है उन्होंने मुक्त भाव से, बिना झिझके उसकी स्पष्ट व्यंजना की है—यहां तक कि

'उसने कहा था' कहानी में उद्धृत पंजावी के उस गाने में 'कर लेणा नाड़े दा सौदा अड़िए' के स्थान पर भी उन्होंने शरमाकर चिह्न-बिंदु नहीं लगाए, साफ ही पंक्ति को उद्धृत कर दिया है। यह उनके मन के स्वास्थ्य का असंदिग्ध प्रमाण है। एक स्थान पर उन्होंने स्वयं ही इस सत्य का उद्‌घाटन किया है : "जो कोने में बैठकर उपन्यास पढ़ा करते हैं उनकी अपेक्षा खुले मैदान में खेलने वालों के विचार अधिक पवित्र होते हैं।" गुलेरी जी प्रकृति के इन सच्चे चित्रों को ही देखते थे, उपन्यासों की मृगतृष्णा में चमत्कार नहीं ढूंढ़ते थे।

गुलेरी जी की कहानियों में स्पष्ट ही शास्त्र के बंधे हुए वातावरण से प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण की ओर जाने की प्रवृत्ति है। उनके जीवन-मान, संवाद प्राकृतिक हैं। कृत्रिम मान—चाहे उन पर सभ्यता और नागरिक शिष्टाचार का कितना ही मुलम्मा चढ़ा हो, उन्हें सह्य नहीं थे। दृष्टिकोण का यह स्वास्थ्य रस, विवेक और विचार—तीनों तत्त्वों के उचित सम्मिश्रण का फल था। उसमें अंतरभिमुखता और वहिर्मुखता का वांछित संयोग था। जीवन में रस का उन्होंने सम्यक् उपभोग किया परंतु अपने जागृत विवेक के कारण उसमें वहे नहीं। इससे अनुभूति में स्थिरता आई। उधर, विचार ने उसको गंभीरता और परिपक्वता प्रदान की। जीवन-तत्त्वों का यही सम्यक् संतुलन उनके जीवन और साहित्य की सफलता का कारण था।

सामाजिक चेतना

ऐसे व्यक्ति की सामाजिक चेतना स्वभावतः ही बलवती होनी चाहिए और वास्तव में हिंदी कहानी के उस प्रसवकाल में इस प्रकार की सामाजिक चेतना होना आश्चर्य की वात है। उन्होंने दृष्टि को अपने मन के राग-द्वेषों पर ही न गड़ाकर बाहर जीवन की धूप में विचरने दिया और समाज की सामयिक समस्याओं के प्रति जागरूक रहे। उदाहरण के लिए, पर्दे की अस्वस्थ प्रथा, उस समय बढ़ती हुई सभ्यता की दांभिक चेतना, विवाह से संबद्ध दहेज-मुहूर्त आदि की प्रथाओं पर वह बीच-बीच में छींटे छोड़ते हुए चले हैं।

इसके साथ ही कुछ अन्य सामयिक प्रश्नों पर भी, जैसे हिंदी में ग्रहण किए गए संस्कृत के तत्सम शब्दों के उच्चारण पर भी, उन्होंने मौका देखकर फ़िकरा कस दिया है। संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् होते हुए भी गुलेरी जी यह मानते थे कि संस्कृत तत्सम शब्दों का उच्चारण हिंदी व्याकरण के नियमों के अनुकूल ही होना चाहिए। आज से तीस वर्ष पूर्व एक संस्कृत के पंडित की इस प्रकार की धारणाएं कितनी प्रगतिशील थीं यह देखकर उनके व्यक्तित्व की शक्ति का पता चलता है। इस दृष्टि से यह व्यक्ति अपने समय से कितना आगे था !

हास्य

ऐसे खुले हुए स्वभाव के व्यक्ति में निश्चय ही हास्य की अत्यंत प्रखर भावना होगी। गुलेरी जी के हृदय में कुढ़न का विष नहीं था, संतोष का अमृत था; इसीलिए उनके हास्य में भी कुढ़न का विष नहीं, संतोष का अमृत है। उन्होंने स्वस्थ दृष्टि से अपने चारों ओर बहुत गौर से देखा। जीवन और जगत् में सर्वत्र उन्हें ऐसी विचित्रता दिखाई पड़ी जिससे स्वभावत: ही उनके हृदय में गुदगुदी पैदा हो जाती थी। वास्तव में, उनका हास्य एक ऐसे व्यक्ति का हास्य है जिसके हृदय में जीवन के प्रत्येक सुख से सहानुभूति है, जो विकृतियों में भी अद्‌भुत वैचित्र्य और आकर्षण पाता है, जिसके हृदय में, किसी प्रकार का दंभ या मैल नहीं है और जो खुलकर हँसता है। एक उदाहरण लीजिए—अमृतसर के इक्के-तांगे वालों की बोलियों की तारीफ करते हुए आप फर्माते हैं—"क्या मजाल है कि जी और साहब बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती नहीं; चलती है पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा, जीणे जोगिए, हट जा करमाँ वालिए; हट जा पुत्तां प्यारिए; बच जा लम्बी वालिए। समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है ? बच जा।"

दूसरी बात जो गुलेरी जी के हास्य के विषय में जानने योग्य है, यह है कि वह हास्य की सृष्टि नहीं करते, उद्‌बुद्धि-मात्र करते हैं उनका, हास्य साध्य नहीं, साधन है। वह केवल हास्य के लिए परिस्थिति का सृजन नहीं करेंगे वरन् उपस्थित परिस्थिति में ही हास्य की तरंग पैदा कर देंगे। कहीं-कहीं तो गंभीर परिस्थिति को भी वह हँसी से गुदगुदा देते हैं। 'सुखमय जीवन' के अंत में परिस्थिति में काफी खिचाव आ गया है परंतु ज्योंही उत्तेजना शांत होती है और परिस्थिति में लोच आता है, गुलेरी जी फौरन ही उसे गुदगुदा देते हैं। बेचारे वृद्ध गुलाबराय वर्मा की आंखों में आंसू तो वास्तव में मानसिक स्तब्धता का अंत हो जाने के कारण—दूसरे शब्दों में, क्रोध के सहसा आनंद में परिणत हो जाने के कारण—आते हैं, परंतु प्रश्न यह उठता है कि "वृद्ध की आंखों पर कमला की माता की विजय होने के क्षोभ के आंसू थे, या घर बैठे पुत्री को योग्य पात्र मिलने के हर्ष के आंसू, राम जाने !" अच्छा, और यह संदेह होता है उस व्यक्ति को जो स्वयं ऐसी ही मानसिक स्थिति में होकर गुजर चुका है ! इस प्रकार गुलेरी जी के पात्र कभी-कभी अपने पर भी हँस लेते हैं।

गुलेरी जी अधिकतर अपने पात्रों पर नहीं हँसते—उनके साथ हँसते हैं। इसलिए उनके हास्य में विनोद की मात्रा अधिक रहती है। इनकी कहानियां

विनोद की फुलझड़ियां छोड़ती हुई रस-दिशा में बढ़ती हैं। विनोद के अतिरिक्त वाक्-चापल्य और वाक्-चातुर्य का भी सम्यक् उपयोग उनमें मिलता है। लहनासिंह और नकली लेफ्टिनेंट साहब की बातचीत उसका सुंदर उदाहरण है। व्यंग्य का प्रयोग उन्होंने अपेक्षाकृत कम किया है। जहां है वहां अत्यंत महीन और मधुर है। किसी गंभीर नैतिक उद्देश्य से प्रेरित होकर सुधार करने के लिए वह किसी को हास्य द्वारा प्रताड़ित नहीं करते।

रस

इन सब गुणों के होते हुए भी गुलेरी जी की कहानियों का प्रमुख आकर्षण तो रस ही है। यह रस उथली रसिकता या मानसिक विलासिता का तरल द्रव नहीं है, जीवन के गंभीर और स्वस्थ उपभोग में खींचा हुआ गाढ़ा रस है। उसमें एक बलिष्ठ व्यक्तित्व का वजन है। 'बुद्धू का कांटा' की परिणति में काफी रस है। 'उसने कहा था' कहानी का आरंभ चंचल-मधुर है। पर अंत में तो जैसे सारी ही कहानी रस में डूब जाती है। शैशव की उस मीठी घटना से माधुर्य और लहनासिंह के पुरुषार्थी व्यक्तित्व से शक्ति प्राप्त कर अंत में उसके बलिदान की करुणा कितनी गंभीर हो जाती है। आप देखें कि रति, हास, ओज और कारुण्य—इनके मिश्रण से रस का जो परिपाक होता है वह अत्यंत ही प्रगाढ़ और पुष्ट है, और यह रस-सिंचन घटनाओं और परिस्थितियों में ही नहीं है, वर्णनों में भी स्थान-स्थान पर इसकी रसीली मुस्कराहट मिलती है। उदाहरण के लिए—

(१) "आंखों के डेले काले, कोए सफेद नहीं कुछ मटियानी और पिघले हुए। जान पड़ता था कि अभी पिघलकर वह जाएंगे। आंखों के चौतरंग हंसी, ओठों पर हँसी और सारे शरीर पर नीरोग स्वास्थ्य की हँसी।"

(२) "पहाड़ी जमीन, जहां रास्ता देखने में कोस-भर जंचे और चाहे उसमें दस मील का चक्कर काट लो। बिना पानी सींचे हुए हरे मखमल के गलीचे से ढंकी हुई जमीन, उस पर जंगली गुलदाऊदी की पीली टिमकियां और वसंत के फूल, आलूबुखारे और पहाड़ी करौंदे की रज से भरे हुए छोटे-छोटे रंगीले फूल जो पेड़ का पत्ता भी न दिखने दें; क्षितिज पर लटके हुए बादलों की-सी बरफीले पहाड़ों की चोटियां जिन्हें देखते आंखें अपने-आप बड़ी हो जातीं और जिनकी हवा की सांस लेने से छाती बढ़ती हुई जान पड़ती; नदी से निकाली हुई छोटी-छोटी असंख्य नहरें जो सांप के-से चक्कर खा-खाकर फिर प्रधान नदी की पथरीली तलेटी में जा मिलतीं।"

भाषा

सबसे अधिक आश्चर्यजनक है गुलेरी जी की भाषा। ऐसी प्रौढ़ भाषा उस समय तो कोई लिख ही क्या सकता था, गद्य के समुन्नत युग में भी कोई लिख

सका है, इसमें मुझे संदेह है ! प्रेमचंद की भाषा में इतनी प्रौढ़ि और शक्ति कहां है; और शुक्ल जी की भाषा में जीवन की इतनी स्फूर्ति और यथार्थता कहां है ?

आज से तीस-पैंतीस वर्ष पूर्व जब हिंदी का गद्य व्याकरण की पुस्तकों से बाहर आते ही लड़खड़ाने लगता था, गुलेरी जी को भाषा की लाक्षणिक और व्यंजनात्मक शक्तियों पर कितना व्यापक अधिकार था ! उनकी भाषा में जीवन-गत विभिन्न परिस्थितियों को—विभिन्न पात्रों की विभिन्न मनोदशाओं को—व्यक्त करने की अद्‌भुत क्षमता थी। और उन्होंने सदैव भाषा के वास्तविक रूप को बनाए रखा है, इसलिए उसका माधुर्य, ओज और प्रसाद स्वाभाविक ही है। उन्होंने कहीं भी न तो माधुर्य लाने के लिए शब्दों की हड्डियां तोड़कर उन्हें मुलायम बनाने की कोशिश की है और न ओज के लिए तीलियां बांधकर ही उनको कड़ा और खड़ा करने की कोशिश की है।

गुलेरी जी के जीवन की सफलता का यही रहस्य था कि उन्होंने अपने पांडित्य की गंभीरता को जीवन के उपभोग में अत्यंत सतर्कता से प्रयुक्त किया। इसीलिए उनके व्यक्तित्व में स्फूर्ति और गंभीरता का अद्‌भुत योग था ! ठीक यही रहस्य उनकी भाषा की समर्थता का भी है—यहां भी उन्होंने अपनी व्यापक शब्द-शक्ति और भाषागत पांडित्य का उपयोग जीवनगत भाषा गढ़ने में किया। प्राणवान् व्यक्ति का पांडित्य जिस प्रकार जीवनगत अनुभव से शक्ति और उसका जीवनगत अनुभव पांडित्य से समृद्धि पाता रहता है इसी प्रकार साहित्य की भाषा जीवन की भाषा से शक्ति और जीवन की भाषा साहित्य की भाषा से समृद्धि पाती रहती है। और किसी व्यक्ति के लिए ये दो स्रोत जितने ही अधिक खुले होंगे उतनी ही समृद्ध और सशक्त उसकी भाषा होगी। गुलेरी जी को यह सुविधा भरपूर प्राप्त थी।

गुलेरी जी के बाद इस विषय का उनसे गुरुतर उदाहरण हमारे पास राहुल का है। परंतु राहुल में एक दोष है—उनमें ह्यूमर नहीं। इसीलिए उनकी भाषा में समृद्धि और शक्ति अधिक होते हुए भी स्फूर्ति और फड़क उतनी नहीं है जितनी कि गुलेरी जी की भाषा में।

टेकनीक

गुलेरी जी के उपर्युक्त गुणों का अब तक जो उल्लेख किया गया है, उससे आप यह मत समझिए कि उनकी सभी कहानियां सर्वथा पूर्ण और निर्दोष हैं। यह बात बिल्कुल नहीं है। उनकी अंतिम कहानी 'उसने कहा था' तो अवश्य हिंदी की सर्व-श्रेष्ठ कहानियों में से है, परंतु पहली दोनों कहानियों में बहुत-कुछ कच्चापन है। 'सुखमय जीवन' में तो वास्तव में कहानी अच्छी तरह बन भी नहीं पाई। उसकी चरम घटना में विस्मय का अत्यंत अस्वाभाविक और अतिरंजित प्रयोग है।

'बुद्धू का कांटा' इससे कहीं अधिक सफल कहानी है, परंतु उसमें भी अतिरंजना और अप्रासंगिकता है। इसकी नायिका—(शायद यह पारिभाषिक और कृत्रिम नागरिक विशेषण उसके लिए गुलेरी जी स्वीकार न करते)—कुछ अधिक वाग्वीर और पहलवान है। इसके अतिरिक्त उस पहाड़ी टट्टू वाले की सारी कहानी ही ही अप्रासंगिक हैं।

परंतु जैसा कि मैंने आरंभ में कहा है, ये दोनों कहानियां दो पहली मंजिलें हैं। 'सुखमय जीवन' में गुलेरी जी की कहानी-कला का शैशव है, 'बुद्धू का कांटा' में किशोरावस्था और 'उसने कहा था' में आकर वह पूर्ण योषिता हो गई है। चूंकि वह समय से पूर्व ही पूर्णत्व को प्राप्त हो गई थी इसीलिए शायद उसकी अकाल-मृत्यु हो गई। बहुत होनहार बालक अधिक दिन जीवित नहीं रहते।



गुलेरी जी की कहानी-कला--२

☐ डॉ० लक्ष्मी नारायाण लाल

गुलेरी जी का कहानी-साहित्य केवल तीन कहानियों—'सुखमय जीवन,' 'बुद्धू का कांटा' और 'उसने कहा था' से निर्मित है। संभव है, उन्होंने और भी कहानियां लिखी हों, लेकिन ये कभी हिंदी जगत् के सामने नहीं आ सकीं, बस केवल यही तीन कहानियां अपनी कलात्मक श्रेष्ठता के कारण गुलेरी जी को विकास-युग का प्रथम चरण सिद्ध कर गईं। इन कहानियों में विकास की दृष्टि से 'सुखमय जीवन' उनकी कला का प्रारंभिक रूप है। 'बुद्धू का कांटा' और 'उसने कहा था' क्रमशः उनकी कला के विकास और चरम उत्कर्ष की प्रतीक हैं।

कथानक

ये तीनों सामाजिक कहानियां हैं, लेकिन समस्त सामाजिक मान्यताओं और प्रश्नों के बीच इन कहानियों की संवेदनाएं मुख्यतः प्रेम और कर्तव्य को लेकर आई हैं। 'सुखमय जीवन' में इसका रूप अपरिपक्व है, फलतः इसके इतिवृत्त की सृष्टि रूप के आकर्षण और रोमांस के माध्यम से हुई है, जिसमें प्रेम केवल अपने बाह्य रूप में ही चित्रित हो सका है और कर्तव्य का जन्ममात्र होकर रह गया है। 'बुद्धू का कांटा' के कथानक में प्रेम अपने अव्यक्त और असाधारण ढंग से पलता है। प्रेम तथा स्त्री-संपर्क की दिशा में नायक में हीनग्रंथि है फलतः नायिका को अग्रगण्यता लेनी पड़ती है। यही कारण है कि इस कहानी में पहले कर्तव्य आता है, फिर प्रेम। 'उसने कहा था' की संवेदना प्रेम और कर्तव्य का उज्ज्वलतम और अनन्य प्रतीक है। इसके कथानक का आरंभ सहज आकर्षण और कर्तव्य से होता है। आकर्षण धीरे-धीरे पवित्र प्रेम में परिणत हो जाता है तथा दोनों ओर से भावों की दुनिया में खो जाता है। कालांतर में संयोगवश इसका उदय फिर एक बार होता है, लेकिन वहां वह केवल विशुद्ध कर्तव्य बन जाता है तथा इसकी चरम परिणति त्याग-उत्सर्ग के संधिबिंदु पर होती है।

निर्माण की दृष्टि से इन तीनों कहानियों के कथानकों का निर्माण घटनाओं और संयोगों से होता है। मुख्यतः इनका प्रारंभ संयोगों से हुआ है। विकास संयोगों और कार्यों से हुआ है तथा अंत के निर्माण में फिर घटना और संयोग का सहारा लिया गया है। उदाहरणार्थ—'सुखमय जीवन' के कथानक का आरंभ साइकिल की हवा निकल जाने के संयोग से होता है। इसके विकास में कई और संयोगों का सहारा लिया गया है। रास्ते में जयदेवशरण वर्मा की भेंट एकाएक एक युवती कमला से होती है, जो उसके लिखे हुए ग्रंथ 'सुखमय जीवन' की अनन्य-पुजारिन थी। वह उन्हें अपने घर लाती है। उसके चाचा भी उनकी बहुत श्रद्धा करते हैं। जयदेवशरण वर्मा और कमला में सहज आकर्षण पैदा होता है। कमला को बगीचे में अकेली पाकर वर्मा जी उससे प्रणय-प्रस्ताव करते हैं और सारी परिस्थितियां प्रतिकूल हो जाती हैं। कमला क्रोधपूर्वक इनकी उपेक्षा करती है। यह उसके चाचा से भी तिरस्कृत होते हैं और अंत में झगड़े के बीच, संयोगवश जयदेवशरण वर्मा के मुख से निकल जाता है—"भाड़ में जाय 'सुखमय जीवन'! उसी के मारे नाकों दम है!! 'सुखमय जीवन' के कर्ता ने क्या यह शपथ खा ली है कि जनम-भर क्वांरा ही रहे? क्या उसके प्रेमभाव नहीं हो सकता? क्या उसमें हृदय नहीं होता?"[1]

यहां क्वांरा स्थिति के संयोग से सारी प्रतिकूल परिस्थितियां अनुकूल हो जाती हैं और जयदेवशरण वर्मा तथा कमला का मंगलमय संयोग होता है।

'उसने कहा था' के कथानक-निर्माण में ये सत्य पूर्ण कलात्मक ढंग से चरितार्थ हुए हैं। कथानक का आरंभ बम्बूकार्ट वालों के बीच में एक लड़के और लड़की के संयोगवश मिल जाने से होता है। लड़का अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और लड़की रसोई के लिए बड़ियां। दोनों इस तरह महीने भर कभी-कभी मिलते रहते हैं। दोनों में सहज प्रेम और अनुराग पैदा होता है तथा इसकी पुष्टि केवल इन वाक्यों से हो जाती है कि "दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा—'तेरी कुड़माई हो गई?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तब लड़के की संभावना के विरुद्ध बोली—'हां, हो गई। · कल; देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू! लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली।"[2]

फिर कथानक का विकास इस संयोग के पच्चीस वर्ष के बाद होता है। लड़का— लहनासिंह नं० ७७ सिख राइफल्स-जमादार होकर अंगरेजों की ओर से फ्रांस के युद्धस्थल में मोर्चे की खाइयों में पड़ा हुआ है। पिछली बार वह अपने

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां : संपा० शक्तिधर गुलेरी, पृ० २६
२. वही, पृ० ६२

एक मुकदमे के सिलसिले में भारत आया था और लौटते समय अपनी फौज के सूबेदार के घर गया था। वहां संयोगवश उसकी उसी लड़की से भेंट होती है जो उसकी आदिप्रेयसी थी लेकिन उस समय सूबेदारनी थी। इस दर्शन से प्रेम कर्तव्य में परिणत हो जाता है। सूबेदारनी ने लहनासिंह से कहा—"अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक तांगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाए थे। आप घोड़े की लातों में चले गए थे और मुझे उठाकर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों (पति-पुत्र) को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे आंचल पसारती हूं।"[१] लेकिन कथानक के विकास-अंग की सबसे बड़ी कलात्मकता इसमें है कि यह विकास-अंग लहनासिंह के उस स्मृतिचित्र के माध्यम से संजोया गया है, जब लहना अपने कर्तव्य की बलिवेदी पर सूबेदारनी के पति-पुत्र की रक्षा और वीरता में मोर्चे पर घायल होकर मरणासन्न है।

कथानक के इस चरम विकास में स्मृति-दृश्यों के माध्यम से इस पूर्व विकास को इतनी कलात्मकता से संजोना, उस समय गुलेरी जी की कहानी-कला का चरमोत्कर्ष है। इसके आगे प्रेमचंद और प्रसाद के कहानी-साहित्य में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिल पाता। कथानक का चरम विकास विविध घटनाओं से होता है; जैसे—बोधा का घायल होकर मोर्चे पर पड़ा रहना तथा उसके प्रति लहना का असीम प्यार और त्याग, लपटन साहब की मृत्यु और उनके वेश में दुश्मन का लपटन बनकर आना, लहनासिंह को रहस्य का ज्ञान होना, दुश्मनों का नया आक्रमण, लहनासिंह के सीने में गोली लगना, लेकिन फिर भी सबको विदा करके स्वयं मोर्चे पर पीड़ा से विक्षिप्त हो जाना। इस दिशा में कथानक का आरंभ, पूर्व विकास तथा जीवन से संबंधित समस्त स्मृति-चित्रों का सिमट जाना तथा कथानक का अंत उसकी मृत्यु की घटना से हो जाता है। गुलेरी जी ने कथानक-निर्माण में संयोग और घटनाओं के अतिरिक्त जीवन तथा कर्मक्षेत्र का साधारण, वैयक्तिक तथा व्यापक रूप लिया है। 'सुखमय जीवन' का कथानक एक परिवार तथा मुख्यत: एक व्यक्ति की एक दिन की जीवन-विवेचना है। 'बुद्धू का कांटा' का कथानक रघुनाथ और भागवंती के जीवन के प्रणय-पक्ष की अनेक दिनों की विवेचना है। 'उसने कहा था' में दो व्यक्तियों के प्रेम-कर्तव्य का क्षेत्र इतने विशाल और व्यापक ढंग से लिया गया है कि इसमें एक ओर जीवन के पच्चीस वर्ष चित्रित हैं, तो दूसरी ओर भारत से फ्रांस की भूमि तक इसका चित्र-पृष्ठ (कैनवेस) फैला हुआ है, अतएव तीनों कहानियों के कथानक इतिवृत्तात्मक और लंबे भी हो गए हैं लेकिन फिर भी इसमें वर्णनात्मकता का

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां, पृ० ७६

सहारा कम लिया गया है, वरन् विविध भाव-चित्रों और चिंतन-शैली को इसमें स्थान मिला है।

चरित्र

गुलेरी जी के चरित्र मानवीय और यथार्थ हैं। इनकी अवतारणा व्यक्ति, समाज और उसकी मान्यताओं के धरातल पर हुई है। 'सुखमय जीवन' के जयदेवशरण वर्मा तथा 'बुद्धू का कांटा' के रघुनाथ, इन दोनों पुरुष-चरित्रों से मानवीय पक्ष इतने सहज रूप में आया है कि ये दोनों चरित्र पूर्ण वैयक्तिक होते हुए भी पूर्ण सामाजिक हो गए हैं।

ये दोनों चरित्र अपनी सहज दुर्बलता के कारण हमारे आकर्षण के पात्र हो गए हैं। जयदेवशरण में कमला के प्रति आकर्षण और उसके प्रेम-प्रस्ताव में जयदेवशरण का व्यवहार उच्छृंखलता तक पहुंच गया है, फलतः इसमें कुछ अस्वाभाविकता भी आ गई है। दूसरी ओर, इनमें चरित्र की वह गंभीरता भी नहीं रह गई है जो 'बुद्धू का कांटा' के रघुनाथ में है। कमला का भी चरित्र बहुत दब गया है तथा इसमें और भी अस्वाभाविकता आ गई है, क्योंकि जो तरुणी जयदेवशरण को जीवन की प्रथम भेंट में अनन्य श्रद्धा और प्रशंसा देती है, स्वयं उसे अपने घर लाती है, वह कैसे जयदेव के प्रणय-प्रस्ताव की इतनी निर्ममता से उपेक्षा करती है? 'बुद्धू का कांटा' का रघुनाथ और भागवंती दोनों चरित्रों की अवतारणा अपेक्षाकृत अधिक चारित्रिक गंभीरता और मानवीय धरातल से हुई है। यहां रघुनाथ एक ऐसा पुरुष-चरित्र है जो स्वभावतः स्त्रीवर्ग के सम्मुख अपने में हीनग्रंथि पाता है। ऐसा क्यों है? इसके लिए कहानी में चरित्र-चित्रण और विश्लेषण—दोनों की विधि रखी गई है। पिता की कठोर शिक्षा का प्रभाव बालकपन से ही स्वभाव पर ऐसा पड़ गया था कि दो वर्ष प्रयाग में स्वतत्र रहकर अपने चरित्र को केवल पुरुष-समाज में बैठकर पवित्र रखता है।—"जो कोने में बैठकर उपन्यास पढ़ा करते हैं, उनकी अपेक्षा खुले मैदान में खेलनेवालों के विचार अधिक पवित्र रहते हैं। इसीलिए फुटबाल और हॉकी के खिलाड़ी रघुनाथ को कभी स्त्री-विषयक कल्पना ही नहीं होती थी; वह मानवी सृष्टि में अपनी माता को छोड़कर और स्त्रियों के होने या न होने से अनभिज्ञ था।"[1] फलतः इस चरित्र में एक अजीब तरह की सौम्यता मिलती है, जिसमें यद्यपि स्त्रीवर्ग की ओर से हीनग्रथि अवश्य है, लेकिन फिर भी इसमें प्रेम-विषयक भोलापन और बचपन के अतिरिक्त स्नेह और करुणा की तीव्रता भी है। रघुनाथ झुंझलाकर भागवंती को उसकी नाक पर एक मुक्का

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां, पृ० ३८

जमाता है तथा रघुनाथ के दौड़ाने से भागवंती के पैर के तलवे में एक कांटा भी चुभ जाता है। वस्तुत: ये दोनों घटनाएं रघुनाथ के भोलेपन की एक सीमा के उदाहरण हैं लेकिन दूसरी सीमा पर वह जब उसकी नाक से लहू बहते देखता है, वह अपने को एकदम से भूलकर पश्चात्ताप और दु:ख के पाश में फंस जाता है। उसका मुंह पसीना-पसीना हो जाता है। उसे इतनी ग्लानि हुई कि वह इन लहू की बूंदों के साथ धरती में समा जाए।

दूसरी ओर, रघुनाथ ज्योंही भागवंती के पैर के तलवे में चुभे हुए कांटे को देखता है और उसे पता चलता है कि यह सब उसके ही कारण हुआ, वह फौरन वहीं भागवंती के सामने घुटने टेककर बैठ जाता है और उसके पैर को खींचकर, रूमाल से धूल झाड़ता हुआ कांटे को निकालने लगता है। भागवंती का भी चरित्र अत्यंत जीवनपूर्ण और मानवीय संवेदनाओं से अभिभूत है। 'सुखमय जीवन' की कमला को हम बहुत शीघ्र भूल सकते हैं, लेकिन 'बुद्धू का कांटा' की भागवंती को हम कभी नहीं भूल सकते, क्योंकि रघुनाथ के समान ही इसके चरित्र-विश्लेषण के साथ इसके व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा हुई है। मानवीय चरित्रों की अवतारणा तथा उनमें सहज व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा का सुंदरतम उदाहरण हमें 'उसने कहा था' में मिलता है। सूबेदारनी और लहनासिंह के माध्यम से जहां एक ओर सच्चे प्रेम और उत्सर्ग की भावना मिलती है, वहां इन दोनों आदर्श प्रतीकों में यथार्थ मानवीय भावनाओं का आदि से अंत तक एक सुंदरतम विकास देखने को मिलता है। लहनासिंह के चरित्र के मुख्यत: चार अध्याय हैं—पहला, उसके चरित्र का कुमारस्वरूप, जब वह बारह वर्ष का है, अमृतसर में मामा के यहां आया हुआ है, दहीवाले के यहां, सब्जीवाले के यहां हर कहीं उसे आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है—'तेरी कुड़माई हो गई?' तब वह 'धत्' कहकर भाग जाती है। इस पवित्रतम आकर्षण और प्रेम के साथ ही उसमें कर्तव्य का जन्म भी होता है। एक दिन तांगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दुकान के पास बिगड़ गया था, उस समय स्वयं घोड़े की लातों में जाकर लहना ने उसके प्राण बचाये थे। इसके चरित्र का दूसरा अध्याय उस समय निर्मित होता है जब एक दिन लहना ने उससे फिर पूछा—'तेरी कुड़माई हो गई' तब एक दिन उसने कह दिया—'हां, हो गई, देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू!' तीसरा अध्याय, उस समय आरंभ होता है, जब लहनासिंह पूर्ण युवक है; 'नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार, और पच्चीस वर्षों के बाद वह अकस्मात् अपनी आदिप्रेमिका को अपनी फौज के ही सूबेदार की धर्मपत्नी के रूप में देखता है। "मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूं। मेरे तो भाग फूट गए।...मेरे भाग...ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी

भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आंचल पसारती हूं।"[1]

लहनासिंह के चरित्र का चौथा और अंतिम अध्याय उस समय खुलता है जब वह फ्रांस में युद्ध-मोर्चे की खाई में पड़ा है। एक ओर, वह अपने आराम-सुख के उत्सर्ग पर घायल बोधा की सेवा-सुश्रूषा करता है और दूसरी ओर, अपूर्व चतुराई, बुद्धिमत्ता और वीरता के साथ दुश्मनों से लड़ता है। अंत में, सूबेदारनी की बात को पूर्ण करने में अर्थात् सूबेदार और बोधा की जीवन-रक्षा में वह अपने को उत्सर्ग कर देता है। वस्तुतः लहनासिंह के इस तरह के आदर्शमय महान चरित्र की अवतारणा तथा इसमें परम मानवीय व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के ही कारण यह कहानी हिंदी साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में गिनी जाती है। इसमें चरित्र-विकास, चरित्र-विश्लेषण तथा व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा तीनों पूर्ण कलात्मक ढंग से चरितार्थ हुए हैं।

शैली

शैली के व्यापक प्रकाश में, गुलेरी जी अपनी कहानियों की निर्माण-शैली में आदि, मध्य और अंत तीनों की योजनाओं में बहुत उदार हो गए हैं। तीनों कहानियों का आरंभ भूमिकाओं से होता है। ये भूमिकाएं वस्तुतः कहानी की संवेदना की पृष्ठभूमि के निर्माण के लिए लाई गई हैं। 'उसने कहा था' का आदिभाग अर्थात् आरंभ की भूमिका कहानी की पृष्ठभूमि के अतिरिक्त आरंभ ही से आकर्षण और जिज्ञासा प्रकट करने के लिए आई है तथा यह आदिभाग दोनों प्रकाश में प्रायः सफल ही हैं, लेकिन 'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का कांटा' इन दोनों कहानियों की भूमिकाएं कलात्मक दृष्टि से प्रायः असंगत और विस्तृत हो गई हैं। 'बुद्धू का कांटा' कहानी का आरंभ इस भूमिका से होता है—

"रघुनाथ प् प् प्रसाद त् त् त्रिवेदी —या रुग्नात् पर्शाद तिर्वेदी—यह क्या ?"

"क्या करें, दुविधा में जान है। एक ओर तो हिंदी का यह गौरवपूर्ण दावा है कि इसमें जैसा बोला जाता है वैसा लिखा जाता है और जैसा लिखा जाता है वैसा ही बोला जाता है। दूसरी ओर, हिंदी के कर्णधारों का अविगत शिष्टाचार है कि जैसे धर्मोपदेशक कहते हैं कि हमारे कहने पर चलो, हमारी करनी पर मत चलो, वैसे ही जैसे हिंदी के आचार्य लिखें वैसे लिखो, जैसे वे बोलें वैसे मत लिखो, शिष्टाचार भी कैसा ? हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति अपने व्याकरणकषायित कण्ठ से कहें 'पर्सोत्तमदास' और 'हर्किसन्लाल' और उनके

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां, पृ० ७६

पिट्ठू छापें ऐसी तरह कि पढ़ा जाय—'पुरुषोत्तम अ दास अ' और 'हरि कृष्णलाल अ' !"[१]

वस्तुतः उक्त भूमिका से कहानी की संवेदना का कोई संबंध नहीं है। कहानी की संवेदना एक हीन-ग्रंथिप्रधान युवक और एक युवती की कहानी है और यह भूमिका हिंदी में आने वाले संस्कृत के तत्सम शब्दों पर व्यंग्य के रूप में लिखी गई है। किसी तरह इस भूमिका का संबंध कहानी से नहीं है, लेकिन फिर भी इस कहानी का आरंभ इसी शैली में हुआ है। 'सुखमय जीवन' की भूमिका भी पूर्ण रूप से कहानी की संवेदना से संगति नहीं रखती। बस, नायक की मनःस्थिति की थोड़ी-सी भूमिका अवश्य कही जा सकती है। नायक परीक्षाफल के लिए बहुत उद्विग्न है, फलतः कहानी का आरंभ इसी भूमिका से हुआ कि परीक्षा के उपरांत परीक्षार्थी की क्या स्थिति होती है। 'उसने कहा था' की भूमिका सर्वथा कलात्मक और कहानी की संवेदना से तादात्म्य रखती है, उसमें शैली का आकर्षण है, कहानी में आरंभिक जिज्ञासा है। और इस कहानी में देश, काल तथा परिस्थिति का आंशिक चित्रण भी हो जाता है।

इन कहानियों का मध्यभाग कलात्मक दृष्टि से इनका विकास-भाग है। गुलेरी जी ने कथानक का विकास जहां मुख्यतः संयोगों से किया है, वहां संपूर्ण कहानी का विकास विविध कार्यों, मुख्यतः वर्णनों तथा विवेचनाओं के माध्यम से किया है। विकास-क्रम अथवा विकास के इन प्रसाधनों में जिज्ञासा और कौतूहल को बढ़ाते रहना, इनकी सबसे बड़ी सफलता है। 'सुखमय जीवन' में इस शैली को बहुत ही कम सफलता मिली है, शेष दोनों कहानियां इसकी सुंदरतम उदाहरण हैं। विकास-क्रम में एकसूत्रता की दृष्टि से, 'सुखमय जीवन' और 'उसने कहा था' परम सफल हैं। लेकिन 'बुद्धू का कांटा' में त्रुटि आ गई है। इसमें मोती के स्वामी इलाही की अवतारणा तथा उसका लंबा-सा प्रवचन—'बाछा, मेरे हाल में आपका क्या जी लगेगा ? गरीबों का क्या हाल ? रब रोटी देता है ?' से आरंभ होकर 'आप जैसे साईं लोगों की बंदगी करता हूं। रब का नाम बड़ा है'[२] तक कहानी से बिल्कुल अलग ही वस्तु है। इसका संबंध किसी तरह कहानी के विकास-भाग या विकास-क्रम से नहीं है। 'उसने कहा था' का विकास-भाग कहानी-कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। विविध वर्णनों और व्यवस्थाओं के बीच से कार्यों-घटनाओं की योजना तथा इन सबके ऊपर स्मृति-चित्रों के माध्यम से कहानी का पूर्ण विकास, आरंभ-भाग तथा व्यक्ति की

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां, पृ० २८
२. वही : पृ० ३३-३६

मन:स्थिति का सुंदर विश्लेषण आदि सब तत्त्वों को एक में अपूर्व कलात्मक ढंग से बांधा गया है ।

इन कहानियों की चरम सीमाएं संयोगात्मक और घटनात्मक होती हुई भी मानव-प्रकृति तथा मनोविज्ञान के प्रकाश में चरितार्थ हुई हैं। 'सुखमय जीवन' की चरमसीमा यद्यपि कुछ आदर्श बिंदुओं पर स्थित है, फिर भी इसमें मनोभावों की तीव्रता विद्यमान है—"उन्होंने मुसकराकर कमला से कहा, 'दोनों मेरे पीछें-पीछे चले आओ। कमला! तेरी मां ही सच कहती थी।' वृद्ध बंगले की ओर चलने लगे। उनकी पीठ फिरते ही कमला ने आंखें मूंदकर मेरे कंधे पर सिर रख दिया।"[1] 'बुद्धू का कांटा' की चरमसीमा में मनोभावों की यह तीव्रता और भी अधिक है—" घूंघट के भीतर, जहां आंखें होनी चाहिए, वहां कुछ गीलापन दिखा।

" 'देखो, मैं तुम्हारे प्रेम के बिना जी नहीं सकता। मेरा उस दिन का रूखापन और जंगलीपन भूल जाओ। तुम मेरी प्राण हो, मेरा कांटा निकाल दो।'

" रघुनाथ ने एक हाथ उसकी कमर में डालकर उसे अपनी ओर खींचना चाहा। मालूम पड़ा कि नदी के किनारे का क़िला, नींव के गल जाने से धीरे-धीरे धंस रहा है। भागवंती का बलवान शरीर निस्सार होकर रघुनाथ के कंधे पर झूल गया। कंधा आंसुओं में गीला हो गया।"[1]

" मेरा कसूर—मेरा गंवारपन—मैं उजड्ड—मेरा अपराध—मेरा पाप, मैंने क्या कह डा—डा—आ—घिग्घी बंध चली।

" उसका मुंह बंद करने का एक ही उपाय था। रघुनाथ ने वही किया।"[2]

कहानियों के अंतभाग में चरम सीमा के उपरांत उपसंहार बिल्कुल नहीं जोड़ा गया है, फलतः कहानियों के अंत में प्रभविष्णुता आ गई है। 'उसने कहा था' कहानी की अंतिम पंक्तियों में—" कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—

" फ्रांस और बेलजियम—६८वीं सूची—मैदान में घावों से मरा नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।"[3]—उपसंहार का किंचित् मात्र स्पर्श अवश्य आ गया है लेकिन कहानी की प्रभविष्णुता पर इसका बुरा प्रभाव नहीं पड़ता बल्कि कहानी की तीव्रता बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है।

शैली के सामान्य पक्ष में भाषा, वर्णन और कथोपकथन तीनों बहुत स्वाभाविक और कलात्मक ढंग से प्रयुक्त हुए हैं।

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां, पृ० २७
२. वही, पृ० ६०
३. वही, पृ० ७७

भाषा और वर्णन

इन कहानियों की भाषा अत्यंत स्वाभाविक और जीवनपूर्ण है, क्योंकि गुलेरी जी भाषा-शास्त्र के बहुत बड़े विद्वान थे तथा जर्मन-फ्रेंच के अतिरिक्त उन्हें भारत की प्रायः समस्त प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों का भी पूर्ण ज्ञान था। यही कारण है कि उनके वर्णनों में अपूर्व ढंग से स्वाभाविकता और प्रवाह दोनों तत्त्व आ गए हैं; जैसे अमृतसर में बम्बूकार्ट वाले भाग का वर्णन—"बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ी वालों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गए हैं उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्ट वालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट संबंध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आंखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अंगुलियों के पोरों को चींथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले, तंग, चक्करदार गलियों में, हर एक लड्ढीवाले के लिए ठहरकर, सब्र का समुद्र उमड़ाकर, 'बचो खालसा जी', 'हटो भाई जी', 'ठहरना माई', 'आने दो, लाला जी', 'हटो, बाछा' कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बतकों, गन्ने और खोमचे और भारेवालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि जी और साहब बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है पर मीठी छुरी की तरह मार करती हुई। यदि कोई बुढिया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा, जीणे जोगिए; हट जा, करमाँ वालिए; हट जा, पुत्तां प्यारिए; बच जा, लम्बी वालिए।"[1] तीनों कहानियों में सर्वत्र पात्र तथा परिस्थिति के अनुकूल भाषा का प्रयोग हुआ है और इस प्रयोग से वर्णनों में सर्वत्र जीवन आ गया है।

कथोपकथन

भाषा और वर्णनों के ही अनुरूप इन कहानियों में कथोपकथनों की भी सफल सृष्टि हुई है। भाषा की स्वाभाविकता तथा परिस्थिति के अनुकूल इसका प्रयोग इन दोनों प्रसंगों के सुंदर उदाहरण हमें गुलेरी जी के कथोपकथनों में मिलते हैं। जैसे 'उसने कहा था' में—

"लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा —'अपनी

१. गुलेरी जी की अमर कहानियाँ, पृ० ८१

बाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब-भर में नहीं मिलेगा।'

'हां, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमां जमीन यहां मांग लूंगा और फलों के बूटे लगाऊंगा।'

'लाड़ी होरां को भी यहां बुला लोगे? या वही दूध पिलानेवाली फरंगी मेम—'

'चुप कर। यहां वालों को शरम नहीं।'

'देस देस की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तमाकू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूं तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिए लड़ैगा नहीं।' "[1]

कथोपकथन के प्रायः समस्त रूप और शैलियां इन कहानियों में प्रयुक्त हैं अर्थात् कार्यों, व्यापारों के बीच के कार्यों, व्यापारों के संकेतों के साथ तथा बड़े-बड़े और अत्यंत छोटे-छोटे स्वाभाविक कथोपकथनों के यहां दर्शन होते हैं। इन समस्त रूपों और शैलियों में स्वाभाविकता ही इसकी प्रमुख विशेषता रही है। इसके अतिरिक्त इसमें सहज विनोद, व्यंग्य और जीवन के अन्य सहज तत्व मिलते हैं।

निम्नलिखित कथोपकथनों में इन तत्त्वों के स्पष्ट उदाहरण मिलेंगे—

"तुम्हारा नाम क्या है?"

"भागवंती।"

"रहती कहां हो?"

"मामी के पास। वही जिसने कुए पर पानी नहीं पिलाया था!"

उस दिन का स्मरण आते ही रघुनाथ फिर चुप हो गया। फिर कुछ ठहरकर बोला— "तुम मेरे पीछे क्यों पड़ी हो?"

"तुम्हें आदमी बनाने को। जो तुम्हें बुरा लगा हो, तो मैंने भी अपने किए का लहू बहाकर फल पा लिया। एक सलाह दे जाती हूं।"

"क्या!"

"कल से नदी में नहाने मत जाना।"

"क्यों?"

"गोते खाओगे तो कोई बचानेवाला नहीं मिलेगा।" रघुनाथ झेंपा, पर संभलकर बोला, "अब कोई मेरी जान बचायेगा तो मैं पीछा नहीं करूंगा, दो गाली भी सुन लूंगा।"

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां, पृ० ९७-९८

"इसलिए नहीं, मैं आज अपने बाप के यहां जाऊंगी।"
"तुम्हारा घर कहां है?"
"जहां अनाड़ियों के डूबने के लिए कोई नदी नहीं है।"[1]

लक्ष्य और अनुभूति

गुलेरी जी की तीनों कहानियां अनुभूति के धरातल से नहीं लिखी गई हैं बल्कि लक्ष्य के धरातल से लिखी गई हैं। इनकी सृष्टि तथा निर्माण में आदर्श लक्ष्य सबसे बड़ी प्रेरणा थी और अनुभूतियां इनमें साधनतत्त्व के रूप में आई हैं, प्रेरणातत्त्व में नहीं। इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए हमारे पास दो सबसे बड़े प्रमाण हैं। वस्तुतः कहानीकार का दृष्टिकोण अपनी इन कहानियों के निर्माण में लक्ष्यात्मक रहा है, फलतः समस्त कहानियां संयोग और घटना प्रधान हुई हैं। एक निश्चित आदर्श की प्रतिष्ठा के कारण ये कहानियां लम्बी और दो विरोधी शक्तियों के साथ निर्मित हुई हैं।

समीक्षा

ये कहानियां लक्ष्यात्मक होती हुई भी अनुभूतियों से ओतप्रोत हैं। व्यक्ति, समाज और वर्ग तीनों के सुंदरतम आदर्श इन कहानियों में मिलते हैं क्योंकि स्पष्टतः जीवन के प्रति गुलेरी जी का दृष्टिकोण सर्वथा स्वस्थ है। उनके साहित्य का आधार छायानुभूतियां नहीं हैं, जीवन की मांसल अनुभूतियां हैं। "जीवन में नीति और सदाचार को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हुए भी वह सेक्स के नाम पर बिदकने वाले आदमियों में से नहीं थे।"[2] वस्तुतः सामाजिक चेतना इन कहानियों का प्राण है। आदर्श प्रतिष्ठा तथा नीति-सदाचार जीवन के ऊंचे मान को स्थिर करना इन कहानियों की प्रेरणाएं हैं। समाज की उभरी हुई समस्याएं, जैसे पर्दे की अस्वस्थ प्रथा, सभ्यता की अनुचित दासता और विवाह से संबंधित दहेज, मुहूर्त, प्रेम के व्यावसायिक स्वरूपों तथा समस्याओं के प्रति उन्होंने उचित संकेत और व्यंग्य दोनों किए हैं। इस व्यंग्य में गुलेरी जी का हास्य इन कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता है। कहानियों में बार-बार अतिरंजना तथा अप्रासंगिकता आई है लेकिन हास्यरस से सिक्त होने के कारण यह दोष आकर्षण में परिणत हो जाता है। इन्होंने हास्य की सृष्टि तीन शैलियों से की है—परिस्थिति-निर्माण, परिस्थिति-चित्रण और विनोद की अवतारणा से।

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां, पृ० ५१
२. विचार और अनुभूति : गुलेरी जी की कहानियां, श्री नगेन्द्र, पृ० ४६, प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद, सन् १९४९ ई०

हिंदी कहानी के उस शैशवकाल में कहानी की इतनी समुचित और कलात्मक भाषा, शैली और प्रवाह देना, गुलेरी जी के कहानीकार व्यक्तित्व की अपूर्व क्षमता है। जिस समय प्रेमचंद और प्रसाद अपनी कहानी-कला के प्रारम्भिक काल में कहानी लिख रहे थे, उस समय गुलेरी जी ने इन कहानियों की सृष्टि से कहानी-कला के विद्यार्थी और पाठक दोनों के सामने आश्चर्य खड़ा कर दिया।

गुलेरी जी की कहानी-कला—३

□ डॉ० हरदयाल

हिंदी कहानी का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। इस शताब्दी के पहले दशक में हिंदी की पहली कहानी लिखी गई। दूसरे दशक में कई महत्त्वपूर्ण कहानीकार प्रकाश में आए। इसी दशक में कई ऐसी कहानियां भी प्रकाश में आईं जो हिंदी की अमर कहानियां मानी जाती हैं। इनमें से कुछ तो ऐसी कहानियां हैं जिन्हें संसार की श्रेष्ठ कहानियों की पंक्ति में रखा जा सकता है। इस दूसरे दशक की ही श्रेष्ठ उपलब्धि चंद्रधर शर्मा गुलेरी और उनकी कहानियां हैं। गुलेरी जी को बहुत छोटी आयु (१८८३-१९२२) मिली, किंतु इस छोटी-सी आयु में ही उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में थोड़ा-थोड़ा लिखकर अमरत्व प्राप्त कर लिया। विद्वत्ता और साहित्य-सृजन के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियां आश्चर्यजनक हैं। उनकी उपलब्धियां अभ्यास या श्रम की अपेक्षा प्रतिभा का फल अधिक हैं। यह बात अन्य क्षेत्रों के समान ही कहानी-क्षेत्र की उनकी उपलब्धियों से भी सिद्ध होती है। गुलेरी जी की कुल तीन कहानियां उपलब्ध हैं। उनकी पहली कहानी 'सुखमय जीवन' है। यह कहानी १९११ में 'भारत मित्र' में प्रकाशित हुई थी। दूसरी कहानी 'बुद्धू का कांटा' कहां और कब प्रकाशित हुई, यह पता नहीं है। इसलिए उसका रचनाकाल सन् १९११-१५ ई० के बीच अनुमानित किया जाता है। उनकी तीसरी कहानी 'उसने कहा था' जून, १९१५ ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। अपनी इन तीन कहानियों के आधार पर उन्हें हिंदी का अमर कहानीकार माना जाता है। पुरानी पीढ़ी के आचार्य रामचंद्र शुक्ल, बाबू श्यामसुंदरदास, अमरनाथ झा, डॉ० बाबूराम सक्सेना, नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र इत्यादि से लेकर नयी पीढ़ी के समर्थ आलोचकों तक ने उन्हें श्रेष्ठ कहानीकार स्वीकार किया है; किंतु कुछ अतिरिक्त उत्साही, नासमझ युवक अपने लचर तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि "गुलेरी कोई सशक्त कहानीकार नहीं हैं।" उनके इस प्रयत्न के पीछे कौनसी प्रेरणा काम कर रही

है, यह हम नहीं जानते; किंतु हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिलेगी।

गुलेरी जी ने अपनी तीन कहानियों में विकास के तीन सोपान पार किए हैं; और हर सोपान पर उनकी कहानी-कला परिपक्वतर होती गई है। पांच वर्ष के अल्प काल और तीन कहानियों की अल्प संख्या में उन्होंने कहानी-सृजन की जो प्रौढ़ता प्राप्त की, उसे अद्भुत ही कहा जा सकता है। परिपक्वता केवल कला के स्तर पर ही नहीं, बल्कि वस्तु, संवेदना और जीवन-दृष्टि के स्तर पर भी आई है।

गुलेरी जी की तीनों कहानियां प्रेम-कहानियां हैं। इन तीनों कहानियों में चित्रित प्रेम का स्वरूप क्या है, इसे समझने के लिए कुछ तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है। 'सुखमय जीवन' में प्रेम का उदय प्रथम दृष्टि में होता है। नायिका को देखते ही नायक मुग्ध हो जाता है। नायिका की आंखें नायक के अंतस् को वेधती चली जाती हैं—"पारसी चाल की एक गुलाबी साड़ी के नीचे चिकने काले बालों से घिरा हुआ उसका मुखमंडल दमकता था और उसकी आंखें मेरी ओर कुछ दया, कुछ हँसी और कुछ विस्मय से देख रही थीं। बस, पाठक ! ऐसी आंखें मैंने कभी नहीं देखी थीं। मानो वे मेरे कलेजे को घोलकर पी गयीं। एक अद्भुत कोमल, शांत ज्योति उनमें से निकल रही थी। कभी एक तीर में मारा जाना सुना है ? कभी एक निगाह में हृदय बेचना पड़ा है ? कभी तारामैत्रक और चक्षुमैत्री नाम आये हैं ? मैंने एक सेकंड में सोचा और निश्चय कर लिया कि ऐसी सुंदर आंखें त्रिलोकी में न होंगी और यदि किसी स्त्री की आंखों को प्रेमबुद्धि से कभी देखूंगा तो इन्हीं को।"[1]

'बुद्धू का कांटा' में प्रेम का उदय प्रथम दृष्टि में नहीं होता। उसमें प्रेम का उदय थोड़े-से साहचर्य के कारण होता है। इस कहानी में भी नायक को नायिका की आंखें सर्वाधिक आकर्षित करती हैं। रघुनाथ पनघट पर भागवंती को आंख उठाकर देखता है तो अन्य चीजों के साथ उसका ध्यान उसकी आंखों पर केंद्रित होता है—"आंखों के डेले काले, कोए सफेद नहीं, कुछ मटियाले नीले और पिघलते हुए। यह जान पड़ता था कि डेले अभी पिघलकर बह जायेंगे।"[2] भागवंती की ये आंखें उसकी चेतना में चुभकर रह गईं। पनघट से इलाही के पास लौट आने पर "स्त्रियों की टोली के वाक्य उसे गड़ रहे थे और सब वाक्यों के दुःस्वप्नों के ऊपर उस पिघलती हुई आंखों वाली कन्या का चित्र मंडरा रहा था।"[3] नदी के

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां : पृ० २०-२१
२. वही, पृ० ४०
३. वही, पृ० ४३

किनारे दाढ़ी बनाते रघुनाथ की क्रियाओं का अनुकरण करती भागवंती की आंखें उसे अपनी ओर देखने के लिए विवश करती हैं —"रघुनाथ ने कई बार विचार किया कि मैं उधर न देखूंगा, पर वह फिर उधर ही देखने लगा। आंखें, जो मानो अभी पानी होकर बह जायेंगी, सफेद हल्का नीला कोआ, जिसमें एक प्रकार की चंचलता, हँसी और घृणा तैर रही थी।"[१] नदी में से भागवंती रघुनाथ को निकालती है और वह देखता है कि "भीगी हुई कुमारी उसके सामने खड़ी है और उन्हीं पिघलती हुई आंखों से घृणा, दया और हँसी झलकाती हुई कह रही है कि इस अनाड़ी के सामने भी कोई लहंगा पसारेगी?"[२] दोनों के उलझाव और छीना-झपटी में रघुनाथ का घूंसा लड़की की नाक पर लग गया। वह लज्जित है। उसकी आंखें नीचे झुकी हैं। "परंतु फिर क्षण-भर में आंखें उठ आयीं। लड़की अपने भीगे और धूल लगे हुए आंचल से नाक पोंछती हुई उन्हीं आंखों में वही घृणा की और पछतावे की दृष्टि डालती हुई कह रही थी···।"[३] रघुनाथ का घोंघापन और स्त्रियों की ओर से झेंप "इस पिघलती हुई आंखों वाली के वचन-बाणों के नीचे भागने लगी।"[४]

भागवंती की छेड़छाड़ ने उसमें विचित्र बेचैनी पैदा कर दी है। वह उसे याद करता उसकी आंखों से—"अवश्य ही अपने पिछले अनुभव से वह इतना चमक गया था कि किसी स्त्री से बातें करने की उसकी इच्छा न थी, परंतु रह-रहकर उस पिघलती हुई आंखों वाली का और अधिक हाल जानने और वचन-कोड़े सहने की इच्छा होती थी।"[५] भागवंती के साथ रघुनाथ का विवाह हो गया। वह उसके मां-बाप के पास आगरा में है। इलाहाबाद में हॉस्टल में रहते हुए उसे भागवंती बराबर याद आती है। इस याद में भागवंती की आंखें प्रमुख हैं—"रात को जब सोया तो पिघलती हुई आंखें, वही नाक से बहता हुआ खून और वह आंसुओं से न ढकने वाली हँसी।"[६] 'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का कांटा' दोनों कहानियों के नायकों को नायिका की आंखें अभिभूत करती हैं। वस्तुत: किसी लड़की की आंखों से स्वयं कहानीकार अभिभूत है। यह लड़की कौन थी, जिसकी आंखों से कहानीकार इतना अभिभूत है—यह खोज का रोचक विषय हो सकता है। स्पष्टत: यह इस बात का एक संकेत है कि गुलेरी जी की कहानियों में आत्म-

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां : पृ० ४६
२. वही, पृ० ४९
३. वही, पृ० ५०
४. वही, पृ० ५१
५. वही, पृ० ५३
६. वही, पृ० ५७

कथात्मक तत्त्व हैं। डॉ० मनोहरलाल ने अपने एक लेख में इन आत्मकथात्मक तत्त्वों को विश्वसनीय ढंग से खोजा है।"[1]

तीसरी कहानी 'उसने कहा था' में प्रेम का उदय पूर्णतः साहचर्यजनित है। उसमें नायिका के रूप का आकर्षण कतई नहीं है। बारह वर्ष का लहनासिंह और आठ वर्ष की एक लड़की रोज अमृतसर के एक बाजार में मिल जाते हैं। लड़का लड़की को 'तेरी कुड़माई हो गयी' कहकर चिढ़ाता है और लड़की 'धत्' कहकर भाग जाती है। यह क्रम एक महीने तक चलता रहता है। और इस बीच लड़के ने दो-तीन बार फिर पूछा – 'तेरी कुड़माई हो गयी ?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तब लड़की बोली—'हां, हो गयी।' 'कब ?' 'कल—देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू !' लड़की से यह अप्रत्याशित उत्तर पाकर लड़के को ठेस लगी, जिसका संकेत कहानीकार ने लड़के की इन क्रियाओं के माध्यम से दिया है— "लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया; एक छाबड़ी वाले की दिन-भर की कमाई खोयी; एक कुत्ते पर पत्थर मारा और गोभी वाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अंधे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुंचा।"[2] लहनासिंह की ये क्रियाएं इस बात की द्योतक हैं कि एक महीने के साहचर्य और छेड़छाड़ ने उसके मन में लड़की के प्रति एक भावना पैदा कर दी है। इस भावना को 'प्रेम' कहा जा सकता है। यह भावना अनजाने उत्पन्न हुई है ; और अनजाने उत्पन्न होने वाली इस भावना के लिए लहनासिंह ने अपने जीवन का बलिदान कर दिया। फलतः 'उसने कहा था' प्रेम के लिए आत्मबलिदान की कहानी बन जाती है।

'उसने कहा था' कहानी में लहनासिंह और सूबेदारनी के बीच का प्रेम पूर्णतः अशरीरी है। उसमें शारीरिक इच्छा—वासना—का लेश भी नहीं है। यह अशरीरी प्रेम भी संकेतों से व्यंजित हुआ है, उसमें मुखरता कतई नहीं है। इसी बात को दृष्टि में रखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था—"इसमें पक्के यथार्थवाद के बीच, सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर, भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यंत निपुणता के साथ संपुटित है। घटना इसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है ; पर उसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झांक रहा है, केवल झांक रहा है, निर्लज्जता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा है। कहानी-भर में कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की बीभत्स विवृत्ति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार-से-सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुंचता। इसकी

१. सारिका, १-१५, जुलाई, १६८३
२. गुलेरी जी की अमर कहानियां, पृ० ६३

घटनाएं ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।"[१]

प्रेम के इस अशरीरी स्वरूप तक गुलेरी जी क्रमशः पहुंचे हैं। उनकी तीनों कहानियों में प्रेम की शारीरिकता विद्यमान है। पहली कहानी में जयदेव जिस ढंग से कमला से प्रेमनिवेदन करता है, उसका हाथ पकड़ता है, उसके हाथ में सात्त्विक भाव का पसीना आता है, लज्जा से उसकी आंखें झुकती हैं, और वह जयदेव के कंधे पर आंखें बंद करके सिर रखती है, इस सबसे प्रेम की शारीरिकता स्पष्ट व्यक्त होती है। दूसरी कहानी में यह अधिक मुखर है। सबसे पहले तो वह भागवंती के इस वाक्य में ही मुखर है—"वाह जी वाह, ऐसे बुद्धू के आगे भी कोई लहंगा पसारेगी !"[२] फिर एक-दूसरे में गुत्थमगुत्था होने पर रघुनाथ और भागवंती का विपरीतलिंगी के शारीरिक स्पर्श के पहले-पहले अनुभव का चित्रण[३], रघुनाथ के द्वारा भागवंती की जांघों को बांधने की आकांक्षा[४] तथा आगरा में स्त्री-पुरुष के रूप में दोनों के मिलन[५] में शारीरिकता मुखर होती है। तीसरी कहानी 'उसने कहा था' में प्रेम की शारीरिकता नायक-नायिका के बीच में विद्यमान न होकर फ्रांस और बेलजियम के मैदान में सिक्ख सैनिकों के द्वारा गाए गए इस गीत में विद्यमान है—

दिल्ली शहर तें पिशौर नुं जांदिए,
कर लेणा लौंगां दा बपार मड़िए,
कर लेणा नाड़ेदा सौदा अड़िए—
(ओय्) लाणा चटाका कदुए नुं।
कद्दू बणया वे मजेदार गोरिए,
हुण लाणा चटाका कदुए नुं।

इस गीत को कुछ लोगों ने अश्लील माना और कहानी से निकाल दिया। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस गीत में यौन-संबंध का सकेत है किंतु इस कहानी में जिस प्रसंग में आया है उसमें अत्यंत सटीक और अपरिहार्य है। वास्तव में, यह गीत सैनिक-मनोविज्ञान पर प्रकाश डालता है। सैनिक-मनोविज्ञान का अध्ययन करने वालों ने निष्कर्ष निकाला है कि विभिन्न कारणों से लड़ाई के मैदान में उनकी काम-प्रवृत्ति बहुत बढ़ जाती है। यही कारण है कि विजित राष्ट्र पर विजेता सैनिकों द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों में स्त्रियों पर किए जाने वाले

१. हिंदी साहित्य का इतिहास : रामचंद्र शुक्ल, पृ० ४६३, बारहवां संस्करण
२. गुलेरी जी की अमर कहानियां, पृ० ४३
३ वही, पृ० ४६
४. वही, पृ० ५७
५. वही, पृ० ६०

बलात्कार प्रमुख होते हैं। अज्ञेय की अपनी कहानी 'मेजर चौधरी की वापसी' में इसी मनोविज्ञान का चित्रण है। जिस संकोचहीनता के साथ 'बुद्धू का कांटा' की १४-१५ वर्षीया भागवन्ती कहती है—'ऐसे बुद्धू के आगे भी कोई लहँगा पसारेगी!' उससे गुलेरी जी की जीवन-दृष्टि का खुलापन और स्वस्थता सामने आती है। उनके अनुसार, खुलापन निष्पाप होता है—"गांव में परदा नहीं होता। वहां सब पुरुष सब स्त्रियों से और सब स्त्रियां सब पुरुषों से निडर होकर बातें कर लेती हैं। और शहरों के लंबे घूंघटों के नीचे जितना पाप होता है, उसका दसवां हिस्सा भी गांवों में नहीं होता। इसी से तो बाप ने बेटे को उपदेश दिया है कि लंबे घूंघट वाली से बचना।‥ राजपूताने के गांवों में स्त्री ऊंट पर बैठी निकल जाती है और खेतों में लोग 'मामी जी, मामी जी' चिल्लाया करते हैं। न उनका अर्थ इस शब्द से बढ़कर कुछ होता है और न वह चिढ़ती है।"[1] इसी संदर्भ में उन्होंने यह भी लिखा है—"जो कोने में बैठकर उपन्यास पढ़ा करते हैं, उनकी अपेक्षा खुले मैदान में खेलने वालों के विचार अधिक पवित्र रहते हैं।"[2]

गुलेरी जी की कहानियों में मिलने वाला हास्य इसी स्वस्थ जीवन-दृष्टि का द्योतक है। पहली दो कहानियों को पढ़ते समय बराबर यह अनुभव होता है कि कहानीकार जहां-तहां अपने पात्रों की मूर्खताओं पर हँस रहा है। 'सुखमय जीवन' में जयदेवशरण वर्मा के प्रेम-निवेदन की भाषा और कमला के पिता गुलाबराय वर्मा की संस्कृतनिष्ठ गालियों के पीछे हँसते हुए लेखक को सरलता से अनुभव किया जा सकता है। 'बुद्धू का कांटा' के प्रारंभ में रघुनाथप्रसाद त्रिवेदी के नाम के उच्चारण या उसके पिता के पक्के उसूलों के विवरण के पीछे भी कहानीकार की शरारती हँसी छिपी है। 'उसने कहा था' में हास्य का अभाव नहीं है, किंतु पूरी कहानी में कहानीकार का टोन बदल गया है; वह गंभीर हो गया है। पहली दो कहानियों में कहानीकार तटस्थ है, पात्रों और उनके क्रियाकलाप को अलग होकर देख रहा है; किंतु तीसरी कहानी में पात्रों और उनके क्रियाकलाप के साथ संसक्त हो गया है। तीनों कहानियों में किस प्रकार विकास-प्रक्रिया सूक्ष्म स्तर पर घटित हुई है, यह इसका प्रमाण है।

गुलेरी जी विद्वान थे। उनकी विद्वत्ता की झलक उनकी कहानियों में विद्यमान है; लेकिन इस विद्वत्ता को उन्होंने न तो अपने ऊपर हावी होने दिया, न अपनी कहानियों के ऊपर। इसका कारण यह था कि वह यथार्थ जीवन और उसके यथार्थ अनुभव को पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं। 'बुद्धू का कांटा' में इलाही की कहानी पर कहानीकार की टिप्पणी है—"कितने गरीबों का

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां, पृ० ३७
२. वही, पृ० ३८

इतिहास ऐसी विचित्र घटनाओं की धूप-छाया से भरा हुआ है; पर हम लोग प्रकृति के इन सच्चे चित्रों को न देखकर उपन्यासों की मृगतृष्णा में चमत्कार ढूंढ़ते हैं।"[1] गुलेरी जी की जीवन-दृष्टि इसी यथार्थ के अवलोकन और अनुभव से निर्मित हुई है। उनकी कहानियों में जीवन के विभिन्न पक्षों से संबंधित जो सूक्त्यात्मक कथन हमें मिलते हैं वे उपदेश नहीं हैं अपितु जीवन के अनुभव-निष्कर्ष हैं। उदाहरण के लिए, इस प्रकार के कुछ कथन प्रस्तुत हैं—

(१) स्त्री के सामने उसके नैहर की बड़ाई कर दे और लेखक के सामने उसके ग्रंथ की; यह प्रिय बनने का अमोघ मंत्र है।[2]

(२) बहस करके स्त्रियों से आज तक कोई नहीं जीता, पर मष्ट मारकर जीत सकता है।[3]

(३) विना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही।[4]

(४) मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म-भर की घटनाएं एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं, समय की धुंध बिल्कुल उन पर से हट जाती है![5]

जिस प्रकार गुलेरी जी की कहानियों में उनके अनुभव और जीवन-दृष्टि में क्रमशः परिपक्वता आई है, उसी प्रकार उनकी कहानी-कला में भी। उनकी कहानियों में संयोगों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। संयोगों में स्वाभाविकता क्रमशः आई है। 'सुखमय जीवन' में संयोग स्वाभाविक नहीं बन पाए हैं। ऐसा स्पष्ट लगता है कि जैसे सब-कुछ लेखक के द्वारा नियोजित है। इस कहानी के अस्वाभाविक संयोगों और स्थितियों के प्रति कहानीकार सचेत है, और वह उनके औचित्य को सिद्ध करने के लिए तर्क और प्रमाण जुटा रहा है, इसका अनुभव पाठक को बराबर होता है। सोलह-सत्रह वर्ष की लड़की का १९११ ई० में न केवल बेपर्दा घूमना, बल्कि २४-२५ वर्ष के अपरिचित युवक को अपने घर ले आना, विश्वसनीय नहीं लगता। इसे विश्वसनीय बनाने के लिए लेखक ने एक तर्क को गुलाबराय के इस कथन के रूप में रखा है—"मैं ब्रह्मसमाजी हूं, मेरे यहां पर्दा नहीं है।"[6] दूसरा तर्क है, कमला की प्रबुद्धता। वह शिक्षित है और लेखिका भी। वह 'महिला-मनोहर' मासिक पत्र में लेख लिखती है। ऐसी ब्रह्मसमाजी युवती यदि किसी अपरिचित युवक के साथ संकोचहीन व्यवहार करती है तो अनुचित

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां, पृ० ३६
२. वही, पृ० २१
३. वही, पृ० ३०
४. वही, पृ० ६३
५. वही, पृ० ७४
६. वही, पृ० २२

क्या है ? कहानीकार को इस बात का बोध भी है कि जयदेव जिस ढंग से और जिस शब्दावली में प्रेम-निवेदन कर रहा है वह अनुचित है। इसका भी औचित्य सिद्ध करने के लिए कहानीकार ने तर्क और प्रमाण जुटाए हैं। जयदेव का यह कथन इसी उद्देश्य से प्रेरित है—"अंगरेजी महाकाव्यों में, प्रेममय उपन्यासों में और कोर्स के संस्कृत-नाटकों में जहां-तहां प्रेमिका-प्रेमिक का वार्तालाप पढ़ा था, वहां-वहां का दृश्य स्मरण करके वहां के वाक्यों को घोख रहा था, पर यह निश्चय नहीं कर सका कि इतने थोड़े परिचय पर भी बात कैसे करनी चाहिए। अंत को अंगरेजी पढ़ने वाले की धृष्टता ने आर्यकुमार की शालीनता पर विजय पाई; और चपलता कहिए, बेसमझी कहिए, ढीठपन कहिए, पागलपन कहिए, मैंने दौड़कर कमला का हाथ पकड़ लिया।"[1] जयदेव अपने प्रेम-निवेदन के संबंध में कहता है—"मैं स्वयं नहीं जानता था कि मैं क्या कर रहा हूं, पर लगा बकने।"[2] स्पष्टतः कहानीकार जयदेव के आचरण की अस्वाभाविकता और उसकी बेवकूफी से परिचित है और उसके प्रति उसके मन में परिहास-भाव विद्यमान है। जो लोग कहानीकार के इस परिहास-भाव को नहीं पकड़ पाते, वे 'सुखमय जीवन' को ठीक से समझ भी नहीं पाते।

'सुखमय जीवन' में नायक-नायिका की अवस्था क्रमशः २४-२५ एवं १६-१७ वर्ष है। दोनों की अवस्था में आठ वर्ष का अंतर है। 'बुद्धू का कांटा' और 'उसने कहा था' में न केवल नायक-नायिका की आयु-सीमा कम होती जाती है अपितु दोनों का अंतर भी कम होता जाता है। 'बुद्धू का कांटा' में रघुनाथ की आयु है १९ वर्ष और भागवन्ती की १४-१५ वर्ष। यहां आठ वर्ष के बजाय ४-५ वर्ष का ही अंतर रह जाता है। 'उसने कहा था' में लड़की की उम्र ८ वर्ष है और लड़के की १२ वर्ष। दोनों की उम्र में अंतर रह जाता है ४ वर्ष का। हमारे विचार से यह स्वाभाविकता और यथार्थवादिता की दिशा में बढ़ने के प्रयास का परिणाम है। तीनों कहानियों की नायिकाएं संकोचहीन एवं अत्यंत मुखर स्वभाव वाली हैं। तीनों कहानियों में कहानीकार ने इसके अलग-अलग कारण दिए हैं। कमला ब्रह्मसमाजी और विदुषी है। भागवन्ती ग्रामीणा है। गांव की लड़कियों के संबंध में कहानीकार का मत है—"गांव की लड़कियां हड्डियों और गहनों का बंडल नहीं होतीं। वहां वे दौड़ती हैं, कूदती हैं, हँसती हैं, गाती हैं, खाती हैं और पचाती हैं। नगरों में आकर वे खूंटे से बंधकर कुम्हलाती हैं, पीली पड़ जाती हैं, भूखी रहती हैं, सोती हैं, रोती हैं और मर जाती हैं।"[3] तीसरी कहानी की

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां, पृ० २४
२. वही, पृ० २५
३. वही, पृ० ४६

लड़की अभी इतनी कम उम्र की है कि उसके लिए लड़के-लड़की की छेड़छाड़ का अर्थ बचपन की खिलवाड़ से अधिक कुछ नहीं है। उसके लिए 'कुड़माई' का अर्थ केवल 'रेशम से कढ़ा हुआ सालू' है।

पहली दो कहानियों में गुलेरी जी ने नायक और नायिका के बीच प्रेम की उत्पत्ति की सूचना स्पष्ट शब्दों में दे दी है; किंतु तीसरी कहानी में केवल संकेत दिए हैं, बाकी पाठक के अनुमान के लिए छोड़ दिया गया है। श्रेष्ठ कला होती भी सांकेतिकता में ही है। पहली दो कहानियों में घटनाओं को सीधे-साधे कालानुक्रम से रखा गया है। इन कहानियों का अंत क्या होगा, इसका अनुमान लगा लेना पाठकों के लिए कठिन नहीं होगा; किंतु 'उसने कहा था' में ऐसा नहीं है। इसमें घटनाओं को विदग्धता के साथ संयोजित किया गया है। शीर्षक से ही पाठक के मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती है—किसने किससे कब क्या कहां कहा था? यह जिज्ञासा क्रमशः तीव्रतर होती जाती है; किंतु इसका समाधान कहानी के अंत में जाकर होता है।

'उसने कहा था' के पहले खंड में केवल इतना संकेत मिलता है कि अमृतसर के बाजार में महीने-भर मिलते रहने वाले कम उम्र वाले लड़के-लड़की के बीच एक भावनात्मक संबंध अनजाने विकसित हो गया है। दूसरे से चौथे खंड तक हम देखते हैं कि लहनासिंह सूबेदार हजारासिंह और उसके बेटे बोधासिंह का विशेष ध्यान रखता है। क्यों, इसका कोई उत्तर हमें नहीं मिलता। चौथे खंड में लहनासिंह सूबेदार से कहता है—"जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उन्होंने (सूबेदारनी ने) कहा था, वह मैंने कर दिया।" यहां इतना संकेत हमें मिल जाता है कि सूबेदारनी ने लहनासिंह से कुछ करने के लिए कहा था; किंतु यहां भी हम सूबेदार के साथ यही पूछते रह जाते हैं—"उसने क्या कहा था?" इसका उत्तर हमें कहानी के अंतिम खंड में मिलता है। छुट्टियों में लहनासिंह और सूबेदार अपने-अपने गांव गए हुए हैं। तभी लड़ाई छिड़ जाती है और दोनों को वापस लौटने का आदेश मिलता है। सूबेदार लहनासिंह को चिट्ठी लिखता है कि लौटते समय वह उसके गांव आ जाए। साथ-साथ वापस लौटेंगे। लहनासिंह सूबेदार के घर आता है तो सूबेदारनी उससे एकांत में कहती है—"तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाए थे। आप घोड़े की लातों में चले गए थे और मुझे उठाकर दूकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों (सूबेदारनी के पति और पुत्र) को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आंचल पसारती हूं।"[1] यहां जाकर पाठक की जिज्ञासा शांत होती है। हिंदी कहानी की उस शैशवावस्था में घटनाओं का ऐसा कुशल परिपक्व विन्यास तथा कहानी के अंतिम खंड

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां, पृ० ५५

में पूर्वदीप्ति शैली का उपयोग हमें आश्चर्यचकित करता है। यह अपूर्व वस्तु-निर्माण की क्षमता रखने वाली प्रतिभा का ही परिणाम है।

गुलेरी जी की तीनों कहानियों में आए हुए पात्रों का व्यक्तित्व एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न और निजी पहचान से युक्त है। पहली दो कहानियों की नायिकाएं एक ही लड़की के आधार पर गढ़ी गई लगती हैं तथापि वे एक-दूसरे से अलग अपनी पहचान रखती हैं। कमला और भागवन्ती में जो संकोचहीनता है उसकी प्रकृति अलग-अलग है। तीसरी कहानी की नायिका पहली दो कहानियों की नायिकाओं से काफी दूर है। गुलेरी जी में पात्रों को सजीव बना देने की अद्‌भुत क्षमता है। उनकी कहानियों का शायद ही कोई पात्र ऐसा होगा जो व्यक्तित्वहीन नाम-मात्र हो। यह बात जयदेवशरण वर्मा, रघुनाथ और लहनासिंह तथा नायिकाओं जैसे प्रमुख पात्रों के संबंध में ही सच नहीं है अपितु गुलाबराय, इलाही, वजीरासिंह जैसे अप्रमुख पात्रों के विषय में भी सच है। दरअसल, गुलेरी जी पात्रों के बाह्य रूप-रंग, क्रियाकलाप तक ही अपने को सीमित नहीं रखते अपितु उनके मन में प्रवेश करके उनके मनोविज्ञान का भी उद्‌घाटन करते हैं। उदाहरण के लिए, 'बुद्धू का कांटा' के रघुनाथ के माता-पिता या इलाही को प्रस्तुत किया जा सकता है। मानव-मनोविज्ञान को पकड़ने की क्षमता का ही यह परिणाम है कि इस कहानी के नायक-नायिका अपने प्रेमोद्‌भव के समय के स्मृति-चिह्न—क्रमशः पैंट और कांटा—सुरक्षित रखते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि गुलेरी जी की कहानियों में जो मनोविज्ञान अभिव्यक्ति पाता है वह सामान्य (नॉर्मल) मनोविज्ञान है।

गुलेरी जी ने अपनी कहानियों के प्रभाव को तीव्र करने के लिए कहानी के हर तत्त्व का कुशल प्रयोग किया है। उनके संवाद पात्रानुकूल हैं। वे छोटे, रोचक और विदग्धतापूर्ण हैं। उनके माध्यम से सूचनाएं भी मिलती हैं और पात्रों के चरित्र का उद्‌घाटन भी होता है। लड़की के पैर से कांटा निकाल देने के बाद की 'बुद्धू का कांटा' के नायक-नायिका की यह बातचीत सुनिए—

"ओफ !" कहकर रघुनाथ ने कमीज की आस्तीन फाड़कर उसके पांव में पट्टी बांध दी।

बालिका चुप बैठी थी। रघुनाथ कांटे को निरख रहा था।

"अब तो दर्द नहीं ?"

"कोई एहसान थोड़ा है, तुम्हारे भी कांटा गड़ जाय तो निकलवाने आ जाना।"

"अच्छा !" रघुनाथ का जी जल गया था। यह बर्ताव !

"अच्छा क्या ? जाओ, अपना रास्ता लो।"

"यह कांटा मैं ले जाऊंगा। आज की घटना की यादगारी रहेगी।"

"मैं इसे जरा देख लूं।"

रघुनाथ ने अंगूठे और तर्जनी से कांटा पकड़कर उसकी ओर बढ़ाया। अपनी दो अंगुलियों से उसे उठाकर और दूसरे हाथ से रघुनाथ को धक्का देकर लड़की हँसती-हँसती दौड़ गई।[1]

इस बातचीत और उसके साथ जुड़ी क्रियाओं से भागवन्ती की समस्त चंचलता और विदग्धता उभर आती है और उसे मोहक व्यक्तित्व प्रदान कर देती है। इसमें भाषा की अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। गुलेरी जी भाषा के कुशल प्रयोक्ता हैं। संवादों को पात्रानुकूल बनाने के लिए वह आंचलिक शब्दावली का निःसंकोच प्रयोग करते हैं। यहां नोट करने की बात यह है कि पहली कहानी में आंचलिक शब्दावली का प्रयोग नहीं है, किंतु दूसरी और तीसरी कहानी में यह प्रयोग है। 'बुद्धू का कांटा' में इलाही की कहानी आंचलिक शब्दावली से भरपूर है। 'उसने कहा था' में आंचलिक शब्द-प्रयोग में और परिपक्वता आती है। इस कहानी में आंचलिक शब्द पूरी कहानी में व्याप्त हैं। इनके कारण कहानी को स्थानीय रंग मिला है और उसमें वैशिष्ट्य आया है। यद्यपि गुलेरी जी की कहानियों के कुछ भाषिक प्रयोग पुराने पड़ गए हैं, किंतु समग्रत. इन कहानियों की भाषा आज भी हमें आकर्षित करती है। इस प्रकार के अनेक प्रयोग हैं जो हमें तुरंत पकड़ लेते हैं और जिनसे प्रभावित हुए बिना हम रह नहीं पाते। 'बुद्धू का कांटा' में पहाड़ का यह चित्र किसे आकर्षित नहीं करेगा—"पहाड़ी जमीन, जहां रास्ता देखने में कोस-भर जँचे और चाहे उसमें दस मील का चक्कर काट लो; बिना पानी सींचे हुए हरे मखमल के गलीचे से ढकी हुई जमीन, उस पर जंगली गुलदाऊदी की पीली टिमकियां और वसन्त के फूल, आलूबोखारे और पहाड़ी करौंदे की रज से भरे हुए, छोटे-छोटे रंगीले फूल जो पेड़ का पत्ता भी न दिखने दें, क्षितिज पर लटके हुए बादलों की-सी बरफीले पहाड़ों की चोटियां, जिन्हें देखते आंखें अपने-आप बड़ी हो जातीं और जिनकी हवा की सांस लेने से छाती बढ़ती हुई जान पड़ती; नदी से निकाली हुई छोटी-छोटी असंख्य नहरें, जो सांप के-से चक्कर खा-खाकर फिर प्रधान नदी की पथरीली तलेटी में जा मिलतीं—ये सब दृश्य प्रयाग के ईंटों के घर और कीचड़ की सड़कों से बिल्कुल निराले थे।"[2]

उक्त उद्धरण में अलंकरण है। तीसरी कहानी में अलंकारों के उपयोग में और अधिक परिपक्वता आई है। "लड़ाई के समय चाँद निकल आया था। ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशा-

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां, पृ० ५२-५३
२. वही, पृ० ४३-४४

चार्य' कहलाती।"[1] यह प्रयोग वातावरण की सृष्टि तो करता ही है, साथ ही समय तथा ठंड की अतिशयता की सूचना भी देता है। गुलेरी जी की कहानियों में लोकोक्तियों, मुहावरों, उपमामूलक अलंकारों तथा अन्य लाक्षणिक प्रयोगों के उदाहरण सुलभ हैं, किंतु उतने ही जितने से भाषा का सौंदर्य निखरता है; भाषा को कृत्रिमता प्रदान करने वाली भरमार नहीं है।

गुलेरी जी की कहानियों में—विशेषत: पहली दो कहानियों में—कुछ ऐसी चीजें हैं जिनसे कहानियों की चुस्ती कम होती है—जैसे बीच-बीच में कहानीकार का प्रत्यक्ष रूप से पाठक के सामने आकर किसी किस्सागो के समान सूचनाएं देना अथवा विषयांतर करके किसी ललित निबंधकार के समान विभिन्न विषयों पर टिप्पणियां करने लगना; किंतु गुलेरी जी की कहानियों का मूल्यांकन करते समय हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि वह हिंदी कहानी के शैशवकाल की रचनाएं हैं। हमारा स्पष्ट मत है कि गुलेरी जी की कहानियां हिंदी कहानी-साहित्य की स्पृहणीय उपलब्धियां हैं।

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां, पृ० ७३

गुलेरी जी की कहानी-कला—४

□ सुरेश शर्मा

गुलेरी जी बहुत अच्छे भाषा-विज्ञानी, निबंधकार और संपादक भी थे लेकिन हिंदी के बहुसंख्यक पाठक उन्हें 'उसने कहा था' कहानी के कहानीकार के रूप में ही जानते हैं। जबकि इससे पूर्व लिखी गई 'बुद्धू का कांटा' तथा 'सुखमय जीवन' शीर्षक उनकी कहानियां अपनी संरचनात्मक कमजोरियों के बावजूद भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

गुलेरी जी की पहली कहानी 'सुखमय जीवन', जो 'भारत मित्र' में १९११ ई० में प्रकाशित हुई, इस अर्थ में विशिष्ट है कि उसमें सुधारवाद तो है लेकिन आदर्शवाद नहीं है, बल्कि वह सुधारवाद आधुनिकता से अधिक जुड़ा है। गुलेरी जी की यह विशिष्टता उन्हें बहुत दूर तक यथार्थवाद के निकट ले आती है। बाद की उनकी अन्य दो कहानियों, 'बुद्धू का कांटा' (१९११-१५ के बीच लिखित), तथा 'उसने कहा था' (सरस्वती : जून, १९१५), की तरह ही 'सुखमय जीवन' नामक कहानी भी एक प्रेम-कहानी ही है। लेकिन इसमें अपने कथ्य के द्वारा गुलेरी जी स्त्री-पुरुष संबंध के संदर्भ में सामंती सोच पर चोट करते हैं तथा उसे आधुनिकता की दिशा में उन्मुख करने का प्रयास करते हैं।

इन कहानियों में सबसे पहले जो चीज आकर्षित करती है, वह है उनकी सर्जनात्मक भाषा।

गुलेरी जी की कहानियों का गद्य बोझिल गद्य नहीं है। उनके गद्य की लय बातचीत और बहस की है। अपने समय के बहुतसे दूसरे लेखकों की तरह गुलेरी जी भाषा लिखकर अनुपस्थित नहीं हो जाते बल्कि वह हमेशा मौजूद रहते हैं। एक-एक शब्द में, एक-एक पंक्ति में—अंततः वाक्यविन्यास और विराम-चिह्नों में ! लेटे हुए अगर आप उनका गद्य पढ़ रहे हैं तो कुछ पंक्तियों के बाद अचानक आप पाएंगे कि आप अपने कमरे की खाली कुर्सी पर जाकर बैठ गए हैं और मेज की दूसरी तरफ पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी बैठे हैं—पतली कमानी के

चश्मे में, सिर पर पाग और गले में लंबा अंगोछा लपेटे; और आपसे बहस कर रहे हैं—अपने अहवाल बयान कर रहे हैं! सत्तर-इकहत्तर वर्ष बाद, उसी ताजगी से।

ऐसा क्यों है? दरअसल गुलेरी जी महज विचार की भाषा नहीं लिखते, क्रियाशीलता की भाषा लिखते हैं, जिसमें विचार निहित हैं। अक्सर वह किसी भी वृत्तांत को विवरण की भाषा में नहीं लिखते, न ही यथातथ्यता का सूखापन उसमें होता है। गुलेरी जी की भाषा की क्रियाशीलता उसकी चित्रात्मकता में है, जिसमें व्यंग्य की रेखाओं की प्रमुखता है। यह चित्रात्मकता ही है जो उनकी भाषा को ऐन्द्रिक बनाती है और जिससे वह सर्जनात्मक हो उठती है। अपनी पहली कहानी 'सुखमय जीवन' में वह लिखते हैं—"बस, अब नहीं सहा गया—सोचा कि घर से निकल चलो; बाहर ही कुछ जी बहलेगा। लोहे का घोड़ा उठाया कि चल दिए। तीन-चार मील जाने पर शांति मिली। हरे-हरे खेतों की हवा, कहीं पर चिड़ियों की चहचह और कहीं कुओं पर खेतों को सींचते हुए किसानों का सुरीला गाना, कहीं देवदार के पत्तों की सोंधी बास और कहीं उनमें हवा का सीं-सीं करके बजना—सबने मेरे चित्त को परीक्षा के भूत की सवारी से हटा लिया। बाइसिकिल भी गजब की चीज है। न दाना मांगे, न पानी, चलाए जाइए जहां तक पैरों में दम हो। सड़क में कोई था ही नहीं, कहीं-कहीं किसानों के लड़के और गांव के कुत्ते पीछे लग जाते थे।"

गुलेरी जी की भाषा की दूसरी विशेषता कहानियों में आने वाले पात्र हैं। 'बुद्धू का कांटा' में इलाही पाठक के मन पर कथा के मुख्य पात्र रघुनाथ और भागवंती के बराबर ही प्रभाव छोड़ता हुआ आंचलिक प्रयोगों को प्राथमिकता देता है। 'उसने कहा था' कहानी की भाषा को देखें या 'बुद्धू का कांटा' में इलाही टट्टू वाले की भाषा को। पंजाबी के जिस आंचलिक रूप का प्रयोग गुलेरी जी ने किया है उससे अनजाने ही हिंदी कथा-साहित्य में आंचलिकता का सूत्रपात हो जाता है और जिसे फणीश्वरनाथ रेणु लगभग ४० वर्ष बाद अपनी कृतियों में अंतिम ऊंचाइयों तक ले जाते हैं। निश्चय ही गुलेरी जी की कहानियों द्वारा किसी अंचल का संपूर्णता में प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता लेकिन अंशों में प्रतिनिधित्व की स्थितियां बार-बार आती हैं।

आंचलिक कथाकार के लिए अपनी कथाकृति का प्रत्येक पात्र मुख्य पात्र की तरह ही महत्त्वपूर्ण होता है। वह चरित्रों के विकास में 'लोकतांत्रिक' रुख अपनाता है, मुख्य पात्र के 'गंतव्य' के लिए गौण पात्रों का इस्तेमाल नहीं करता।

गुलेरी जी भी अपने कथापात्रों के संदर्भ में बहुत ही लोकतांत्रिक रुख अपनाते हैं। समाज में रहने वाले व्यक्तियों की तरह उनकी कहानियों की दुनिया

में आने वाले लगभग सभी पात्रों की निजी जिंदगी है, अपनी समस्याएं और अपना अतीत है। प्रत्येक कहानी के लगभग सभी चरित्र अपनी समग्रता में आते हैं। मुख्य पात्र के चारित्रिक विकास के लिए किसी भी गौण पात्र के अस्तित्व की गुलेरी जी वलि नहीं देते। उसे संपूर्ण बनाने की पूर्ण कोशिश करते हैं। एक बड़े कथाकार का सबसे बड़ा गुण यही है कि कितने अधिक पात्रों में वह कितनी अधिक कहानियां देखता है।

कुछ लोगों को इससे कथा-विन्यास में बिखराव नजर आ सकता है। लेकिन कहानी को कथानक की सीधी निरंतरता की यांत्रिकता से अलग करके अगर गुलेरी जी की कहानियों को पढ़ने की कोशिश करें तो उनकी कहानियां नई व्यंजना के साथ प्रभावोत्पादक हो जाती हैं। किसी भी कहानी का प्रत्येक पात्र मुख्य पात्र से निर्धारित होकर सिर्फ उसीके लिए एक निश्चित भूमिका निभाकर पर्दे के पीछे नहीं चला जाता बल्कि मुख्य पात्र के संदर्भ में ही सही, वह जितनी देर के लिए आता है, या जितनी वार आता है, उतनी ही देर में अपने कथोपकथन, अपनी सक्रियता तथा अपनी अलग भाषा की मार्फत अपनी जिंदगी की छिपी हुई कहानी का भी संकेत दे जाता है।

उदाहरण के लिए, 'बुद्धू का कांटा' कहानी एक शुद्ध रोमानी प्रेमकथा है—भावुकता से भरी हुई। स्त्री-समुदाय से अपरिचय के कारण एक युवक के मन में बने हुए जो भ्रम हैं वे परिचय के साथ ही धीरे-धीरे टूट जाते हैं लेकिन मुख्य कथा से अलग जरा देर के लिए ही। इलाही के टट्टू से रघुनाथ शादी के लिए अपने घर लौट रहा है। रास्ते में इलाही रघुनाथ को अपनी जीवनगाथा सुनाता चलता है। इस कथा में एक ऐसा मार्मिक पक्ष उभर आता है, जो हिंदुस्तान में शोषित वर्ग की स्त्री के दमन से जुड़ा है। इलाही नवाब का नौकर था। अपने मालिक नवाब को बिना वताए वह एक रात हज के लिए चल पड़ा था। दूसरे दिन नवाब को इलाही की अनुपस्थिति में नाश्ते आदि की थोड़ी असुविधा हुई।—"बस, वह जल-जल गया। उसने मेरा घर फुंकवा दिया, मेरी जमीन अपनी रखवाल (रखैल) के भाई को दे दी और मेरी बीवी को लौंडी बनाकर कैद कर लिया। लेकिन नवाब इतने पर ही नहीं रुका। इसके पंद्रहवें दिन जनाने में एक सोने की अंगूठी खो गई। नवाब ने मेरी घरवाली पर शक किया…जला-भुना तो था ही, बेंत लेकर लगा मारने। मौला मेरा गुनाह बख्शे, आज पांच बरस हो गए हैं। पर जब मैं घरवाली की पीठ पर पचासों दागों की गुच्छियां देखता हूं, तो यह पछतावा रहता है कि रब ने उस सूर का (तोबा! तोबा!) गला घोंटने को यहां क्यों न रखा"…इस कहानी में शोषक नवाब का शोषित वर्ग की स्त्री पर किया गया यह आत्यंतिक दमन ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के शासन में भारतीय सामंतों के चरित्र का पर्दाफाश करता है। दूसरी ओर, इलाही

द्वारा नवाब का गला न घोंट पाने का अफसोस, उसकी उस वर्गघृणा तथा चेतनता को व्यक्त करता है जो शोषक वर्ग के खात्मे के लिए शोषित वर्ग में आवश्यक है।

इलाही द्वारा कहानी समाप्त करने पर कथानायक रघुनाथ उससे पूछता है कि क्या उसने इस संदर्भ में न्यायालय में फरियाद नहीं की। इलाही द्वारा दिया गया इस प्रकार का उत्तर वर्गों में बंटे समाज की असमान न्याय-व्यवस्था पर ऐसी टिप्पणी है, जो आज भी सच है। वह कहता है—"कचहरियां गरीबों के लिए नहीं हैं, बा'छा वे तो सेठों के लिए हैं।"

भारतीय समाज के शोषितजनों की इस विवशता की पहचान गुलेरी जी की यथार्थवादी दृष्टि का ही प्रतिफल है। 'उसने कहा था' कहानी में इस दृष्टि को गुलेरी जी ने और भी विस्तार दिया है। हिंदी कथालेखन के आरंभिक दौर में १९१५ ई० में छपी इस कहानी ने अचानक ही हिंदी कथा-साहित्य को प्रौढ़ और आधुनिक बनाने के साथ ही उसे यथार्थवाद से भी जोड़ दिया था। प्रेमचंद ने हिंदी में तब तक अपनी महान कहानियां नहीं लिखी थीं। तब तक हिंदी में इंदुमती (किशोरीलाल गोस्वामी), प्लेग की चुड़ैल (भगवान दास), ग्यारह वर्ष का समय (रामचन्द्र शुक्ल) तथा दुलाई वाली (बंग महिला) जैसी कहानियां ही लिखी गई थीं। इनकी तुलना में 'उसने कहा था' आश्चर्यजनक उपलब्धि है।

अगर बहुत गहरे जाकर देखें तो 'उसने कहा था' साम्राज्यवादी युद्ध के विरुद्ध लिखी गई प्रमुखतम कहानियों में से एक है। साम्राज्यवादी शक्तियां खुद को बनाए रखने के लिए महायुद्ध छेड़ती हैं। गरीब देशों की सामान्य शोषित जनता पर युद्ध थोपा जाता है, क्योंकि हथियारों के एक पुर्जे के रूप में इस युद्ध को अंततः वही लड़ती है। इस युद्ध की भयावहता और नृशंसता के समानांतर उसकी अंतरंग जिंदगी है, कोमल संवेदना है, जो युद्ध में मारे जाने के साथ ही समाप्त हो जाती है। एक ओर, साम्राज्यवादियों का झूठ और फरेब है (एक जर्मन लेफ्टिनेंट का वेश बदलकर आना) तो दूसरी तरफ शोषित वर्ग का सच्चा और साहसी जमादार लहनासिंह है, जो मानवीय मूल्यों की रक्षा में खुद को समाप्त कर डालता है।

आचार्य शुक्ल ने इसे 'पक्की यथार्थवादी' कहानी कहा है। यह अपने समय की दो मुख्य विरोधी शक्तियों के संघर्ष को ही नहीं दिखाती बल्कि श्रेष्ठ कथा-योजना के कारण हमारे मन पर युद्ध और शोषण-विरोधी तीव्र मानसिकता भी उत्पन्न करती है, अतः गुलेरी जी का यथार्थवाद प्रभाव में रचनात्मक है।

गुलेरी जी ने कहानियां लिखने के साथ-साथ एक भाषा-विज्ञानी और निबंधकार के रूप में भी हिंदी साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

गुलेरी जी की कहानी-कला—५

☐ डॉ० सुशीलकुमार फुल्ल

गुलेरी जी कहानीकार नहीं थे और न ही कवि, इस आशय का अप्रत्यक्ष संकेत हमें उनके इस कथन में मिलता है—"मैं हिंदी का प्रसिद्ध लेखक हूं और साहित्यिक जगत् में आलोचक और विद्वान के रूप में मेरी ख्याति है।"[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था'[2] को 'अद्वितीय' कहकर परवर्ती विद्वानों के लिए एक लीक बना दी, जिसे आज तक निरंतर दोहराया जाता रहा है परंतु वास्तविकता यह है कि उनकी कहानियां समग्र रूप से देखे जाने पर कथ्य एवं कलात्मकता दोनों ही दृष्टियों से छोटी पड़ जाती हैं। आलोचकों ने जो आदर्श उनकी कहानियों पर आरोपित किए हैं, कहानियों का अवलोकन करते ही वे भुर-भुराकर बिखर जाते हैं। आलोचकों ने गुलेरी जी की रचनाओं को खूंटी समझकर, अपनी मान्यताएं टांगकर, उन्हें अमर कहानीकार घोषित कर दिया है। व्यक्ति चन्द्रधर शर्मा गुलेरी को क्षणभर के लिए भुलाकर यदि उनकी कहानियों का परीक्षण करें तो रचनात्मक कमजोरियां, अनावश्यक विस्तार, संयोजन की शिथिलता तथा रोमांस की ललक एवं मांसल चित्रण का मोह एकाएक स्पष्ट हो उठता है।

संयोजन की शिथलता

गुलेरी जी की तीन कहानियां—'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का कांटा' तथा 'उसने कहा था' उपलब्ध हैं। डॉ० विद्याधर शर्मा गुलेरी ने 'पनघट' नाम की एक चौथी, अद्यावधि अनुपलब्ध कहानी का उल्लेख भी किया है। परंतु संभवतः

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां : संपा० डॉ० विद्याधर शर्मा गुलेरी; 'गुलेरी जी अपने शब्दों में : पृ० IV, १६८१ ई०

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० ४८१, सं० २०१८ वि०

'पनघट' 'बुद्धू का कांटा' कहानी का ही दूसरा नाम है, क्योंकि 'बुद्धू का कांटा' में महत्त्वपूर्ण घटनाएं पनघट पर ही घटती हैं।

इन तीनों कहानियों में कथानक का संयोजन शिथिल तथा कृत्रिम जान पड़ता है। 'सुखमय जीवन' का प्रारंभिक अंश अनावश्यक रूप से लंबा खींच दिया गया है। कहानीकार अपनी टिप्पणी करता चलता है। जयदेवशरण वर्मा के विचारों को ऊबड़-खाबड़ ढंग से जोड़ा गया है। बस किसी-न-किसी प्रकार उसे साइकिल पर सवार कर कमला के घर तक पहुंचाने के लिए सारा आडंबर रचा गया है। घर से निकलने का बहाना देखिए—"अखबार पढ़ने बैठा कि देखता क्या हूं कि लिनोटाइप की मैशीन ने चार-पांच पंक्तियां उलटी छाप दी हैं। बस, अब नहीं सहा गया—सोचा कि घर से निकल चलो; बाहर ही कुछ जी बहलेगा।"[1]

'बाइसिकिल' में पंक्चर कमला के घर के निकट होता है। कमला अचानक सड़क पर प्रकट हो जाती है। अपने घर ले जाती है। 'सुखमय जीवन' पर चर्चा होती है। नायक नायिका से वाटिका में प्रणय-निवेदन करता है। फटकार सुनता है। अपने कुंवारेपन की दुहाई देता है और फिर गुलाबराय वर्मा से आशीर्वाद लेकर विवाह-बंधन में बंधता है। अभिप्राय यह कि घटनाओं का संयोजन परीलोक से आयातित किया लगता है, वास्तविक नहीं।

'बुद्धू का कांटा' के प्रथम दो अंश भाषा पर व्यंग्य तथा इलाही का उपाख्यान—अनावश्यक एवं अप्रासंगिक हैं। दूसरे अंश की अंतिम सूचना—'रघुनाथ अपने बक्स में से लोटा-डोर निकालकर कुएं की तरफ चला' हास्यास्पद है। तीसरे अंश में स्त्री-पुरुष-संबंधों पर व्याख्यान वस्तुतः लेखक के उपदेशक को उद्घाटित करता है, साथ ही उसके मन में फंसी काम-ग्रंथि को भी। तीसरे ही अंश में भागवंती का व्यवहार अपेक्षाकृत अधिक उच्छृंखल चित्रित किया गया है। पनघट पर दोनों की भेंट, फिर अंत में दोनों का विवाह अस्वाभाविक घटनाएं हैं, क्योंकि यह सारा जाल पूर्व-नियोजित जान पड़ता है। 'रघुनाथ' को शृंग-ऋषि का प्रतिबिंब कहा जा सकता है। कहानी का अंत अटपटा है।

'उसने कहा था' का प्रथम अंश आंचलिकता की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है परंतु लड़के-लड़की की बातचीत अस्वाभाविक है। दस-बारह साल का लड़का तथा आठ साल की लड़की—उस वय-क्षेत्र से हैं, जहां अभी प्रेमांकुरण नहीं होता। दोनों अपने मामा के घर आए हुए हैं। और कुछ दिन बाद लड़की की 'कुड़माई' भी हो जाती है। लड़की के पिता का कोई जिक्र नहीं आता। मामा के घर घूमने आई लड़की की कुड़माई भी कुछ विचित्र लगती है। और फिर लड़के

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां : सम्पा० शक्तिधर गुलेरी, पृ० १७, १९५९ ई०

का व्यवहार—वह निराश, हताश लोगों से टकराता, कुत्ते को पत्थर मारता—घर पहुंचता है। मानो लेखक ने निश्चय कर रखा हो कि लड़की उसी लड़के के लिए जन्मी थी।

कहानी के पहले खंड के पच्चीस वर्ष बाद का वर्णन दूसरे खंड में है। जमादार लहनासिंह सूबेदार हजारासिंह तथा उसके पुत्र बोधासिंह की युद्ध-भूमि में प्राण-रक्षा कर अपने प्राण त्याग देता है। रेड-क्रॉस की गाड़ी आई हुई है परंतु वह हज़ारासिंह और बोधासिंह को गाड़ी में भेज देता है तथा स्वयं अपने घाव पर पट्टी तक नहीं करवाता। अभिप्राय यह है कि वह आत्महत्या कर लेता है। सूबेदारनी को दिया वचन पूरा करता है। यह सूबेदारनी पच्चीस वर्ष पहले मिली कन्या थी। प्रश्न उठता है—क्या लहनासिंह अब तक अविवाहित था? यदि अविवाहित नहीं था तो क्या आत्महत्या करके उसने अपने परिवार के प्रति अन्याय नहीं किया? इन प्रश्नों का उत्तर गुलेरी जी के पास नहीं था। उन्हें तो रोमांसपरक आख्यान प्रस्तुत करना था। लहनासिंह को मारना था तथा प्रेम (?) पर आदर्श की विजय दर्शानी थी (?)। कहानी की अंतिम तीन पंक्तियां, जिनमें लहनासिंह की मृत्यु का समाचार है, कहानी की चरम परिणति को कमजोर बनाती हैं।

तीनों कहानियों में अनावश्यक प्रसंग भरे पड़े हैं। दो कहानियों में तो नायक अथवा नायिका मामा अथवा मामी के घर ही मिलते हैं। भागवन्ती अपनी मामी के घर आई हुई है क्योंकि उसने रघुनाथ से लोटमपोट एवं गुत्थम-गुत्था होना था। 'उसने कहा था' के नायक-नायिका भी अपने-अपने मामा के घर हैं। गुलेरी जी पर ननिहाल हावी लगता है।

कथानक के गुम्फन में एक कमजोरी लेखक का प्रचारक, उपदेशक अथवा टिप्पणीकार के रूप में आ उपस्थित होना भी है, यथा—

"मनुष्य पहले पशु है, फिर मनुष्य। सभ्यता का या शांति का भाव पीछे आता है, पहले पाशविक बल और विजय का।" **—बुद्धू का कांटा से**

"कवियों को सोचने का समय पाखाने में मिलता है और युवाओं को स्वयं हजामत करने में।"

—बुद्धू का कांटा से

"वेश्या अपनी अवस्था कम दिखाना चाहती है और साधु अपनी अवस्था अधिक दिखाना चाहता है। भला, ग्रंथकार का पद इन दोनों में किसके समान है?"

—सुखमय जीवन से

"हिंदू समाज ही इतना सड़ा हुआ है कि हमारे उच्च विचार कुछ चल ही नहीं सकते।"

—सुखमय जीवन से

"और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में, 'दंतवीणोपदेशाचार्य' कहलाती।"

—उसने कहा था से

मूल संवेदना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'उसने कहा था' के विषय में लिखा है—"इसमें पक्के यथार्थवाद के बीच, सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर, भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यंत निपुणता के साथ संपुटित है। घटना इसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है; पर उसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झांक रहा है—केवल झांक रहा है, निर्लज्जता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा है। कहानी-भर में कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की बीभत्स विवृत्ति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुंचता। इसकी घटनाएं ही बोल रही हैं, पात्रों को बोलने की आवश्यकता नहीं।"[1] शायद शुक्ल जी ने एक ही कहानी पढ़ी थी। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यदि उन्होंने गुलेरी जी की तीनों कहानियां पढ़ी होतीं तो वह गुलेरी जी का प्रेम-दर्शन किन्हीं और शब्दों में व्यक्त करते। वस्तुत: तीनों कहानियों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके मन-मस्तिष्क पर मांसल प्रेम बुरी तरह से हावी था, जिसकी 'निर्लज्ज प्रगल्भता' इन कहानियों में बराबर मिलती है। अनाड़ी के सामने लहँगा पसारने, न पसारने की समस्या ही उनके प्रेम-दर्शन को उद्घाटित करती है।

'सुखमय जीवन' के प्रेम का रंग तो एकदम फिल्मी है। जयदेवशरण वर्मा अजनवी लड़की से मिलते हुए एक ही नजर में मुग्ध हो जाता है और मौका मिलते ही उसका हाथ पकड़कर कहता है—"प्यारी कमला, तुम मुझे प्राणों से बढ़कर हो; प्यारी कमला, मुझे अपना भ्रमर बनने दो। मेरा जीवन तुम्हारे बिना मरुस्थल है, उसमें मंदाकिनी बनकर बहो। मेरे जलते हुए हृदय में अमृत की पट्टी बन जाओ। जब से तुम्हें देखा है मेरा मन मेरे अधीन नहीं है।"[2]

और प्रथम दर्शन पर नायक की प्रतिक्रिया है—"ऐसी आंखें मैंने कभी नहीं देखी थीं। मानो वे मेरे कलेजे को घोलकर पी गयीं। एक अद्भुत कोमल, शांत ज्योति उनमें से निकल रही थी। कभी एक तीर में मारा जाना सुना है? कभी एक निगाह में हृदय बेचना पड़ा है? कभी तारामैत्रक और चक्षुमैत्री नाम आए हैं? मैंने एक सेकेंड में सोचा और निश्चय कर लिया कि ऐसी सुंदर आंखें त्रिलोकी में न होंगी और यदि किसी स्त्री की आंखों को प्रेमबुद्धि से कभी देखूंगा तो इन्हीं को।"[3]

मानो स्त्री न हुई हलवाई की दुकान की गुलाबजामुन हो गई कि जीभ

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० ४८१, सं० २०१८ वि०
२. गुलेरी जी की अमर कहानियां : पृ० २५
३. वही, पृ० २१

लपलपाई और चख लिया। 'सुखमय जीवन' के नायक को कोई भी लबादा लेखक ने ओढ़ाने का प्रयत्न किया हो परंतु वह निश्चित रूप से काम-लोभी एवं लम्पट है, जो कन्या को देखते ही 'भ्रमर' बनने का निवेदन करता है।

'बुद्धू का कांटा' का नायक ऋषि शृंग का प्रतिबिंब है। मां के अतिरिक्त उसने किसी कन्या के प्रति कभी खुली आंखों से देखा ही नहीं। प्रस्तुत कहानी की नायिका भागवन्ती चपल कन्या है और उसके रोम-रोम से, शब्द-शब्द से काम-गंध टपकती है। भागवन्ती एकदम लहंगा पसारने के लिए व्याकुल दृष्टिगोचर होती है। उसके कुछ कथन द्रष्टव्य हैं—

"मामी, मामी, मुझे भी अपने नये पालतू के ब्याह में ले चलना। ··वाह जी वाह, ऐसे बुद्धू के आगे भी कोई लहँगा पसारेगी!"[१]

"···पांच सात बार खांसने पर, आंखें पोंछने पर उसने देखा कि भीगी हुई कुमारी उसके सामने खड़ी है और उन्हीं पिघलती हुई आंखों से, घृणा, दया और हँसी झलकाती हुई कह रही है कि—इस अनाड़ी के सामने भी कोई अपना लहँगा पसारेगी।"[२]

ज़रा अब नायक-नायिका का मिलन देखें—"रघुनाथ ने उसे दोनों बांहें डालकर पकड़ लिया। रघुनाथ के लिए यह स्त्री का और उस लड़की के लिए पुरुष का यह पहला स्पर्श था।"[३]

दोनों का विवाह हो जाता है या लेखक द्वारा हठात् करवा दिया जाता है, तो भागवन्ती मौन हो जाती है और लहँगा रघुनाथ पर हावी हो जाता है—

"क्या कहा था, ऐसे मर्द के आगे कौन लहंगा पसारेगी?···हां, फिर तो कहना, इस बुद्धू के आगे कौन लहँगा पसारेगी?"[४]

'बुद्धू का कांटा' कहानी का अंत भी संभोग की स्थिति से होता है— "रघुनाथ ने एक हाथ उसकी कमर पर डालकर उसे अपनी ओर खींचना चाहा। मालूम पड़ा कि नदी के किनारे का किला, नींव के गल जाने से, धीरे-धीरे धंस रहा है। भागवन्ती का बलवान् शरीर, निस्सार होकर, रघुनाथ के कंधे पर झूल गया। कंधा आंसुओं से गीला हो गया।···उसका मुंह बंद करने का एक ही उपाय था।—रघुनाथ ने वही किया।"[५]

यदि 'सुखमय जीवन' तथा 'बुद्धू का कांटा' में लहँगा पसारने की बात हावी है, तो तीसरी कहानी भी इस भावना से मुक्त नहीं है। लुच्चों का गीत

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां : पृ० ४३
२. वही, पृ० ४२-४६
३. वही, पृ० ४६
४. वही, पृ० ५५
५. वही, पृ० ६[illegible]

एक उदाहरण है, जिसमें लहँगे की बात बराबर उभरती है—

दिल्ली शहर तें पिशौर नुं जाँदिए,
कर लेणा लौंगां दा वपार मंड़िए;
कर लेणा नाड़ेदा सौदा अड़िए—
(ओय्) लाणा चटाका कदुए नुं।
कद्दू बणया वे मज़ेदार गोरिए,
हुण लाणा चटाका कदुए नुं॥[1]

शायद उपर्युक्त अंश को आचार्य शुक्ल ने नजर-अंदाज कर दिया। और फिर लहनासिंह का सूबेदारनी के प्रति प्रेम···क्या प्रेम था ? क्या बालकों का परस्पर स्नेह अभी तक बना हुआ था ? यदि पच्चीस वर्ष बाद भी दोनों में प्रेम की भावना थी···या मांसल आकर्षण बाकी था, तो क्या इसे सात्त्विक प्रेम कहना उचित होगा ! परस्त्री के प्रति प्रेम···परपुरुष के प्रति प्रेम···या फिर प्रेम को भुनाने का प्रयत्न···ये कुछेक प्रश्न हैं, जो गुलेरी जी की कहानी में अनुत्तरित रहते हैं तथा उनकी कहानियों में व्याप्त विसंगतियों को उघाड़कर रख देते हैं।

अस्तु, गुलेरी जी की कहानियों की मूल संवेदना देह-धर्म के मांसल प्रेम की अभिव्यक्ति मात्र है। किसी आदर्श को थोपना लेखक को अभिप्रेत नहीं था, हां, आलोचकों ने अपने-अपने चश्मे से देखते हुए अर्थ का अनर्थ करने का प्रयत्न अवश्य किया है।

शिल्प-विधान

'सुखमय जीवन' तथा 'बुद्धू का कांटा' कहानियों में परंपराभुक्त शैली के दर्शन होते हैं। उनमें शिल्प की कोई नवीनता नहीं, बल्कि अनघड़ता अवश्य है ! पैबंद लगा घटना-संयोजन बड़ा फीका-फीका-सा है। कथानक में रस मांसल प्रेम का है, घटनाओं के सही संगुम्फन का नहीं। अनावश्यक प्रसंग, अनावश्यक लेखकीय विचार कहानियों की बुनावट को कृत्रिम परिधान पहनाते हैं।

'उसने कहा था' कहानी के शिल्प को लेकर भी दिग्गज आलोचकों ने गुलेरी जी को महान एवं अमर कथाकार घोषित किया है परंतु प्रस्तुत कहानी में भी प्रयुक्त शैली उनकी मौलिकता नहीं है ! अंगरेजी साहित्य में उन दिनों 'स्ट्रीम ऑफ कांशियसनेस' का बोलबाला था; वर्जिनिया वुल्फ की शैली को गुलेरी जी ने अपनाकर हिंदी पाठकों को चमत्कृत तो किया लेकिन उन्हें मौलिकता का श्रेय नहीं दिया जा सकता। दूसरे, पूरी कहानी में यह शैली

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां : पृ० ६६

अपनाई भी नहीं गई है। उत्तरार्ध में इस स्मृति अथवा पूर्व-दृश्य शैली का प्रयोग किया गया है, जबकि पूर्वांश में सपाट-बयानी है।

आंचलिकता

गुलेरी जी का जन्म जयपुर में हुआ और उनका अधिकांश जीवन भी मैदानों में ही बीता। हां, कहीं-कहीं पैतृक गांव—गुलेर की माटी के प्रति मोह आंचलिक शब्दों के प्रयोग के रूप में झलकता-छलकता अवश्य है। शब्दों के आंचलिक प्रयोग की दृष्टि से उन्हें आंचलिक कहानी के क्षेत्र में थोड़ा-सा श्रेय अवश्य दिया जा सकता है। उनसे बहुत पहले श्रद्धाराम फिल्लौरी द्वारा अपने उपन्यास 'भाग्यवती' में आंचलिक शब्दों का प्रयोग किया जा चुका था। गुलेरी जी ने किसी अंचल-विशेष के परिवेश को अपनी कहानियों में उद्घाटित किया हो, ऐसा नहीं है।

निष्कर्ष

गुलेरी जी सशक्त कहानीकार नहीं हैं। उनकी कहानियां संयोजन एवं शिल्प, तथा कथ्य एवं विषयवस्तु की दृष्टि से भी साधारण स्तर की रचनाएं हैं। उनकी कहानियों की मूल संवेदना मांसल प्रेम का रोचक चित्रण प्रस्तुत करने तक ही सीमित है। 'अनाड़ी के सामने लहँगा पसारने' या 'न पसारने' की समस्या का समाधान ही उनको आतंकित करता हुआ जान पड़ता है। बस !

गुलेरी जी की कहानियों में प्रेम का स्वरूप

☐ डॉ० ब्रजनारायण सिंह

मानव-जीवन के समस्त क्रियाकलापों को परिचालित करने वाली दो आदिम प्रवृत्तियां हैं—क्षुधा और काम । पेट की भूख बाह्य क्रियाव्यापार को परिचालित करती है और काम की भावना संस्कृति के विकास को। चिन्तकों ने इन्हीं दो प्रवृत्तियों को अलग-अलग नामों में परिगणित किया है। काम की भावना जब शरीर के धरातल पर कार्य करती है तो 'वासना' कहलाती है और यही वासना भावना की उच्चतर भावभूमि पर पहुंचकर प्रेम का रूप धारण कर लेती है। जब-जब वासना या मांसल सौंदर्य-चित्रण साहित्यकार का अभीष्ट रहा, इस प्रवृत्ति को गर्हित समझा गया। रीतिकाल इसका स्पष्ट उदाहरण है। पर जब काम की प्रवृत्ति को केवल वायवी धरातल पर ही वर्णित करने का प्रयत्न किया गया तब वह छायावाद जैसी विधा के रूप में सामने आया। गुलेरी जी का व्यक्तित्व ऐतिहासिक दृष्टि से मांसल सौंदर्य के चित्रण (रीतिकाल) और द्विवेदी-युग के सुधारवादी तथा पुनर्स्थापनवादी युग के संधिस्थल पर खड़ा है। संस्कृत तथा प्राकृत साहित्य की परंपरा अबाध गति से रीतिकाल को छूती हुई भारतेन्दु-युग तक चली आई थी, गुलेरी जी अपने प्रकाण्ड पांडित्य के द्वारा उसमें घुल-मिल गए थे। दूसरी ओर, वह पाश्चात्य शिक्षा के संपर्क में आने के कारण नारी-जीवन के बदलते हुए विभिन्न पहलुओं से भी पूर्णतः परिचित थे। इसी कारण उनकी कहानियों में जहां सुधारवादी युग की छाप है वहीं प्रेम और वासना का मिला-जुला रूप भी दिखाई देता है।

गुलेरी जी ने प्रेम के रूप को कहानियों में नागर और ग्रामीण दोनों ही अंचलों में देखने का प्रयास किया है। कोरे आदर्शवाद से जीवन में काम नहीं चल सकता। जीवन के अनुभव को जब तक यथार्थवादी ढंग से प्राप्त न किया जाए, वह काल्पनिक जगत् का प्रलाप मात्र ही रह जाता है। इसी कारण

'सुखमय जीवन' का जयदेवशरण वर्मा जो स्वयं अविवाहित ही नहीं, नारी-संपर्क से नितान्त अछूता भी है गृहस्थ-जीवन पर पुस्तक तो लिख लेता है पर प्रत्यक्ष जीवन में लड़की को देखते ही अपना संयम खो बैठता है। गुलेरी जी ने उसका आत्मविश्लेषण करते हुए लिखा—"दो ही पहर में, मैं बालक से युवा हो गया था। अंगरेजी महाकाव्यों में, जहां-जहां प्रेमिका-प्रेमिक का वार्तालाप पढ़ा था, वहां-वहां का दृश्य स्मरण करके वहां-वहां के वाक्यों को घोख रहा था, पर यह निश्चय नहीं कर सका कि थोड़े परिचय पर भी बात कैसे करनी चाहिए। अंत को अंगरेजी पढ़नेवाले की धृष्टता ने आर्यकुमार की शालीनता पर विजय पाई और चपलता कहिए, बेसमझी कहिए, ढीठपन कहिए, पागलपन कहिए, मैंने दौड़कर कमला का हाथ पकड़ लिया।"[1] गुलेरी जी का यह चित्रण एक ओर नवयुवक के आदर्शवाद का मजाक उड़ाता है तो दूसरी ओर विदेशी संस्कृति की तत्कालीन प्रेमविषयक धारणा पर व्यंग्य भी करता है, जिसे 'सुखमय जीवन' में उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है—"मैं उपनिषद् और योग-वाशिष्ठ का तर्जुमा पढ़ा करता हूं। स्कूल में लड़के बिगड़ जाते हैं; प्रबोध को इसलिए घर पर पढ़ाता हूं।"[2]

प्राचीन परंपरा से जुड़े होने के कारण गुलेरी जी प्रेम के मांसल और शरीरी रूप की ही कल्पना करते हैं पर इस दिशा में वह उसे उच्छृंखल और पाशविक नहीं होने देते। उनका प्रेम प्रथम दर्शन से प्रारंभ होता हुआ नारी और पुरुष के सान्निध्य से धीरे-धीरे परिपक्व होकर प्रगाढ़ता प्राप्त करता है। उनका प्रेम अमर्यादित नहीं, शास्त्रसम्मत विवाहानुमोदित है। 'सुखमय जीवन' में, कमला को देखते ही जयदेवशरण वर्मा का संयम काफूर हो जाता है। कमला का रूप-सौंदर्य उसे विमोहित कर लेता है—"पारसी चाल की एक गुलाबी साड़ी के नीचे चिकने काले बालों से घिरा हुआ उसका मुखमण्डल दमकता था और उसकी आंखें मेरी ओर कुछ दया, कुछ हँसी और कुछ विस्मय से देख रही थीं। बस, पाठक ! ऐसी आंखें मैंने कभी नहीं देखी थीं। मानो वे मेरे कलेजे को घोलकर पी गईं।"[3] कमला का यह आकर्षण नारी का सहज स्वाभाविक आकर्षण है जो मध्ययुगीन प्रेम-काव्य की कल्पना साकार करता है। पुरुष प्रथम दर्शन के इस प्रेम में आबद्ध होकर सब-कुछ भूल जाता है। नारी-रूप की आकांक्षा के अंकुरित होते ही पुरुष बहुधा संयम खो बैठता है। यहीं पुरुष के पौरुष और संयम की परीक्षा होती है और यहीं आकर 'सुखमय जीवन'

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां : सम्पा० शक्तिधर गुलेरी, पृ० २४
२. वही, २२
३. वही, पृ० २०

का नायक उच्छृंखल बन जाता है। रजनीगंधा की क्यारियों के बीच कमला का रूप उसे उन्मत्त कर देता है और वह भावावेश में उसका हाथ पकड़कर कहता है—"प्यारी कमला, तुम मुझे प्राणों से बढ़कर हो; प्यारी कमला, मुझे अपना भ्रमर बनने दो। मेरा जीवन तुम्हारे बिना मरुस्थल है, उसमें मंदाकिनी बनकर बहो। मेरे जलते हुए हृदय में अमृत की पट्टी बन जाओ। जब से तुम्हें देखा है, मेरा मन मेरे अधीन नहीं है। मैं तब तक शांति न पाऊंगा जब तक तुम —"[1] कमला का यह रूप छायावादी कवियों के रूप-सौंदर्य की कल्पना को ताज़ा कर देता है।

प्रेम के क्षेत्र में पुरुष की अपेक्षा नारी अधिक सचेत, संयमित और पुरुष-पारखी होती है। वह पुरुष की छिपी वासना तथा प्रेम के सहज रूप को प्रथम दृष्टि में ही पहचान लेती है। इस कारण उसकी प्रेमाभिव्यक्ति बहुत संयमित रहती है। जयदेवशरण वर्मा कहता है—"पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक पहचान सकती हैं कि कौन अनुभव की बातें कह रहा है और कौन गप्पें हांक रहा है।"[2] नारी की इसी सूक्ष्म दृष्टि की ओर इशारा करते हुए गुलेरी जी 'बुद्धू का कांटा' के नायक की मन:स्थिति का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि जो पुरुष नारी के परिवेश से दूर रहते हैं और जीवन में मां या बहिन के अतिरिक्त नारी का सान्निध्य नहीं प्राप्त कर पाते वे बहुधा 'बुद्धू का कांटा' के रघुनाथ की तरह नर्वस हो जाते हैं। "पिता की आज्ञानुसार वह विवाह के लिए घर उसी रुचि से आ रहा था जिससे कि कोई पहले-पहल थियेटर देखने जाता है। कुएं पर इतनी स्त्रियों को इकट्ठा देखकर वह सहम गया, उसके ललाट पर पसीना आ गया और उसका बस चलता तो वह बिना पानी पिए ही लौट जाता।"[3] इतना ही नहीं, स्त्रियों के समुदाय में रघुनाथ की कैसी दयनीय स्थिति हो जाती है; गुलेरी जी के शब्दों में देखिए—"संकोच, प्यास, लज्जा और घबराहट से रघुनाथ का गला रुक रहा था; उसने खाँसकर कण्ठ साफ करना चाहा।"[4] पर भागवंती के उद्दण्ड व्यवहार के आगे वह और भी नर्वस हो जाता है।

वास्तव में गुलेरी जी का व्यक्तित्व रीतिकालीन मांसल सौंदर्य-चित्रण की परंपरा और द्विवेदी-युग के आदर्शवादी दृष्टिकोण के संधि-स्थल पर खड़ा था। उस समय तक नगरीय सभ्यता अपने आधुनिक रूप में विकसित नहीं हो पाई

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां, पृ० २५
२. वही, पृ० २७
३. वही, पृ० ३८
४. वही, पृ० ३९

थी तथा ग्रामीण अंचल पर मध्ययुगीन प्रभाव पूरी तरह छाया हुआ था। इसी कारण ग्रामीण उन्मुक्त वातावरण में पली हुई लड़कियों के रूप में जो आकर्षण होता है वह शहरी जीवन में देखने को नहीं मिलता। ग्रामीण अंचल की किशोरियों का रूप-चित्रण करते हुए गुलेरी जी कहते हैं—"कोई चौदह-पंद्रह बरस की लड़की, शहर की छोकरियों की तरह पीली और दुबली नहीं, हृष्ट-पुष्ट और प्रसन्नमुख। आंखों के डेले काले, कोए सफेद नहीं, कुछ मटिया नीले और पिघलते हुए। यह जान पड़ता था कि डेले अभी पिघलकर वह जायेंगे। आंखों के चौतरंग हँसी, ओठों पर हँसी और सारे शरीर पर निरोग स्वास्थ्य की हँसी।"[1]

भारतीय प्रेम-पद्धति में पुरुष प्रेम का प्रस्ताव करता है और स्त्री स्वीकृति देकर उसे कृतकृत्य करती है। प्रेम के इस क्रिया-व्यापार में नारी अपनी सलज्जता और गरिमा बनाए रखती है तथा पुरुष उसे संरक्षण देने में पौरुष की अनुभूति करता है। पुरुष के पौरुषपूर्ण साहसिक प्रयत्न की ओर ही बहुधा नारी आर्कषित होती है। गुलेरी जी ने भारतीय प्रेम-पद्धति के परंपरागत रूप को 'उसने कहा था' में अक्षुण्ण बनाए रखा है। इस कहानी में प्रेम का स्वरूप किशोरावस्था के प्रथम दर्शन से प्रारंभ होकर क्रमश: विकसित होकर संयोगा-वस्था में पूर्णता न प्राप्त कर वियोगावस्था (त्रासदी) में पूर्ण होता है। अमृतसर के बाजार में एक लड़का और लड़की मिलते हैं, तो लड़का लड़की से पहला सवाल करता है—"तेरी कुड़माई हो गई?" और लड़की के नकारात्मक उत्तर पर प्रसन्न हो दूसरे-तीसरे दिन भी यही प्रश्न दुहरा देता है। पर यकायक एक दिन आशा के विपरीत जब लड़के को पता चलता है कि उसकी कुड़माई हो गई है तो वह इस अप्रत्याशित उत्तर से क्षुब्ध हो, कई ऊल-जलूल काम कर बैठता है। तीव्र मानसिक आघात से विक्षिप्त लहनासिंह का जो वर्णन गुलेरी जी ने इस सदी के प्रारंभ में किया, वह मानव-मन के चेतन, उपचेतन तथा अचेतन मन की विभिन्न पर्तों को खोल देने वाला है। गुलेरी जी के चरित्रचित्रण की इस मनोवैज्ञानिकता से पाठक आश्चर्यचकित रह जाता है।

लहनासिंह अपने बचपन के प्रेम को पच्चीस साल बाद भी भुला नहीं पाता तो सूर के 'लरिकाई कौ प्रेम कहौ अलि कैसें छूटत'[2] की बात अक्षरशः सत्य प्रतीत होती दिखाई देती है। पच्चीस साल बाद अचेतन में पड़े हुए अपने प्रति कोमल भाव को पुनर्जागृत कर सूबेदारनी लहनासिंह को अपने पति और पुत्र के बारे में कहकर उससे सुरक्षा की भीख मांगती है। ठीक वैसे ही जैसे बचपन

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां, पृ० ४०
२. सूरसागर-२, सम्पा० नंददुलारे वाजपेयी, छंद ४६६४

में तांगे के घोड़े से उसने सूबेदारनी को प्रदान की थी। लहनासिंह का उदात्त प्रेम परिस्थितियों का संघात सहता हुआ अपनी पूर्वप्रेमिका के प्रति अपने उत्तर-दायित्व का निर्वाह करता है। लहनासिंह के इस उदात्त प्रेम में न तो कहीं त्रियोग का गिला है और न सूबेदारनी की अप्राप्ति का पश्चात्ताप, अपितु भारतीय प्रेम के उदात्त रूप के आगे अपने प्राणों का उत्सर्ग करने वाले पुरुष के पराक्रम की पूर्णता का परिचय है। इस प्रकार गुलेरी जी ने 'उसने कहा था' में अपनी पहली दो कहानियों से भिन्न जिस निर्मल प्रेम की अवतारणा की है, वह कहानी की प्राणवत्ता को और भी सशक्त बना देती है।

गुलेरी जी ने अपनी कहानियों में प्रेम के निरूपण में जिस सिद्धहस्तता का परिचय दिया है वह उन्हें कहानी-कला की दृष्टि से समय से आगे ले जाता है। उनकी कहानियों में प्रेम प्रथम दर्शन से प्रारंभ होकर क्रमिक रूप में विकसित होते हुए पूर्णता को प्राप्त होता है। 'सुखमय जीवन' का जयदेवशरण वर्मा 'बुद्धू का कांटा' का रघुनाथ और 'उसने कहा था' का लहनासिंह किशोरावस्था वाले प्रेम से अपनी प्रेमयात्रा प्रारंभ करते हैं, भले ही पहली दोनों कहानियों के नायक आयु की दृष्टि से किशोर न रहे हों, पर उनका क्रियाव्यापार पाठकों के सम्मुख उन्हें अपरिपक्व बुद्धि वाले व्यक्तियों के रूप में ही प्रस्तुत करता है। अतः वह असंयमित व्यवहार करते देखे जाते हैं। जयदेवशरण वर्मा द्वारा कमला का हाथ पकड़ना, रघुनाथ का भागवंती की नाक पर घूंसा मारना नायक के अपरिपक्व मस्तिष्क की बात ही दुहराते हैं जबकि इसके विपरीत लहनासिंह अपनी किशोरवय के अनुरूप ही व्यवहार करता है। उसका प्रेम ही स्वाभाविक गति से विकसित होकर उदात्तता को प्राप्त होता है। इस दृष्टि से गुलेरी जी की कहानियों में प्रेम का जो स्वरूप चित्रित हुआ है वह कहानीकार की प्रखर प्रतिभा का सहज परिचायक है।

गुलेरी जी की कहानियों में आंचलिकता

☐ डॉ० मनोहरलाल

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कहानियों में 'आंचलिकता की खोज' वाली बात भले ही चौंकाने वाली लगे, पर यह सही है कि जब हिंदी कहानी 'घुटुरुन-चलत' की स्थिति में थी, तब उन्होंने उसे सजीव भंगिमा तथा शैली और शिल्प की नई दिशा दी थी। जब कालजयी कथा-कृति 'उसने कहा था' की भूरि-भूरि प्रशंसा करते समय आलोचक[1] उसे अलेक वाह (Alec Waugh) कृत 'द सल्यूथ हाउण्ड' (The Sleuth Hound), एडगर वैलेस (Edgar Wallace) कृत अंगरेजी कहानी 'द ग्रेटर बैटल' (The Greater Battle), एच० पी० प्रीवोस्ट बैट्टर्सबाई कृत अंगरेजी कहानी 'ए नाइट अफ्फेयर' तथा हेनरी बार्बस कृत फ्रांसीसी कहानी 'बुतोर' जैसी कहानियों की उस पर छाया का उल्लेख करके भी उसे भारतीय वातावरण में रसी-पगी श्रेष्ठतम कहानी बताते हैं तब तुलसी-दास कृत 'रामचरितमानस' की याद हो आती है, जो 'नानापुराणनिगमागम-सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' होने पर भी अपनी मौलिकता के लिए जनमानस का कंठहार बना हुआ है। यही स्थिति 'उसने कहा था' की भी है। गुलेरी जी की प्रतिभा को रेखांकित करने के लिए इतना ही कहना चाहूंगा।

गुलेरी जी की कहानियों में आंचलिकता की चर्चा करने से पूर्व यह इसलिए लिखना पड़ा कि जिस युग में उन्होंने कहानियों में आंचलिकता का बीज बोया था तब 'आंचलिकता' शैली नहीं थी, फिर भी 'आंचलिकता' के कोशगत अर्थ—'कहानी-उपन्यास में प्रचलित आधुनिक प्रवृत्ति जो किसी जनपद या अंचल के जीवन को समग्र रूप से चित्रित करना अपना उद्देश्य

१. नया निर्माण नये संकल्प : राजनाथ पाण्डेय, पृ० १५८, १६०-१६१, मानकचंद बुक डिपो, उज्जैन, १९६१ ई०

मानती है'—के परिप्रेक्ष्य में गुलेरी जी की कहानियों को परखने से स्पष्ट हो जाता है कि उनमें कथित भूगोल हिमाचल प्रदेश के चंबा, कांगड़ा या पंजाब के अमृतसर, लुधियाना, लायलपुर तथा जगाधरी तक ही सीमित नहीं, बल्कि उनमें उत्तर प्रदेश के प्रयाग और शिकारपुर तथा राजस्थान के कतिपय अंचलों की जीवनधारा की भीनी-भीनी गंध भी बहुत कुछ मौजूद है। और जर्मन की माटी की भीनी-भीनी गंध इस कहानी में है ही, यह सर्वविदित है।

मजे की बात यह है कि 'सुखमय जीवन' तथा 'बुद्धू का कांटा' कहानियां 'मैं' शैली में लिखी गई हैं जो उस युग के लिए नई चीज थी। और जिन लोगों ने गुलेरी जी के जीवनचरित की रूपरेखा को समझकर इन कहानियों को पढ़ने का प्रयास किया है वे जानते हैं कि इन कहानियों का उनके छात्रजीवन तथा प्रौढ़ावस्था के जीवन-संग्राम से खूब तालमेल बैठता है, यही कारण है कि लेखक इनमें आत्माभिव्यक्ति की दृष्टि से बखूबी प्रतिबिंबित है। इसीलिए इनमें भौगोलिक तथा लोक-संस्कृति के बीज विद्यमान हैं। क्योंकि किसी प्रतिबद्धता का शिकार होकर आंचलिकता को उभारना उनका लक्ष्य नहीं था, भले ही भाषा के प्रयोगों को जनपद-विशेष की बोली की शब्दावली से संवारने का खूब प्रयास किया गया। भाषा का यह प्रयोग ही आंचलिकता की बात को शक्ति प्रदान करता है। यह उनकी शैली है। इसे उनकी रचना की 'पहचान' कहना चाहिए।

लोक-संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो 'बुद्ध का कांटा' में झंडीपुर की विवाह-पद्धति पर की गई टिप्पणी अंचल-विशेष के रीति-रिवाज, धार्मिक रूढ़ियों, लोक-विश्वासों तथा परंपरागत मान्यताओं का सटीक चित्रण करने में समर्थ है—"कन्यादान के पहले और पीछे वर-कन्या को, ऊपर तक दुशाला डालकर, एक-दूसरे का मुंह दिखाया जाता है। उस समय दुलहा-दुलहिन जैसा व्यवहार करते हैं, उससे ही उनके भविष्य दाम्पत्य-सुख का थर्मामीटर मानने वाली स्त्रियां बहुत ध्यान से उस समय के दोनों के आकार-विकार को याद रखती हैं। जो हो, झंडीपुर की स्त्रियों में यह प्रसिद्ध है कि मुंह-दिखौनी के पीछे लड़के का मुंह सफेद फक् हो गया और विवाह में जो कुछ होम वगैरा उसने किये, वे पागल की तरह। मानो उसने कोई भूत देखा था। और लड़की ऐसी गुम हुई कि उसे काटो तो खून नहीं। दिन-भर वह चुप रही और बिड़रायी आंखों से जमीन देखती रही; मानो उसे भी भूत दीख रहे हों। स्त्रियों ने इन लक्षणों को बहुत अशुभ माना था।"[१]

वास्तव में, यह लोक-रीति तथाकथित झंडीपुर की नहीं, बल्कि गुलेरी जी के पैतृक गांव गुलेर-जनपद के लोक-जीवन से भी मेल खाती है।

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां, पृ. [illegible]

लोक-संस्कृति की दृष्टि से 'उसने कहा था' भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उस में सिक्ख-पंथ के उदात्त आदर्शों तथा सैनिक-जीवन को मूर्तित करने के लिए भी 'आंचलिकता' जैसी शैली का सहज सहारा लिया गया है। 'अमृतसर' के वातावरण की निबंधना के कारण आलोचक इसे 'पंजाबी वातावरण' की कहानी भी कहते हैं, पर वास्तविकता यह है कि कहानी का सारा वातावरण तथा भाषागत सौंदर्य कांगड़ा के गुलेर-जनपद का है जिसे किसी सीमा तक नागरता का जामा पहनाने के लिए 'अमृतसर' की संकरी सड़कों पर ला खड़ा कर दिया गया है। यथा—"तेरी कुड़माई हो गई ?···हां, हो गई···देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा सालू !" तथा जर्मन की खंदकों में ठंड से सिकुड़ते सिपाहियों का शृंगार रस की तथाकथित अश्लीलता से सना गीत—"क्या मरने-मराने की बात लगायी है। मरें जर्मनी और तुर्क ! हां भाइयो, कुछ गाओ। हां, कैसे—

दिल्ली शहर तें पिशौर नुं जाँदिए,
कर लेणा लौंगा दा बपार मडिए;
कर लेणा नाड़ेदा सौदा अड़िए—
(ओय्) लाणा चटाका कदुए नुं।
कद्दू वणया वे मजेदार गोरिए,
हुण लाणा चटाका कदुए नुं॥

यह गीत सैनिक-जीवन की संस्कृति का दिग्दर्शन कराता है। खंदकों के जीवन तथा जर्मन के लोगों के लोक-व्यवहार के परिप्रेक्ष्य में लेखक युद्ध के वातावरण को आंचलिकता की परिसीमाओं में ही स्पष्ट करता है। सिक्ख सैनिकों द्वारा अश्लील गीत गाकर अपना मनोरंजन करना युग-बोध तथा सैनिक-मनोविज्ञान का परिचायक है।

सिक्ख-धर्म के उदात्त आदर्श के चित्रण के संदर्भ में मात्र यह उद्धरण ही पर्याप्त होगा—"अचानक आवाज आयी—'वाह गुरु जी की फतह ! वाह गुरु जी का खालसा !'···एक किलकारी और—अकाल सिक्खां दी फौज आयी ! वाह गुरु जी दी फतह ! वाह गुरु जी दा खालसा !! सत्त सिरी अकाल पुरुष !!!

" 'पर यहां तो तुम आठ ही हो !'

" 'आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिक्ख सवा लाख के बराबर होता है ! चले जाओ।' "[१]

आंचलिकता की दृष्टि से गुलेरी जी का भाषा-प्रयोग उल्लेखनीय है। उनकी भाषा में हिमाचली कांगड़ी की ध्वनियों तथा शब्दावली का भंडार है। इस दृष्टि

१. गुलेरी जी को अमर कहानियां : पृ० ७०, ७२

से 'बुद्धू का कांटा' में—"बा'छा (बादशाह) मेरे हाल में आपका क्या जी लगेगा? गरीबों का क्या हाल? रब (प्रभु) रोटी देता है, दिन भर मेहनत करता हूं, रात पड़ा रहता हूं। बा'छा, तुम जैसे साईं (सीधा-सादा) लोकों की बरकत से मैं हज कर आया, ख्वाजा का उर्स देख आया, तीन वेले (समय) नमाज पढ़ लेता हूं, और मुझे क्या चाहिए? बा'छा, मेरा काम टट्टू चलाना नहीं है। अब तो इस मोती की (घोड़े का नाम) की कमाई खाता हूं, कभी सवारी ले जाता हूं, कभी लादा (बोझ, गूण), ढाई मण कणक (गेहूं) पा (डाल) लेता हूं, तो दो पौली (चवन्नी) बच जाती है। रब की मरजी, मेरा अपना घर था, सिंहों (सिक्खों) के वक्त की माफी जमीन थी, नाते (संबंधी)-पड़ोसियों में मेरा नाम था।···एक रात को मैं खाना बना-खिला के अपनी मंजड़ी (खाट) पर सोया था कि, मेरे मौला (प्रभु) ने मुझे आवाज दी—'लाही-लाही हज कर आ'। मैं आंखें मल के (कर) खड़ा हो गया···मैं तेरे नाल हूं, मैं तेरा बेड़ा पार करूंगा।··· सबने समझा, मर जाएंगे, पानी में गोर (कब्र) बनेगी···जहाज के नाल (साथ) डूब गया···उस पाजी के हाथ की अंगुली में एक बेंत की सली (लित्त, तिनका) चुभ गयी थी···आप-जैसे साईं लोकों (सज्जनों) की बंदगी (इज्जत, प्रणाम) करता हूं, रब का नाम बड़ा है।···तुझे रात-दिन ऊतपन ही सूझता है। इन्हें गलसूंड चला गया।"[1] जैसे वाक्य हिंदी भाषा को हिमाचली पहाड़ी के पास ले जाने में समर्थ हैं। इससे लगता है कि लेखक की दृष्टि भाषा को सहज और सरल बनाने के साथ अंचल-विशेष की भाषिक संरचना के रंग में रंग देने की भी रही है। 'उसने कहा था' के आरंभ में चित्रित वातावरण को भी आंचलिक भाषा का बाना पहनाया गया है।

इस कहानी में लहनासिंह ने 'बुलेल की खड्ड' के किनारे भाई कीरतसिंह की गोद में मरने की बात कही है। यह 'बुलेल की खड्ड' गुलेर और हरिपुर के बीच बहने वाली बनेर या बंडेर (बाण गंगा) ही है। 'बुद्धू का कांटा' में इस खड्ड का बड़ा जीवंत वर्णन है।

गुलेरी जी की कहानियों में कतिपय ठेठ आंचलिक शब्दों का प्रयोग है—जैसे—'लाड़ी होरां', 'सूबेदारनी होरां'। हमारे यहां कांगड़ा में बहू को 'लाड़ी' कहते हैं। राजस्थान तथा समीपवर्ती क्षेत्रों में 'लाड़ी' या 'लाड्डी' रूप भी प्रयुक्त होते हैं जो 'लाडली' अर्थ के सूचक हैं। 'होरां' प्रत्यय आदरसूचक है। 'उसने कहा था' में इसका प्रयोग जब सन् १९१५ ई० किया गया तो इसकी आंचलिक गरिमा को सरस्वती-संपादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी खूब पहचाना था। और यह गुलेरी जी की आंचलिक भाषा की ही विशेषता थी कि आचार्य

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां, पृ० ३३-३६

जैसे संपादक ने 'अश्लील गीत' को कहानी का महत्त्वपूर्ण पहलू समझा और ज्यों का त्यों प्रकाशित कर दिया।

इतना ही नहीं, 'सुखमय जीवन' में—सुपने, घोख; 'बुद्धू का कांटा' में—चाह (चाय), गिरी, गोह, लाहना, जिदो, बट, डेले, गलसूंड, केरियों, टिघल, खिरती, थांवला, खातीचिड़े, कलामुण्डी; तथा 'उसने कहा था' में—लीक, गुथ, गनीम, जलजला, उदमी, पाधा, घुमां, तमाकू, सिगड़ी, मांदे, मुरब्बे, खोते, सौहरा, मंजा, पोल्हूराम, मत्था टेकना, लाम, बेड़े, तीमियों, ओबरी, हाड़ तथा पट्ट आदि शब्द भाषा को आंचलिक शक्ति प्रदान करने के लिए ही प्रयुक्त किए हैं।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि हिंदी कहानी के शैशवकाल में गुलेरी जी ने आंचलिकता की छौंक लगाकर जिस भाषाशैली का सूत्रपात किया था, बाद के हिंदी कथाकारों ने उसे अपनी शैलीगत विशिष्टता के रूप में अपनाया, और उस दिशा में नये प्रयोग करके हिंदी कथा-साहित्य में आंचलिकता को रूपाकार दिया। कहने का आशय यह है कि हिंदी कहानी और उपन्यास में आंचलिकता की प्रवृत्ति लाने का श्रेय बहुत-कुछ पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जी को जाता है। उनके बाद हिमाचल प्रदेश के कहानीकारों में इस प्रवृत्ति को यशपाल, मस्तराम कपूर, विजय सहगल, सुशीलकुमार फुल्ल, सुंदर लोहिया तथा केशव आदि ने अपने कथा-साहित्य में अपनाया है।

गुलेरी जी की पहली कहानी :
सुखमय जीवन

□ इब्बार रब्बी

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने तीन ही कहानियां लिखी हैं—'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का कांटा' और 'उसने कहा था'। तीनों का प्रकाशन-काल १६११-१५ ई० के बीच कभी है। यह वह समय है जब हिंदी गद्य और पद्य आधुनिक रूप में ढल रहा था। कहानी नया रूप ले रही थी। प्रेमचन्द अभी क्षितिज पर चमक नहीं रहे थे। रहस्य और रोमांच का हिंदी कथा-साहित्य में बोलबाला था। ऐसे समय में गुलेरी जी तत्कालीन लेखन से ऊपर उठकर जीवन के गंभीर और मार्मिक पक्षों का उद्घाटन करते हैं। यह साधारण बात नहीं है। आगे चलकर जो परंपरा बनी और हिंदी कहानी की मुख्य धारा बनी, उसके बीज गुलेरी जी ने ही बोए हैं। प्रेमचन्द, प्रसाद, मोहन राकेश, आदि उन्हीं का विस्तार और विकास करते हैं।

फलैश बैक में कहानी कहना या आंचलिक तत्त्वों का इस्तेमाल, यह सब गुलेरी जी के यहां भरपूर है। इन दोनों प्रवृत्तियों के जनक गुलेरी जी ही हैं। आगे चलकर जितने भी कथा-आंदोलन हुए, जहां-जहां कहानी और कहानीकार गए उन सबके सूत्र भी गुलेरी जी में किसी-न-किसी तरह ढूंढ़े जा सकते हैं।

कवियों और लेखकों का सर्वप्रिय विषय है—प्रेम। सारा सत्साहित्य प्रेम के बखान या व्याख्या में लगा रहा है। गुलेरी जी की तीनों कहानियां प्रेम-कहानियां ही हैं। उन्होंने जीवन के सबसे मार्मिक और गहन तत्त्व को थाह लिया है, इसीलिए वह केवल तीन कहानियों से अमर हो गए। दरअसल, उन्हें केवल एक कहानी 'उसने कहा था' ने ही अमरत्व प्रदान कर दिया, शेष दो का प्रचार-प्रसार अधिक नहीं हुआ। हिंदी के हर श्रेष्ठ और प्रतिनिधि कथा-संकलन में सबसे ऊपर 'उसने कहा था' ही होती है। हर पीढ़ी का लेखक अपने को गुलेरी जी से जुड़ा हुआ पाता है।

गुलेरी जी की पहली कहानी 'सुखमय जीवन' 'एक्सपोजर', पाखंड के भंडाफोड़, की कहानी है। पात्र अपनी पोल खुलने से डरते हैं। बाबू जयदेवशरण अभी छात्र ही हैं कि उन्होंने एक पुस्तक लिख डाली है—'सुखमय जीवन' जिसमें अच्छी गृहस्थी चलाने के नुस्खे बताए गए हैं। यानी अविवाहित व्यक्ति 'सुखी विवाहित जीवन' का रहस्य समझा रहा है, है न पाखंड। इन लेखक महाशय से बाबू गुलाबराय वर्मा और उनकी पुत्री कमला बहुत प्रभावित हैं। उसी पुस्तक के कारण वे उन्हें महान विद्वान और अनुभवी लेखक समझते हैं, जबकि लेखक महोदय को विवाह और गृहस्थी का कतई अनुभव नहीं है। आजादी के बाद भारतीय राजनीति और समाज में जिस पाखंड का खुले-आम जोरशोर से प्रचलन हो गया, उसके अंकुर गुलेरी जी के समय मौजूद थे। कांग्रेस का 'मध्यवित्त वर्ग-चरित्र' और उसमें घुसे पाखंड को लोग आज अच्छी तरह जानते हैं। धार्मिक कर्मकांडों में पाखंड की परंपरा भारत में बहुत पुरानी है। क्या इस सबकी ओर भरपूर इशारा यह कहानी नहीं कर रही है?

लक्ष्य प्राप्त करने का एक तरीका यह भी है कि जिस चीज को प्राप्त करना है, उसके लिए नाटक रचिए। क्या यही कारण तो नहीं है कि अविवाहित जयदेवशरण ऐसे विषय पर पुस्तक लिखता है, जिसके लिए वह तरसता है। दमित इच्छाएं अवचेतन मन में जाकर बाहर आती हैं तो पुस्तक का आकार ले लेती हैं। जयदेवशरण पाखंडी नहीं है, अपराधी नहीं है। वह केवल रोगी है। पुस्तक लिखकर वह अपनी दमित इच्छाओं का केवल प्रकटीकरण मात्र कर रहा है, लेकिन कमला और उसके पिता उसे ढोंगी मान लेते हैं। यह आंतरिक व्यवहार और सामाजिक व्यवहार के टकराव से उत्पन्न हुई स्थिति है, जिसे गुलेरी जी 'कहानी' बना देते हैं।

मोटे शब्दों में इसे 'कथनी और करनी का भेद' भी कहा जा सकता है। यह शायद पाखंड और ढोंग से अधिक नरम प्रयोग है। इस विभेद को चित्रित करने के लिए ही गुलेरी जी इस कहानी में एक नहीं दो कथाएं कहते हैं। मूलकथा तो जयदेव और कमला के बीच घटती ही है, दूसरी उपकथा जयदेवशरण के मित्र के बारे में है। इस उपकथा से गुलेरी जी अपने समय की सामाजिक स्थिति को उजागर करते हैं—जिसमें बाल-विवाह की कुरीति आम बात थी। गुलेरी जी अपने समय के जागरूक चितेरे हैं। वह हर कुरीति और ढोंग पर चोट करते हैं। वह उन्हें ढहाना चाहते हैं। इसीलिए वह अपने समय के प्रगतिशील कथाकार हैं।

गुलेरी जी का समय वह है जब आदर्शवादी नवयुवक बाल-विवाह का विरोध करते हैं, लेकिन खुलकर नहीं कह पाते। मित्रों में और समवयस्कों में आदर्शवाद के चलते वे बाल-विवाह के विरोधी हैं, पर माता-पिता के सामने

सिर झुका लेते हैं। उनके सामने खड़े होकर, नजर मिलाकर नहीं कह सकते कि मैं बच्ची से विवाह नहीं करूंगा। माता-पिता को देखकर उनकी सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती है। उन्हें माता-पिता डिक्टेटर जैसे लगने लगते हैं। जाहिर है यह, आदर्शवादी रोमान बालू के किले की तरह ढह जाता है। जीवन के प्रति यथार्थ से कहीं अवैज्ञानिक समझदारी का यही हश्र होना था। गुलेरी जी पुनः एक पाखंड का भंडाफोड़ करते हैं। वह रोमांटिक विचारधारा का गिरता हुआ गढ़ साफ-साफ देख लेते हैं—" मेरे घर सितारपुर के १५ मील पर कालानगर है—वहां की मलाई की वरफ अच्छी होती है और वहीं मेरे मित्र रहते हैं, वे कुछ सनकी हैं। कहते हैं, जिसे पहले देख लेंगे, उससे विवाह करेंगे। उनसे कोई विवाह की चर्चा करता है, तो अपना सिद्धांत के मंडन का व्याख्यान देने लग जाते हैं। चलो, उन्हींसे सिर खाली करें।

" ख्याल पर ख्याल वंधने लगा। उनके विवाह का इतिहास याद आया। उनके पिता कहते थे कि सेठ गनेशलाल की एकलौती बेटी से अब की छुट्टियों में तुम्हारा विवाह कर देंगे। पड़ोसी कहते थे कि सेठजी की लड़की कानी और मोटी है और आठ ही वर्ष की है। पिता कहते थे कि लोग जलकर ऐसी बातें उड़ाते हैं, और लड़की वैसी हो भी तो क्या, सेठ जी के कोई लड़का है नहीं, बीस-तीस हजार का गहना देंगे। मित्र महाशय मेरे साथ-साथ पहले डिबेटिंग क्लबों में बाल-विवाह और माता-पिता की जबरदस्ती पर इतने व्याख्यान झाड़ चुके थे, अब मारे लज्जा के साथियों में मुंह नहीं दिखाते थे। क्योंकि पिता जी के सामने चीं करने की हिम्मत नहीं थी। व्यक्तिगत विचार से साधारण विचार उठने लगे। हिंदू समाज ही इतना सड़ा हुआ है कि हमारे उच्च विचार चल ही नहीं सकते। अकेले चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। हमारे सद्विचार एक तरह के पशु हैं, जिनकी बलि माता-पिता की जिद और हठ की वेदी पर चढ़ाई जाती है··· भारत का उद्धार तब तक नहीं हो सकता···"

यह दृश्य शताब्दी के शुरू में १९११ ई० के आसपास का है। मित्र महाशय की पिता जी के सामने चीं करने की हिम्मत नहीं थी। यह पिता का कोरा आदर और भय ही नहीं था। इस आदर के मूल में कहीं बीस-तीस हजार के गहनों की चमक-दमक भी दबी है, जो मुंह खोलने नहीं देती यानी सारा आदर्शवाद और भाववाद अंत में जाकर भ्रष्ट आचरण का ही सहयोगी बनता है।

गुलेरी जी जिस कुरीति का उल्लेख कर रहे हैं, वह आज भी कायम है, भले ही बाल-विवाह आज न होते हों, पर दहेज का दानव और भी विकराल हो उठा है। आज इंजीनियर, डाक्टर और प्रोफेसर युवक दहेज का विरोधी है। पर कहेगा, 'मुझे कुछ नहीं चाहिए पर माता-पिता ही बात करेंगे,' यानी मैं तो

उनका आज्ञाकारी हूं और वे दहेज जरूर लेंगे। मैं उनका विरोध कैसे कर सकता हूं।'

जितनी उच्च शिक्षा और योग्यता वर की होगी उतना ही दहेज और रुपया अधिक देना होगा। यही नहीं, विवाह के बाद यही मध्य वर्ग के, वणिक्-बुद्धि के लोग पढ़ी-लिखी बहुओं को जीवित जला रहे हैं और किसी को कोई सजा नहीं मिलती। बहू जलाने के बाद लाड़ले बेटे की दूसरी, तीसरी शादी हो जाती है। दहेज भी दूसरी, तीसरी बार मिल जाता है। इस सामाजिक अभिशाप के बीज गुलेरी जी क्या अपनी इस कहानी में जयदेवशरण की मूल कथा से पहले उपकथा में नहीं दिखा देते हैं ?

सामाजिक रीति-रिवाजों और कुरीतियों के वर्णन और उन पर प्रहार की दृष्टि से गुलेरी जी का अध्ययन किया जाय तो रोचक और महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आएंगे।

इस शताब्दी के पहले दशक को हम गुलेरी जी की आंखों से आज भी देख सकते हैं। वह बहुत समसामयिक हैं शायद इसीलिए शाश्वत भी हैं। 'मुहल्ले में तार का चपरासी आया, टेलीग्राम का यह उल्लेख कहानी को आधुनिक और सामयिक बना देता है। सामाजिक जीवन में जो भी नये परिवर्तन आ रहे हैं उन्हें गुलेरी जी रेखांकित करते हैं। फिर भले ही वह टेलीग्राम हो या साइकिल का प्रवेश, । जो चीजें पुरानी हो जाती हैं, उनका उल्लेख चलते-चलते कर दिया जाता है, लेकिन नई चीजें समाज को लंबे समय तक झकझोर देती हैं। इसलिए उनका उल्लेख विशेष तरीके से या अधिक अलंकृत तरीके से होता है। पुरानी पड़ने पर उस चीज की चमक कम हो जाती है फिर लोग उसका जिक्र विशेषणों या अतिशयोक्ति के साथ नहीं करते। साइकिल उन दिनों नई चीज थी। लोग उसे आश्चर्य से देखते थे। गुलेरी जी उसे 'लोहे का घोड़ा' कहते हैं। यानी ऐसा आविष्कार जिसने सामंती मध्य युग के वाहन घोड़े को अपदस्थ करके विलुप्त कर दिया। जो बाद में घर-घर में अपनी जगह बनाने वाली थी उस क्रांतिकारी परिवर्तन के बिंदु को लेखक पहचान रहा है, इसलिए साइकिल के बारे में अलग से पूरा वर्णन है—"बाइसिकिल भी गजब की चीज है। न दाना मांगे न पानी, चलाये जाइए जहां तक पैरों में दम हो।" इन पंक्तियों में परिवर्तन के आर्थिक कारणों को पहचाना जा सकता है।

लिनोटाइप की मशीन का भी उल्लेख है। इसी कहानी में प्लेग का जिक्र तीन बार है। उन दिनों प्लेग का प्रकोप ऐसा ही था जैसा आज कैंसर का है। उस समय के चाल-ढाल और फैशन को भी यहां जाना जा सकता है।—"कमला पारसी चाल की गुलाबी साड़ी पहने है।" यह उन दिनों की सबसे फैशनेबुल

पोशाक थी। पारसी महिलाओं को उन दिनों सबसे अधिक आधुनिक माना जाता था। कमला के पिता 'पंजाबी ढंग की दाढ़ी' रखे अधेड़ महाशय हैं।

लेखक मध्यवर्ग का है। उसके पात्र भी मध्यवर्ग के ही हैं। हिंदी कथा-साहित्य में मध्यवर्ग का ही सर्वाधिक चित्रण हुआ है। अधिकतर लेखक उसी वर्ग के हैं इसलिए उच्च और निम्नवर्ग का जीवन हिंदी कहानी में अधिक प्रामाणिक नहीं है जबकि मध्यवर्ग के हर पहलू, हर अंग-प्रत्यंग का विस्तार से चित्रण है। कथा-साहित्य पर मध्यवर्ग के सर्वाधिकार का सूत्र भी हमें गुलेरी जी के यहां मिलने लगता है, जहां विद्वान दिखाई देना अच्छा समझा जाता है और मजदूर नजर आना हेय। कहानी का नायक अपनी दुर्दशा के बारे में कहता है—"मेरा सारा आकार सभ्य विद्वान का सा नहीं, वरन सड़क कूटने वाले मजदूर का सा हो गया।"

गुलेरी जी स्वयं संस्कृत, व्याकरण, पुरातत्त्व, इतिहास, ज्योतिष आदि के विद्वान थे। क्या नायक की यह कथा स्वयं लेखक का आत्मकथ्य नहीं है? सभ्य विद्वान जैसा नजर आना लेखक की महत्त्वाकांक्षा ही है, जो नायक में ढाल दी गई है।

संस्कृत और पुरातन विद्या का यह विद्वान रूढ़िवादी नहीं है, गतिहीन जड़-बुद्धि नहीं है। वह नई चीजों, नये जीवन को अपनाते हैं। गुलेरी जी की प्रगति-शील दृष्टि उन्हें आज भी प्रासंगिक और जीवंत बनाए हुए है। नये और पुराने के बीच जीने का आलम, पुराने से ग्रहण और नये का स्वीकार उनकी शैली में छनकर आया है। संस्कृत के परंपरागत उपमानों के साथ वह हल्के-फुल्के ढंग से आम आदमी की प्रतिक्रियाएं रख देते हैं। सौंदर्य के लिए 'तीर से मारा जाना' और 'तारामैत्रक' और 'चक्षुमैत्री' का एकसाथ प्रयोग उनके यहां अस्वाभाविक नहीं है—

"पारसी चाल की एक गुलाबी साड़ी के नीचे चिकने काले बालों से घिरा हुआ उसका मुख-मंडल दमकता था और उसकी आंखें मेरी ओर कुछ दया, कुछ हँसी और कुछ विस्मय से देख रही थीं, बस पाठक, ऐसी आंखें मैंने कभी नहीं देखी थीं, मानो वे मेरे कलेजे को घोलकर पी गईं, एक अद्भुत, कोमल, शांत ज्योति उनमें से निकल रही थी, कभी एक तीर में मारा जाना सुना है? कभी एक निगाह में हृदय बेचना पढ़ा है। कभी तारामैत्रक और चक्षुमैत्री नाम आये हैं।"

"'सुखमय जीवन' का लेखक और ऐसा घृणित चरित्र," यह वाक्य इस कहानी का मूल वाक्य है। इसी सूत्र के चारों ओर कहानी बुनी गई है। चरित्र को बेनकाब करना ही 'सुखमय जीवन' का मूलाधार है। चीजों को साफ किए

बिना, दृष्टि की धुंध दूर किये बिना जीवन सुखमय हो भी कैसे सकता है! चरित्र की यह चिंता भी मध्यवर्ग वाली ही है।

जयदेवशरण की उक्त पुस्तक को लेकर कमला के माता-पिता में मतभेद है। पिता उसे प्रामाणिक और अनुभवसंभव जीवन का निष्कर्ष मानते हैं, जबकि कमला की मां उसे कोरी गप्पों की पोथी कहती है। उन्हें वह बनावटी लगती है। उनके विचार में लेखक अनुभवशून्य है, उसने हवाई किले बनाए हैं। कहना नहीं होगा कि पुरुष आकाशगामी है, जबकि स्त्री के पांव ज़मीन पर हैं। उसे सत्य की पहचान है। वह यथार्थ के करीब है, जबकि पुरुष का स्वभाव अयथार्थ-वादी है। स्त्री-पुरुष के स्वभाव की इस बुनियादी पहचान को गुलेरी जी कलात्मकता से चित्रित करते है। सब-कुछ बेनकाब हो जाने के बाद जयदेवशरण कमला के पिता से कहता है—"चाचा जी, उस निकम्मी पोथी का नाम मत लीजिए, वेशक कमला की मां सच्ची हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक पहचान सकती हैं कि कौन अनुभव की बातें कह रहा है और कौन गप्पें हांक रहा है।"

उसने कहा था :
मनोभावों का विश्लेषण

□ डॉ० कमला रंजन

श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी की ख्याति-स्तंभ कहानी—'उसने कहा था' वर्षों से हिंदी कहानी-साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाए रही और आगे भी बनाए रहेगी क्योंकि यह शाश्वत मानव-मनोभाव पर आधारित है। इस कहानी पर एक चलचित्र भी बना जो इसकी लोकप्रियता और महत्त्व को स्थापित करता है। जिस युग में यह प्रकाशित हुई, उस युग में मनोविज्ञान कहानी-साहित्य का विषय नहीं बना था और न मन की उलझन तथा अवचेतन की प्रेरणा की व्याख्या कथा-साहित्य में मुख्य आधार-शिला थी। गुलेरी जी ने अवचेतन मन को कहानी का साध्य बनाकर आने वाले युग को एक नया निर्देश दिया। इसीलिए इस कहानी को अपने युग से आगे की रचना स्वीकार किया गया। वर्षों तक विज्ञ आलोचक इसे उपन्यास माना जाए या कहानी—इस तरह की आलोचना करते रहे थे। कलात्मकता, शिल्पविधान तथा मनोविज्ञान आदि की दृष्टि से यह कहानी हिंदी कहानी-साहित्य में अपना अन्यतम स्थान रखती है।

'उसने कहा था' मानवीय शाश्वत भावों को प्रकाशित करने वाली, कर्तव्य और त्याग की कहानी है, जिसमें नायक-नायिका के मधुर रागात्मक मिलन की क्षणिक आभा उनके संपूर्ण व्यक्तित्व और जीवन को आलोकित करती है। दोनों ओर से सुकुमार मनों में उद्वेलित प्रेम की सहज आकांक्षा निश्छल है, उच्छृंखल, चंचल या वासनारंजित नहीं। इसमें सरल, सहज, सुकुमार मन की सनातन तरल भावना है। दोनों ओर समाज, परिस्थिति तथा जीवन-संघर्ष के मध्य यह मधुर भाव अवचेतन मन की निधि बनकर रह जाता है। इसीलिए अचानक २५ वर्ष बाद लहनासिंह को देखकर सूबेदारनी उसे पहचान लेती है। वर्षों के सुख-दुःख की गहराई में गृहस्थी की उलझनों में भी सूबेदारनी अमृतसर के उस बालक

को पहचान गई, यह प्रेमाकर्षण की अद्भुत गंभीरता है। संघर्ष-संकुल जीवन की उलझनों के बीच अवचेतन की आकांक्षा एक विश्वास के साथ लहनासिंह के सामने अनुरोध, भिक्षा एवं प्रार्थना बनकर आती है, सूबेदारनी के अंतर्मन में लहनासिंह के प्रति अखंड विश्वास है, स्नेह है। वह कहती है—वर्षों पहले तुमने मुझे घोड़े की लात से बचाया था, इस बार भी मेरी सहायता करना। मेरा पति और एक ही पुत्र है—दोनों युद्ध में जाते हैं, इनकी रक्षा करना। सूबेदारनी का आंचल पसारकर, पति एवं पुत्र की जीवन-रक्षा की भीख मांगना, उस शाश्वत सहज स्नेह की मांग है, जो लहनासिंह के मन में कहीं-न-कहीं सुषुप्तावस्था में था। उसे पच्चीस वर्ष पहले की एक शर्मीली सरल बालिका की याद हो आई। लहनासिंह के सामने सब-कुछ सजीव हो उठा, भावावेश की स्थिति में आंखों में आंसू आ गए। २५ वर्ष का संघर्ष-संकुल जीवन तिरोहित होकर अमृतसर की सरल बालिका का स्नेह-स्फुटित अनुराग उसके जीवन का सर्वस्व बन गया। युद्ध-संघर्ष के बीच भीषण ठंड, बर्फ और वर्षा की परेशानी, खंदक में बैठे-बैठे हड्डियां जकड़ रही थीं, पिंडलियां तक कीचड़ में धंसी थीं। चारों ओर कान के परदे फाड़ने वाले धमाकों से खंदक हिल जाती थी, सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती थी। हड्डियों में जाड़ा धंस जाता था। सूर्य का कहीं पता ही नहीं था। और खाई के दोनों तरफ मौत मुंह खोले मनुष्य को निगल जाना चाहती थी। इस भीषण ठंड में लहनासिंह के जीवन में एक मधुर स्मृति उजाला बनकर उसे आशा, उल्लास और उमंग दे रही थी। परसों रिलीफ आ जाएगी और फिर वह सात दिन की छुट्टी का मधुर स्वप्न देख रहा था। वह स्वीकार करता है कि—"मेरा डर मत करो, मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूंगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाए हुए आंगन के आम के पेड़ की छाया होगी।" लेकिन लहनासिंह का यह विश्वास, यह आशा, यह स्वप्न, पूरा नहीं हो पाता है। कर्तव्य और त्याग की बलिवेदी पर वह अपना सब-कुछ अर्पण कर, एक अपार आत्मसुख में खो जाता है, क्योंकि—'उसने कहा था'। बोधासिंह बीमार है। उसके लिए वह अपने दोनों कंबल और जरसी उसे दे, अपना गुजारा सिगड़ी (आग) के सहारे करता है। उसकी जगह पर स्वयं पहरा देता है। उसे सूखी लकड़ी के तख्तों पर सुलाता है, अपने-आप कीचड़ में पड़ा रहता है। अवचेतन की प्रेरणा तथा तीक्ष्ण बुद्धि और सतर्क आंखों से वह नकली लपटन को पहचान-कर वजीरासिंह को, सूबेदार को वापस बुलाने के लिए भेजता है। लहनासिंह निडर, निर्भय हो उस नकली साहब की हर गतिविधि को देखता है जो खंदक में बमगोले लगाकर जलाना चाह रहा था। और फिर तत्क्षण – "बिजली की तरह दोनों हाथों से उलटी बंदूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तानकर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी।

लहनासिंह ने एक कुंदा साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'आँख मीन गौट्ट' कहते हुए चित हो गए। लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खंदक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली, तीन-चार लिफाफे और डायरी निकालकर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।"

युद्ध की इस विषम स्थिति में नकली लेफ्टिनेंट की पिस्तौल की गोली खाकर भी लहनासिंह खड़ा था। और तक-तककर दुश्मनों को मार रहा था। वह बड़ी हिम्मत, साहस और धैर्य से लड़ रहा था। इसी बीच उसको दूसरी गोली पसली में लगी। —"उसने घाव को खंदक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाकी का साफा कसकर कमरबंद की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना को दूसरा घाव— भारी—घाव लगा है।"

लहनासिंह अपने कर्तव्य पर डटा रहा। युद्ध की समाप्ति के बाद जो रिलीफ की गाड़ी आई उसमें लहनासिंह सूबेदार को जिसके 'दाहिने कंधे में से गोली आरपार निकल गई थी' तथा बोधासिंह को कसम देकर भेजता है और स्वयं दूसरी गाड़ी (स्वर्ग की गाड़ी) की प्रतीक्षा में यह कहकर कि—"मेरे लिए वहां पहुंचकर गाड़ी भेज देना और जर्मन मर्दों के लिए भी तो गाड़ियां आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूं ? वजीरासिंह मेरे पास है ही"—वह रुक जाता है। उसका जीवन जवाब दे रहा था, उसे आभास हो रहा था, लेकिन हिम्मत, साहस और अवचेतन की प्रेरणा से वह खड़ा था। जाते हुए सूबेदार से वह सूबेदारनी होरां को मत्था टेकना और मुझसे 'जो उनने कहा था वह मैंने कर दिया' का संदेश देता है। गाड़ी के जाते ही वह लेट गया। "वजीरा, पानी पिला दे और मेरा कमरबंद खोल दे। तर हो रहा है।" उसके जीवन का लक्ष्य पूरा हो गया था।

अनेक भाषाओं के पंडित होने पर भी गुलेरी जी ने जन-सुलभ सरस-सरल भाषा को ही इस कहानी के लिए उपयुक्त माना। कहानी में जाति-विशेष और फौज की व्यावहारिक भाषा स्वाभाविक ढंग से प्रयुक्त है। जनपदीय तथा स्थानीय शब्दों और भाषा का नूतन प्रयोग-विधान, जो बाद में कथा-साहित्य में प्रचलित हुआ, 'उसने कहा था' में प्रांजलता, स्वाभाविकता और मधुरता का संगम उपस्थित करता है। शिल्पविधान की दृष्टि से यह कहानी उपन्यास की भांति लहनासिंह के संपूर्ण व्यक्तित्व की समीक्षा करती हुई पवित्र प्रेम और कर्तव्य की अद्वितीय मिसाल बनकर हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि की तरह स्वीकार की जाती रही है।

प्रम और कर्तव्य का मनोविज्ञान

'उसने कहा था' में लेखक ने प्रणय की असफलता को भी बड़ी सावधानी तथा सफलता से अंकित किया है। उसका नायक, और पाठक दोनों पर गंभीर प्रभाव पड़ता है। बालक और बालिका अमृतसर के बाजार में मिलते हैं। दोनों में सहज आकर्षण उत्पन्न होता है। बातों ही बातों में बालक शर्माता हुआ बालिका से पूछता है—"क्या तेरी कुड़माई हो गई ?" बालिका की ओर से भी सहज रागात्मक 'धत्' की आवाज आती है। दोनों के मन में प्रेम-भावना अंकुरित होने लगती है। लेकिन तभी अचानक एक दिन पूछने पर लड़की ने लड़के से कहा—"हां हो गई, देखते नहीं यह रेशम का कढ़ा हुआ सालू !" तब लड़के की बड़ी विचित्र हालत हो गई। दो अनुरागी मनों के सहज-सरल आकर्षण-प्रेम-बंधन टूट गए। पाठक के मन में उस विक्षिप्त परेशान बालक के प्रति एक अजीब स्नेह, दया, सहानुभूति की भावना पैदा होती है, जो रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेलता है, एक छबड़ी वाले की दिन-भर की कमाई गिरा देता है, एक कुत्ते को मारता है, गोभी वाले के ठेले में दूध डाल देता है और एक सद्य.स्नाता वैष्णवी से टकराकर अंधे की उपाधि पाता हुआ घर पहुंचता है। बालक के मनोभाव को स्पष्ट करने के लिए मनोविज्ञान का सहारा लिया है। लेखक उसकी विक्षप्तावस्था, अव्यवस्थित निराशाजन्य मानसिक स्थिति, उसके मन की व्यथा, उलझन, संघर्ष और पराजय को हमारे सामने रखने में सफल होता है। जहां आशा के फूल खिलने वाले थे, वहां निराशा का ज्वार-भाटा आता है। बालक उस नैराश्य में उन्मादित हो अपने मन की पराजय को जिस प्रकार प्रकट करता है, वह उसके मानसिक भावों का.प्रतिफलन जान पड़ता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार, प्रत्येक दमित इच्छा के साथ भावावेग का संबंध होता है, जो अपना प्रवाह का मार्ग ढूंढ़ लेता है। अगर मन की इच्छा को पूर्णता नहीं मिलती या जीवन में विपरीत फल सामने आ जाता है तो मन की ठीक यही स्थिति होती है। वह अपनी कुंठा, नैराश्य और पराजय को विविध तोड़-फोड़ तथा विध्वंस में प्रकट करता है जैसा कि 'उसने कहा था' का नायक लहनासिंह करता है।

बालक-बालिका का प्रणय-आकर्षण यौवन के शाश्वत रागात्मक भाव का स्फुरण है। इसमें सुप्त काम-वासना का प्रभाव है। यह एक सहज आकर्षण मात्र है। दोनों सघर्ष-संकुल जीवन की त्रिविधता में अपनी-अपनी राह चलते हैं। बहुत व्यस्त जीवन के मध्यभाग में पुन: अचानक दोनों का मिलन होता है। दोनों के जीवन की अपनी-अपनी समस्याएं हैं, अपना-अपना लक्ष्य है। सूबेदारनी लहनासिंह को पहचान लेती है और उसे अपने पास बुलाती है। २५ वर्ष पहले की घटना—उनका मिलन, उनका सहज निश्चल प्रेम आज भी प्रेमिका

के अंतराल में छिपा है। यही निश्चल प्रेम, त्याग और कर्तव्य बनकर, लहनासिंह का आदर्श बन जाता है जिसके फलस्वरूप लहनासिंह अपना जीवन उस निश्चल शाश्वत प्रेम को समर्पित करता है जो उसके जीवन में २५ वर्ष पहले सहज स्फुरित हुआ था। मन की वह प्रथम भावना अचेतन में रहकर उसके संपूर्ण जीवन को गति दे देती है।

फ्रायड ने मानव-जीवन के विकास में उसके अचेतन मस्तिष्क को अत्यंत महत्त्व दिया है। उसके अनुसार मानसिक जीवन के दो छोर—तंत्रिका यंत्र और चेतना के मध्य जो मानसिक प्रक्रिया होती है, वह अचेतन मन होता है। एम० एन० राय ने अपनी पुस्तक 'साइंस ऐंड सुपरस्टीशन' में लिखा है कि 'अचेतन मन मनुष्य के स्वचालित अनुभवों अथवा सामाजिक वातावरण के दबाव से बनी हुई प्रवृत्तियों का एक ढेर होता है। वस्तुतः मनोवैज्ञानिकों के अनुसार हमारे व्यक्तित्व अथवा मन का वह अंश जिसका विकास अवरुद्ध हो, जो बराबर किसी-न-किसी कारण पिछड़ी दशा में पड़ा रहे, वह अचेतन मन है। जितनी अनैतिक, अधार्मिक, अव्यावहारिक तथा असामाजिक इच्छाएं तथा व्यवहार मनुष्य करता है और जिन्हें वह बड़ा होकर स्वयं अपना नहीं कहना चाहता वे सभी इच्छाएं-भावनाएं अचेतन मन में स्थान पाती हैं। लेकिन मुख्यतः अचेतन मन की सुप्त भावनाओं से ही मानव का संपूर्ण व्यक्तित्व संचालित होता है। इसे ही 'अनुभवात्मक मानसिक शक्ति' कहा गया है। सामाजिक बंधनों के कारण मनुष्य अनेकानेक इच्छाओं की पूर्ति न हो पाने से उनका दमन करता है। ये इच्छाएं दमित होकर अचेतन मन में सुषुप्तावस्था में रहती हैं और उसके जीवन को गति देती हैं।

हम देखते हैं कि युद्ध के मैदान में लहनासिंह के संपूर्ण व्यक्तित्व को 'उसने कहा था' प्रेरक शक्ति बनकर संचालित करता है। वह उसके आत्मोत्सर्ग, त्याग, बलिदान का कारण बनता है। लहनासिंह उस आदर्श प्रेम के लिए बलिदान होता है, जिसमें वासना का स्थान नहीं होता है; वैसे तो फ्रायड ने मानव-जीवन के संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास का आधार सेक्स या काम भावना माना था, जिसकी बाद में बड़ी आलोचना हुई। अनेकानेक मनोवैज्ञानिकों ने भी इस सिद्धांत को महत्त्व नहीं दिया। वैयक्तिक मनोविज्ञान के निर्माता एडलर ने काम-प्रवृत्ति की अपेक्षा 'आत्मस्थापना' की प्रवृत्ति को महत्त्व दिया तथा चेतन-अचेतन स्मृतियों के संबंध को व्यक्ति की श्रेष्ठ भावना से प्रभावित माना। जुंग ने अचेतन मन के कंपेंसटरी फंकशन सिद्धांत के आधार पर सिद्ध किया कि मानव का व्यक्तित्व विकास में नहीं, अचेतन उसे विशेष प्रकार में परिवर्तित करता है।

जिस समय गुलेरी जी ने कहानी-साहित्य के सृजन का कार्य किया, उस समय कहानी या उपन्यास साहित्य में मनोविज्ञान को आधार मानकर प्रणयन की प्रथा नहीं थी। यह प्रथा सन् १९३० के आसपास शुरू हुई और धीरे-धीरे कथा का

मुख्य विषय मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही बन गया। आरंभिक कहानीकारों को न तो फ्रायड के सिद्धांतों की अपेक्षा थी और न ही मनोविज्ञान की समस्याओं का विश्लेषण ही उनका उद्देश्य था। उन्होंने अपनी कहानियों में जीवन के सत्य भाव को उसकी समग्रता, व्यापकता, गंभीरता तथा भावात्मकता के साथ अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। भावात्मक कहानियों में मन के संघर्षों को स्पष्ट करने के लिए इन लेखकों ने जिस मानसिक संघर्ष एवं सत्य को प्रकट किया वह बाद में मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रणीत नहीं हुआ। गुलेरी जी के सभी पात्रों का सजीव स्वाभाविक और सरल जीवन निर्मित हुआ है। जब हम लहनासिंह के व्यक्तित्व को मनोविज्ञान की तराजू पर तोलते हैं तो उसके भावों की गहराई में, उसके आत्मत्याग की तत्परता में उसके अचेतन की — 'उसने कहा था' — आवाज सुनाई पड़ती है। यह आवाज उसके जीवन का सत्य बन जाती है।

'उसने कहा था' को मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को सुलझाने वाली तथा अचेतन के प्रभाव को स्पष्ट करने वाली विशिष्ट रागात्मक कहानी कहा जा सकता है।

उसने क्यों कहा था :

अधिकार और सीमा

□ कृष्ण विकल

मैं बचपन में संस्कृत का विद्यार्थी था। उन दिनों पंजाब में हिंदी को संस्कृत क्षेत्र के लोग 'भाषा' कहते थे। हमारी धारणा थी कि संस्कृत में सभी कुछ 'सुसंस्कृत' है और 'भाषा' में जो कुछ भी है वह उससे निचले स्तर का है। हम हितोपदेश और पंचतंत्र की शृंखलाबद्ध कहानियों पर लट्टू थे और कथा-कहानी के नाम से हमने अधिक से अधिक कथासरित्सागर का नाम सुना था। उसमें से दो-एक कथाएं गुरुमुख से सुनी भी थीं।

सहदेव मेरा सहपाठी था। उसके पिता जी हिंदी साहित्य में रुचि रखते थे। उनके घर में हिंदी की नई-पुरानी पुस्तकों का अच्छा खासा भण्डार था। वह हितोपदेश या पंचतंत्र का कवर चढ़ाकर रोज कोई न कोई हिंदी की पुस्तक विद्यालय लाता था और दूसरों से छिपकर उसे पढ़ा करता था।

मैं तब छात्रावास में रहता था। छात्रावास में ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन अनिवार्य था। वहां शृंगारपरक पुस्तकें पढ़ने की सख्त मनाही थी। हिंदी के किस्से-कहानियों में जीवन का यथार्थ चित्रण रहता था। नर-नारी-संबंधों की कहानियों में 'शृंगार-चर्चा' साधारण बात है पर यह बात संस्कृत विद्यालय के संस्थापक-संचालकों को स्वीकार्य नहीं थी।

जिस बात की मनाही हो, उधर ध्यान अधिक बँटता है। एक शनिवार की रात को मुझे सहदेव ने एक पुस्तक लाकर दी जिसका कवर तो फटा हुआ था। पर पुस्तक के सब पृष्ठों पर 'हिंदी गल्प' छपा था।

शनिवार की रात को हमारे छात्रावास के अधिपति मुख्य रसोइये पर छात्रावास का भार सौंपकर अपने गांव-घर चले जाते थे। फिर सोमवार प्रातः आते थे। एक तो रसोइया अनपढ़ था, ऊपर से दयालु स्वभाव का था। वह चाहता तो पीछे हमपर कड़ाई रख सकता था। शायद वह इतने कड़े अनुशासन का विरोधी रहा होगा। जो भी हो, हमारी शरारतें देखकर वह बरबस हँसता

रहता था। इस बीच हमको अपनी मनमौज करने का अवसर मिल जाता था।

शनिवार की उस रात मैं पुस्तक लेकर बैठा। पहली (या शायद दूसरी) कहानी थी – 'उसने कहा था'। मैंने रात ही रात में पूरी कहानी पढ़ डाली—एक बार, दो बार। तब पूरी कहानी तो मेरी पकड़ में नहीं आई थी क्योंकि घटना-क्रम आगे का पीछे था। यह मेरे लिए नई चीज थी। पहले भी मैंने सहदेव से लेकर कुछ अय्यारी या तिलिस्मी की कहानियां पढ़ी थीं और उनमें मुझे ऐसी उलझन नहीं हुई थी।

कहानी में युद्ध का लंबा विवरण दिया था, यद्यपि वह भी मुझे कम आकृष्ट नहीं कर रहा था। पर बारह बरस का माँझे का लड़का और आठ बरस की मगरे की लड़की कुछ मन में इस तरह धँस गये थे कि निकल नहीं पा रहे थे।

मुझे लड़के (बाद के लहनासिंह) के प्रेम और विलक्षण त्याग पर गर्व कम होता था, आश्चर्य अधिक होता था। उसके बलिदान पर मेरा बालमन रात-भर शायद रोता भी रहा था। पर लड़की (बाद की सूबेदारनी) ने जो कहा था, वह क्यों कहा था? क्या वह निर्दय नहीं थी कि जिसने उसको बालपन में चाहा उसको तांगे-घोड़े की टांगों से खींचकर बचाया; पच्चीस बरस बाद मिलने पर उसने अपने स्वार्थ के लिए उसे मौत के मुँह में जाने के लिए प्रेरित किया?

तब मैं कोई तेरह बरस का था—वह लड़का बारह बरस का था। यह अद्भुत संयोग था। पता नहीं कैसे मैं अपने को 'लहना' मान रहा था। तब मुझे 'सूबेदारनी' अपराधिनी दिखाई देती थी। और मेरे कोमल हृदय पर इस कहानी ने खासी चोट पहुंचाई थी। मैं तब भी यह मानता था कि यह कहानी है तो बड़ी मर्मस्पर्शी पर···

मुझे याद है, सहदेव को मैंने अपनी यह प्रतिक्रिया बताई थी तो वह बरबस हँस पड़ा था—'यह कहानी मैंने भी चार बार पढ़ी है। कहानी अच्छी है, बस! इससे अधिक क्या! यह तो हम जानते ही हैं कि यह गल्प (गप्प—बनाई हुई कहानी) है! फिर रोना-धोना कैसा! तुम तो निरे अनाड़ी हो···' उसने मुझे डांट दिया था।

मैं डांट खाकर चुप अवश्य हो गया था। पर मेरे मन में कांटा-सा चुभ गया था। फिर उस संग्रह की मैंने दो-एक कहानियां और पढ़ने की चेष्टा की थी। पर 'उसने कहा था' पढ़ने के बाद तब न जाने मुझे और कोई कहानी क्यों नहीं बांध सकी थी।

भारत-विभाजन हो गया। १९५१ ई० में दिल्ली के एक मुद्रणालय में काम करना था। तब मैं बीस वर्ष का था। दो-एक संकलन छपे और उसमें 'उसने कहा था' कहानी को फिर से कई बार पढ़ने का अवसर मिला। कहानी अब

मुझे पहले से अधिक अच्छी लगी थी—शायद मेरे मन-मस्तिष्क का कुछ अधिक विकास हो गया था। पर लड़की (सूबेदारनी) के बारे में मेरी शिकायत फिर भी बनी रही।

१९५४ में मैं हिंदी साहित्य में कुछ 'दखल' रखने लगा था। मैं एक परीक्षोपयोगी पुस्तकों के प्रकाशक के पास काम करता था। मुझे कुछ निबंध-संग्रह और कहानी-संकलन संपादित करने का मौका मिला[1] तो मैंने गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कहानी को एक संकलन के लिए चुना। उसी संग्रह में मैंने हिंदी के यशस्वी कथाकार श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी जी की कहानी भी ली थी।

उन दिनों वाजपेयी जी भारत होटल में टिककर एक नया उपन्यास लिख रहे थे। अपने कार्यालय में मुझे उनके दर्शन हुए तो मैंने उनकी 'मिठाई वाला' कहानी को संग्रहार्थ लेने की अनुमति चाही। उन्होंने सहर्ष दे दी। फिर उन्होंने मेरे संकलन की सूची पर एक दृष्टि डालते हुए पूछा—" 'उसने कहा था' कहानी तुम्हें कैसी लगी ?"

सीधे इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मैं अंदर से तैयार न था। क्योंकि तब मैंने इस कहानी को न केवल नये सिरे से पढ़ा था बल्कि हिंदी के विद्वानों की इस कहानी पर प्रतिक्रियाएं भी देखी थीं। सबने जैसे एक स्वर से इसे हिंदी की सर्वश्रेष्ठ कहानी स्वीकार किया था। किसी आलोचक ने इस कहानी की संवेदना को प्रेम और कर्तव्य का उज्ज्वल प्रतीक माना था। हिंदी के अन्य लेखक इस कहानी में रस के परिपाक, हास्य की स्वस्थ छटा, कहानी-कला के चरम उत्कर्ष, भाषा के आश्चर्यजनक प्रौढ़ प्रयोगों एवं अद्भुत शैली आदि से इतने अभिभूत हुए थे कि वे अवाक्-स्तब्ध रह गये थे। गुलेरी जी का जादू उनपर ऐसा चला कि यह कहानी उनके लिए एक मिसाल बनकर खड़ी हो गई थी—उनके लिए कथाकार एक रहस्यमय चितेरे से कम नहीं था। यह वह काल था जब प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद जैसे समर्थ लेखक अपनी कहानी-कला के आरंभिक चरण में चल रहे थे, ऐसे समय में गुलेरी जी की 'उसने कहा था' हिंदी जगत् में एक चुनौती थी !

इतने जबर्दस्त दबाव के बीच मेरा शंकालु पाठक अपनी जिद पर अड़ा था, यद्यपि उसकी अनुभूति के क्षेत्र का विस्तार हो गया था क्योंकि 'उसने कहा था' के बाद उसे गुलेरी जी की छिटपुट रचनाओं, टिप्पणियों को भी पढ़ने को बाधित होना पड़ा था और उनका लोहा मेरा नया पाठक कैसे न मानता ! तब चकाचौंध से अंधी आंखों से मैं 'उसने कहा था' की गुत्थियों को टटोलता रहा था···

वाजपेयी जी मेरी प्रतिक्रिया जानना चाहते थे। उन्होंने अपना प्रश्न दुहराया। मैंने कहा—"यह कहानी मुझे एक रहस्य की तरह अच्छी लगती है।

१. पर वे संकलन किन्हीं एम० ए०, पी-एच० डी० प्रोफेसरों के नाम से छपे थे।

सबकी प्रशंसित है अतः मैं अपने हृदय में कांटे की चुभन का कैसे बयान करूं ?" फिर मैं सीधे अपनी बात पर उतर आया—"क्या लहनासिंह का पहला प्रेम एक छलना से अधिक था ? जिस लड़की को उसने चाहा, जिसके लिए वह स्वयं घोड़े की टांगों में चला गया उसने उसे क्या दिया ? पच्चीस वर्ष के अंतराल में भी उस लड़की की अनिष्टकारी छाया ने उसे न छोड़ा—न हाल पूछा न चाल, सीधे अपने नये स्वार्थ की बात पर उतर आई—'अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग ! तुम्हें याद है एक दिन···तुमने···मेरे प्राण बचाये थे···ऐसे ही इन दोनों के बचाना···' और भावुक होकर सूबेदारनी के पति और पुत्र के लिए लड़ाई में लहनासिंह ने अपने प्राण न्यौछावर कर दिये ! भला यह लहना की कहां की लायकी थी ! और उस लड़की (सूबेदारनी) ने किस अधिकार से यह सब लहनासिंह को कहा था ?" कहते-कहते मेरे गाल लाल हो गये थे। जबान सूखने लगी थी।

वाजपेयी जी मुस्कराए—"नवयुवक हो न ! तुम्हारा उत्साह प्रशंसनीय है। पर अभी तुम और कथा-साहित्य पढ़ो···शरत्, चेखव, मोपासां···तुम्हारी जिज्ञासा में दम तो है। पर मेरी दृष्टि में, गुलेरी जी का उद्देश्य लहना के चरित्र को दर्शाना है कि कैसे पहला प्यार परिस्थितियों के बदलने पर अशरीरी हो सकता है और जिसने प्यार किया था वह किस सीमा तक जा सकता है। कहानी में नायक है लहना, पर ध्यान दो कि सूबेदारनी 'नायिका' नहीं - और नायिका है भी कोई नहीं। कथा-साहित्य में दोनों—नायक-नायिका रहें, यह जरूरी भी नहीं। तुम्हारी बात भी मान लें कि सूबेदारनी क्रूर, स्वार्थी सही, पर इससे क्या आता-जाता है ! जो लहना ने किया वह लहना के उत्सर्ग को प्रकटाता है···कहो, तुम क्या सोचते हो ?"

मेरा मन वाजपेयी जी के तर्कों से कुछ-कुछ भ्रमित तो होने लगा था। पर मेरे हिय में जो कांटा चुभा था वह अब भी ज्यों का त्यों गड़ा था।

वाजपेयी समाधान देते हुए बोले—" 'उसने कहा था' वैसी ही कृतियों में से एक है जिनके लिए संस्कृत कवि माघ ने कहा था—'जो प्रतिक्षण नई से नई लगे' समझो वह उत्कृष्ट रचना है। तुममें सच्चा जिज्ञासु है। तुम्हारे प्रश्न निरर्थक नहीं हैं। पर तुम समाधान इसी कहानी में ढूंढ़ो। वैसे तुमने मुझे भी नये सिरे से सोचने को बाध्य कर दिया है।" यह कहकर उनकी आंखें कुछ छलछला आईं।

वाजपेयी जी से प्रोत्साहन पा, मैं कहानी की गुत्थियों को रेखांकित करने लगा।

···बारह बरस का लड़का···आठ बरस की लड़की···दोनों का अमृतसर के बाजार में परिचय होता है। लड़का पूछता है—'तेरी कुड़माई हो गई ?' इस

पर लड़की कुछ आंखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई और लड़का मुंह देखता रहा।

लड़के ने यह क्यों पूछा? मैं समाधान ढूंढ़ने लगा कि तू मुझे अपने लिए पसंद है। तू अगर पराई नहीं हुई तो मेरे लिए वरेण्य है, आदि। (यदि भारत का अतीत काल होता जब कन्या को स्वयंवर का अधिकार था तो 'तेरी कुड़माई हो गई ?' से मुराद होता कि यदि तूने किसीको नहीं वरा तो मुझे वर ले!)

लड़की अल्हड़ और भोली-भाली है। उसके पास अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करने के लिए शब्द नहीं के बराबर हैं। उसके लिए ऐसी परिस्थिति जिसमें लड़का उससे प्रणय-निवेदन करे, एकदम कल्पनातीत थी। उसके मुंह से बरबस निकला — 'धत्।'

यह 'धत्' ग्लानिसूचक था, जैसे उसने अपने कानों से वे शब्द सुन लिये हों जो उसके लिए अश्रव्य हों जैसे कि उसकी दोनों उँगलियां सहसा कर्ण-विवरों पर चली गई हों।

दूसरे-तीसरे दिन सब्जी वाले के यहां या दूध वाले के यहां अकस्मात् दोनों मिले जाते। महीना-भर यही हाल रहा।

लड़का लड़की को अपलक देखता होगा। लड़की भी उसकी इस चेष्टा से 'अचल' नहीं रह पाती होगी। आंखों ही आंखों में कुछ आदान-प्रदान होता होगा···कौन जाने तब वह क्या सोचती होगी ? ··

दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा — 'तेरी कुड़माई हो गई।' और उत्तर में वही 'धत्' मिला।

गुलेरी जी का बयान इतना-भर है। फिर एकदम पच्चीस बरस बाद की सूबेदारनी की लहना से अभ्यर्थना···मैं सूबेदारनी के अधिकार और उसकी सीमा को रेखांकित करना चाहता हूं। सूबेदारनी ने यह सब लहना को क्यों कहा था ? दान का ही तो कोई प्रतिदान मांग सकता है। कुछ दिया न हो—मात्र लिया ही लिया हो तो कोई यह हिम्मत कैसे कर सकता है कि भई, पहले तुमने मुझे बचाया था, अब थोड़ी और कृपा करो। युद्ध में मेरे पति और पुत्र की रक्षा करना।

तो क्या लड़की भी उस लड़के से प्यार करती थी ? यदि वह सचमुच प्रेम करती रही हो, यदि वह लड़का भी उसका पहला प्रेमी रहा हो, यदि उसके बालामन में वह कहीं 'गुदगुदी' बन सका हो तब तो संदेह सर्वथा निर्मूल हो सकता है···इस बिंदु पर पहुंचकर मैं उन संकेतों को ढूंढ़ने में जुट गया। किसी ने जो कहा है कि शब्दों से अधिक प्रभावशाली मौन की भाषा होती है। इसीलिए शायद सूबेदारनी ने अपने पूर्व-प्रेम की दुहाई नहीं दी। अपनी भावनाओं को शब्दों में नहीं उतारा—उसे मौन-मूक छोड़ दिया।

'तेरी कुड़माई हो गई ?'—हर बार इस प्रश्न का एक ही उत्तर—'धत् !' पर जैसे-जैसे प्रश्नकर्ता की मुद्रा बदलती रही होगी, वैसे-वैसे 'धत्' शब्द की व्यंजना ने हर बार अलग-अलग रंग की (सतरंगी) चुनरिया न ओढ़ी होगी ?··· इस प्रकार बालमन की इस आंखमिचौनी में एक प्रसंग और जुड़ गया जिसमें लड़के ने अपनी जान पर खेलकर अपनी चहेती को तांगे के घोड़े की टांगों में से निकालकर दुकान के फट्टे पर खड़ा कर दिया ! कुछ ही पलक झपकते लड़के के मन में उठी प्रेम की पराकाष्ठा को क्या लड़की ने अपने प्राणपन से नहीं महसूसा होगा ? और बाहर-भीतर से उसीकी होकर उसकी बांहों में मन ही मन न जा पड़ी होगी ?

आज का 'प्रगतिशील' पाठक समझता है कि आठ-नौ बरस की बालिका प्रेमरस को क्या जाने ! आप उस समय की कल्पना कीजिए, जब सात-आठ बरस की बालिका को ब्याह दिया जाता था और वह किसी की पत्नी बन जाती थी। उस बालामन में यह बात तो अवश्य घुस आती होगी कि उसके चारों ओर एक घेरा लग गया है और वह 'पराई' हो गई है। यह उस युग की कहानी है जब लड़की गाय की तरह बेजबान थी और वह अपने मन के मीत को स्वयं वरने की कल्पना नहीं कर सकती थी।

'उसने कहा था' की इस लड़की के साथ भी यही घटा था। उसका हृदय भले ही तब चूर-चूर हो गया होगा जब उसकी कुड़माई हो गई और उसके सिर पर सालू डाल दिया गया। पर जब लड़के ने पुरानी आदत के मुताबिक इस बार पूछा—'तेरी कुड़माई हो गई ?' तो लड़की का सहज उत्तर था—'हां, हो गई···कल। देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू !' इस तरह बड़ी सहजता और भोलेपन के साथ लड़की ने अपने बालप्रेमी से विदा ली। ऊपर से जैसे कुछ घटा ही न था। दोनों के भीतर एक तूफान था। कथाकार ने लड़के की कुछ ऊलजलूल चेष्टाओं से तो उसे प्रकट कर दिया, पर लड़की के मानस की दशा पर मौन-मूक रहकर एक अद्भुत रहस्यात्मक स्थिति उत्पन्न कर दी !

ठीक पच्चीस बरस बाद, जब लहनासिंह सूबेदार के घर उन्हें लाम में लौटते समय लिवाने आता है तो सूबेदार घर से बाहर आकर कहता है—'सूबेदारनी तुम्हें अंदर बुला रही है।' लहनासिंह चौंकते हुए अंदर प्रवेश करता है तो उसे देखते ही सूबेदारनी कहती है - 'तुम्हें तो मैंने आते ही पहचान लिया था···'

आठ बरस की बालिका पच्चीस बरस के अंतराल के बाद, किसी बालक को दाढ़ी-मूंछ वाले युवक के रूप में देखकर कैसे पहचान सकती है ? उसकी आकृति, उसकी आवाज सबकुछ बदल ही तो जाता है। इस पक्ष में गुलेरी जी की 'शब्दों की मितव्ययिता' कभी-कभी साहित्य-पारखियों की अक्लमंदी का भी जायजा ले

लेती है जब वे मर्मज्ञ इस कहानी में कतिपय विसंगतियों को रेखांकित करने की चेष्टा करते हैं।

यहां साहित्य-मर्मज्ञों के प्रति पूरे सम्मान की भावना रखते हुए, मुझे एक नम्र निवेदन करना है। मुझे लगता है, 'उसने कहा था' कहानी को उसके पूरे संदर्भों में अभी तक समझा नहीं जा सका। यद्यपि कारण यह रहा हो कि कथाकार का मुख्य प्रयोजन लहनासिंह के प्रेम, तथा उत्सर्ग में परिणत उसके उदात्त रूप को दर्शाना था। तभी तो कथाकार ने मृत्युशय्या पर पड़े लहनासिंह की ताजी हो आई स्मृतियों में बीती घटनाओं का एक सिलसिला बांधा है। यहां कथाकार विवश अथवा निरीह जैसा दिखाई देता है। पर वस्तुतः ऐसी बात है नहीं।

एक प्रबुद्ध पाठक कहानी के उलझे सूत्रों को सुलझा सकता है। कहानी के आरंभ में, दोनों के परिचय में लड़की और लड़का एक-दूसरे के बारे में अच्छी तरह जान लेते हैं कि लड़की मगरे की है और लड़का माँझे का। पाठक को यह कल्पना करने पर विवश होना पड़ता है कि भले ही लड़की किसी की धर्मपत्नी बन गई, पर उसके भीतर की प्रेमिका कभी नहीं मरी और उसे समय-समय पर अपने प्रेमिक के बारे में कोई न कोई सूत्र, कहीं न कहीं से, मिलता रहा। कोई बड़ी बात नहीं कि सूबेदार हजारासिंह या बोधासिंह भी लहनासिंह का जिक्र करते हुए उसे बताते रहे हों और इस मूक तपस्विनी के हृदय में प्रेम का पौधा निरंतर खुराक पाता रहा हो। यदि सचमुच ऐसा हुआ हो तो उसकी अधिकार की सीमा बहुत बढ़ जाती है; और तभी सूबेदारनी ने लहनासिंह से जो कहा था उसका औचित्य समझ में आता है। उसका प्रेम यद्यपि शारीरिक नहीं पर अशरीरी रूप से वह उसी की रही। यही अपार्थिव प्रेम लहनासिंह को दिव्य उत्सर्ग की ओर बढ़ने को प्रेरित करता है। उसने मन में कहा होगा—ओ मेरे दिव्य प्रेमी! तुम्हारी वीरता और त्याग से मैं अपने बालापन से ही प्रभावित हूं। तुम मुझे इस जन्म में नहीं पा सकते लेकिन तुम मेरे भर्ता और पुत्र की रक्षा करना, जो इस जीवन में मेरे सर्वस्व हैं।

वैसे, आप लहनासिंह का इकतरफा प्रेम समझकर उसकी उत्सर्ग में परिणति देखते हैं तो भी आप इतने अभिभूत हो जाते हैं। एक क्षण के लिए आप कल्पना कीजिए कि उस लड़की (बाद की सूबेदारनी) को भी उस लड़के (बाद के लहनासिंह) के प्रति उतना ही उत्कट लगाव था फिर उस नारी ने जो कुछ कहा और उसपर लहनासिंह ने, अपने अछूते प्रेम के प्रतिदान में, इस तरह श्रद्धा-सुमन चढ़ाए—तब आप कैसा महसूस करेंगे ?

कहानी में बहुत-कुछ 'अनकहा' है। कहानी का वातावरण ही ऐसा चुना गया है कि उसके प्रेम में इन शब्दों को सजाने की गुंजाइश ही नहीं रहती। वैसे, जब

लहनासिंह को पता चला होगा कि सूबेदारनी ने उसे पहली ही नजर में पहचान लिया तो उसके सामने पच्चीस बरस के लम्बे अंतराल का धुंधलका एकदम फट नहीं गया होगा? और उसने यह नहीं पाया होगा कि यदि मैंने आज तक विवाह नहीं किया, और इतने अरसे तक अपनी बाल-प्रेमिका की मूरत अंदर ही अंदर सँवारता रहा तो यह कोई इकतरफा क्रिया नहीं थी? सचमुच उस लड़की ने अपने बालापन से मेरी छवि अपने अंदर उतार ली थी तभी तो अब तक वह मुझे बिसार नहीं पाई। तब पाने से पहले बिछुड़ी प्रेमिका के और अधिक निकट जाने का उसे एक ही साधन दिखाई दिया होगा, और वह यह कि अपने प्राणों की बलि देकर वह अपने 'सच्चे' होने का सबूत दे। इसीलिए उसने हजारासिंह से विदा लेते हुए कहा था—"सूबेदारनी होरां से कह देना कि जो कुछ उसने कहा था, मैंने कर दिया है।"

इन शब्दों का ठीक-ठीक आशय और कोई समझा हो या नहीं, सूबेदारनी ने इस चिर विदाई को पूरी आत्मीयता के साथ महसूस किया होगा; और इसी से इस कहानी पर उभयेपक्षीय अनन्य प्रेम, किंवा सर्वांगपूर्णता की मुहर लग जाती है।

आज ये अंतिम पंक्तियां लिखते-लिखते सहसा मुझे स्वर्गीय श्री भगवती-प्रसाद वाजपेयी का स्मरण हो आया है। यदि वह होते तो आज मैं उन्हें सूचित करता कि 'उसने कहा था' कहानी में नायक के साथ-साथ नायिका भी, अपनी गुरु गरिमा के साथ, विराजमान है; यह बात दूसरी है कि वह अधिकतर पाठकों के लिए 'अवगुंठनवती' बनी रही!



भाषाविद्

- मौलिक विचारों का खजाना : पुरानी हिंदी
- प्रातिभ भाषाविद् : गुलेरी जी
- हिमाचली पहाड़ी और गुलेरी जी

मौलिक विचारों का खजाना :

पुरानी हिंदी

□ डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया

'पुरानी हिंदी' गुलेरी जी का शोधात्मक निबंध है। इसे जब १९४८ ई० में नागरी प्रचारिणी सभा ने पुस्तकाकार प्रकाशित किया तो तत्कालीन साहित्य-मंत्री आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अपने वक्तव्य में लिखा—"**विचार था कि इसमें उद्धृत अपभ्रंश या अवहट्ट के अवतरणों की वैज्ञानिक टीका-टिप्पणी कराकर जोड़ दी जाए।**"

ध्यातव्य है कि यह कार्य आज दिन तक निकले 'पुरानी हिंदी' के किसी भी संस्करण के लिए नहीं हो पाया।

'पुरानी हिंदी' गुलेरी जी के मौलिक विचारों का खजाना है जिसका अभूत-पूर्व महत्त्व प्रथम प्रकाशन के समय तो था ही, आज भी उतना ही बना हुआ है। पुस्तक में उनके मौलिक विचार प्रारंभ (पृ० १-१९) में हैं, तत्पश्चात् उन्होंने अपने विचारों की पुष्टि में 'शाङ्गंधर पद्धति' से (पृ० १९-२०), 'प्रबंध चिंता-मणि' से (पृ० २४-७२), सोमप्रभाचार्य कृत 'कुमारपालप्रतिबोध' से (पृ० ७२-१२२), माइल्लधवल के पहले का 'दोहाग्रंथ' (पृ० १२२-१२५), 'खड़ी बोली-मलेच्छ भाषा' (पृ० १२५-१३३), हेमचन्द्र का व्याकरण (१३३-१७०) तथा हेमचन्द्र की रचना (पृ० १७०-२४९) से उद्धरण देकर, उनकी व्याख्या करके अपने मत की पुष्टि की है।

प्रायः यह कहा जाता है कि मूल भाषा संस्कृत है और आधुनिक आर्य-भाषाएं उसकी बेटियां हैं अर्थात् उससे विकसित हुई हैं। उन्होंने इसके विपरीत संस्कृत को मूलधारा से निकली नहर माना, मूलधारा नहीं। गुलेरी ज़ी के अपने शब्दों में देखिए :

"वह (संस्कृत) मँजी, छँटी, सुधरी भाषा है। कितने हजार वर्ष के उपयोग से उसका यह रूप बना, किस 'कृत' से वह 'संस्कृत' हुई, यह जानने का कोई साधन

नहीं बच रहा है। वह मानो गंगा की नहर है, नरौने[1] के बांध से उसमें सारा जल खैंच लिया गया है, उसके किनारे सम हैं, किनारों पर हरियाली और वृक्ष हैं, प्रवाह नियमित है। किन टेढ़े-मेढ़े किनारों वाली, छोटी-बड़ी, पथरीली, रेतीली नदियों का पानी मोड़कर यह अच्छोद नहर बनाई गई और उस समय के सनातन भाषा-प्रेमियों ने पुरानी नदियों का प्रवाह 'अविच्छिन्न' रखने के लिए कैसा कुछ आंदोलन मचाया या नहीं मचाया, यह हम जान नहीं सकते। सदा इस संस्कृत नहर को देखते-देखते हम असंस्कृत या स्वाभाविक, प्राकृतिक नदियों को भूल गए। और फिर जब नहर का पानी आगे स्वच्छंद होकर समतल, और सूत से नपे हुए किनारों को छोड़कर, जल-स्वभाव से कहीं टेढ़ा, कहीं गंदला, कहीं निखरा, कहीं पथरीली, कहीं रेतीली भूमि पर और कहीं पुराने सूखे मार्गों पर प्राकृतिक रीति से बहने लगा तब हम यह कहने लगे कि नहर से नदी बनी है, नहर प्रकृति है और नदी विकृति—(हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण का आरंभ ही यों किया है कि संस्कृत प्रकृति है, उससे आया इसलिए प्राकृत कहलाया) यह नहीं कि नदी अब सुधारकों के पंजे से छूटकर फिर सनातन मार्ग पर आई है।

"इस रूपक को बहुत बढ़ा सकते हैं। संभव है कि हमें इसका फिर भी काम पड़े। वेद या छंद्स की भाषा का जितना सात्म्य पुरानी प्राकृत से है उतना संस्कृत से नहीं। संस्कृत में छाना हुआ पानी ही लिया गया है। प्राकृतिक प्रवाह का मार्गक्रम यह है—

१. मूल भाषा, २. छंदस् की भाषा → | ३. प्राकृत → ५. अपभ्रंश
| ४. संस्कृत

"संस्कृत अजर अमर तो हो गई किंतु उसका वंश नहीं चला, वह कलमी पेड़ था। हां, उसकी संपत्ति से प्राकृत और अपभ्रंश और पीछे हिंदी आदि भाषाएं पुष्ट होती गईं और उसने भी समय-समय पर उनकी भेंट स्वीकार की।"[2]

एक अन्य बात की ओर उन्होंने ध्यान दिलाया कि "संस्कृत नाटकों की प्राकृत को शुद्ध प्राकृत का नमूना नहीं मानना चाहिए। वह पंडिताऊ या नकली या गढ़ी हुई प्राकृत है, जो संस्कृत में मसविदा बनाकर प्राकृत-व्याकरण नियमों से गढ़ी गई है। वह संस्कृत मुहाविरों का नियमानुसार किया हुआ रूपांतर है, प्राकृत भाषा नहीं।"[3]

सुप्रसिद्ध वैय्याकरण आचार्य किशोरीदास वाजपेयी जी की चिंतन-प्रक्रिया गुलेरी जी के कथन से मेल खाती है। आचार्य वाजपेयी का कथन है—"उस समय के लोगों को, साहित्यिकों को, वह (प्राकृत) मीठी लगती होगी; हम लोगों

१. वस्तुतः यह राजघाट-नरोरा है, जहां पर गंगा से नहर निकाली गई है और आजकल अणु-बिजलीघर स्थापित किया जा रहा है।
२. पुरानी हिंदी, पृ० १, २. सं० २०३२ वि०
३. वही, पृ० ३

को तो बड़ी अटपटी तथा श्रवणकटु लगती है ! निश्चय ही तीसरी प्राकृत (अपभ्रंश) में वह कृत्रिमता बहुत कुछ बनी रही। ऐसा जान पड़ता है कि दूसरी अवस्था की प्राकृतों में साहित्यिक लोग कृत्रिम प्रयोग करते रहे; परंतु जनता उसे अपने सहज-सुलभ रूप में ही बोलती रही। वही सहज रूप तीसरी अवस्था की जनभाषाओं में आया और वही अधिक विकसित होकर आज हमारी भाषाओं के रूप में उपलब्ध है।··· तृतीय प्राकृत (अपभ्रंश) जहां हिंदी के रूप में आती दिखाई देती है, वहां भी उपर्युक्त प्रवृत्ति आप साहित्य में देख सकते हैं।"[1]

आचार्य गुलेरी ने आगे अपभ्रंश पर विचार करते हुए, वही प्रारंभिक रूपक आगे बढ़ाते हुए कहा—"बांध से बचे हुए पानी की धाराएं मिलकर अब नदी का रूप धारण कर रही थीं। उनमें देशी[2] धाराएं भी आकर मिलती गईं। देशी और कुछ नहीं, बाँध से बचा हुआ पानी है या वह जो नदी-मार्ग पर चला आया, बांधा न गया। उसे भी कभी-कभी छीनकर नहर में लिया जाता था। बांध का जल भी रिसता-रिसता इधर मिलता आ रहा था। पानी बढ़ने से नदी की गति वेग से निम्नाभिमुखी हुई, उसका अपभ्रंश (नीचे को बिखरना) होने लगा। अब सूत से नपे किनारे और नियत गहराई नहीं रही।[3]

प्रायः यह समझा जाता है कि उन्होंने अपभ्रंश को ही 'पुरानी हिंदी' की संज्ञा दी। ऐसा नहीं है, वस्तुतः उन्होंने अपभ्रंश के दो रूप स्वीकार किए—पुरानी अपभ्रंश (प्रारंभिक अपभ्रंश), पिछली अपभ्रंश (उत्तरकालीन अपभ्रंश)।

उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया—'पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली पुरानी हिंदी से।'

इस प्रकार उनका मंतव्य था कि आगे और साहित्य की व्यापक खोज होने पर निश्चित रूप से यह पता लगाया जा सकेगा कि कहां तक के साहित्य को अपभ्रंश माना जाए और कहां से प्राप्त साहित्य को अपभ्रंश न कहकर 'पुरानी हिंदी' कहा जाए जहां से हिंदी का उद्गम हुआ है। इस संबंध में उन्होंने लिखा—

१. हिंदी शब्दानुशासन : पूर्वपीठिका : किशोरीदास वाजपेयी, पृ० १०-१२, सं० २०२३ वि०
२. (अ) विद्यापति ने 'देसिल वअना' का प्रयोग किया है :

देसिल वअना सब जन मिट्ठा।
तं तैंसन जम्पओं अवहट्ठा।

(आ) हेमचन्द्र ने 'देसीनाम माला' शीर्षक से देशी शब्दों को इकट्ठा किया।
(इ) इससे पूर्व पादलिप्ताचार्य 'देशीशब्द संग्रह' कर चुके थे।
(ई) स्वयंभू ने भी प्रयोग किया है : देसी भासा उभय तडुज्जल कवि दुक्कस्यण सद्द सिलालय। पउम चरिउ : प्रथम संधि २।३,४

३. पुरानी हिंदी, पृ० ६

"अभी अपभ्रंश के साहित्य के अधिक उदाहरण नहीं मिले हैं। न उस भाषा के व्याकरण आदि की ओर पूरा ध्यान दिया गया है। अपभ्रंश कहां समाप्त होती है और पुरानी हिंदी कहां आरंभ होती है। उसका निर्णय करना कठिन, किंतु रोचक और बड़े महत्त्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती।"

उनका स्पष्ट मत था कि पुरानी हिंदी 'अपभ्रंश' से भिन्न है। 'पुरानी हिंदी' से उनका तात्पर्य था—'खड़ी बोली हिंदी, मानक-परिनिष्ठित हिंदी के पूर्वरूपों से' जिसको प्रकारांतर से उन्होंने स्पष्ट किया—"आजकल लोग पृथ्वीराज रासो की भाषा को हिंदी का प्राचीनतम रूप मानते हैं, उसका विचार हम अपभ्रंश के अवतरणों के विचार के पीछे करेंगे किंतु इतना कहे देते हैं कि यदि इन कविताओं को पुरानी हिंदी नहीं कहा जाये तो रासो की भाषा को 'राजस्थानी या मेवाड़ी-गुजराती-मारवाड़ी-चारणी-भाटी' कहना चाहिए, हिंदी नहीं। ब्रजभाषा भी हिंदी नहीं और तुलसीदास की मधुर उक्तियां भी हिंदी नहीं।"

उक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थानी, मारवाड़ी, ब्रजभाषा, अवधी आदि हिंदी की उपभाषाएं मानी जा सकती हैं, पर हिंदी नहीं। यह बहुत ही मौलिक दृष्टि थी। इसी आधार पर जनपदीय आंदोलन प्रारंभ हुए। आगे चलकर 'पुरानी हिंदी' का प्रयोग अपभ्रंश के संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में किया—"हिंदी काव्य भाषा के पुराने रूप का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है।...देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिंदी की काव्यभाषा है।"[1]

इस युग के विपुल साहित्य की खोज महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने की और 'हिंदी काव्यधारा' शीर्षक संकलन भी प्रस्तुत किया। इस बीच जैन साहित्य विपुल मात्रा में सामने आया। अनेक कार्य अपभ्रंश भाषा और साहित्य पर किए गए जिनमें उल्लेखनीय हैं—अपभ्रंश साहित्य (डॉ० हरवंश कोछड़), अपभ्रंश भाषा का अध्ययन (डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव), प्राकृत-अपभ्रंश का साहित्य और उसका हिंदी-साहित्य पर प्रभाव (डॉ० रामसिंह तोमर), सिद्धों की अपभ्रंश कृतियों का अध्ययन (रणजीतकुमार साहा), अपभ्रंश भाषा और भविष्यकहा कथा काव्य (देवेन्द्रकुमार जैन), अपभ्रंश का हिंदी साहित्य पर प्रभाव (डॉ० नामवर सिंह) आदि। इनके अतिरिक्त अपभ्रंश के विविध पक्षों पर बीस शोधकार्य हो चुके हैं लेकिन पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने जिस ओर संकेत करके उसको 'पुरानी हिंदी' नाम से अभिहित किया था उस दिशा में कोई व्यवस्थित काम अभी भी

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० १०, २२, सं० २०१८ वि०

आगे नहीं बढ़ सका। उन्हें तो मात्र हेमचन्द्र के शब्दानुशासन[1] से उदाहरण देकर संतुष्ट होना पड़ा।

मेरी दृष्टि में इस दिशा में दो महत्त्वपूर्ण कृतियों का उद्‌घाटन हुआ है जिनको 'पुरानी हिंदी' में सम्मिलित किया जा सकता है—(१) प्राकृत पैंगलम् और (२) राउलवेल।

'प्राकृत पैंगलम्' में पुरानी हिंदी के उदाहरण भरपूर हैं। डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव ने स्वीकार किया है कि 'इस पुरानी हिंदी के अध्ययन में प्राकृत पैंगलम् का स्थान महत्त्वपूर्ण है।' लेखक[2] ने स्वयं इस संबंध में विस्तृत अध्ययन बहुत पहले किया था। इसके नवीन संस्करण के संपादक प्रो० भोलाशंकर व्यास ने इससे संबंधित विषय—पुरानी हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में 'प्राकृत पैंगलम्' का योग—पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। 'प्राकृत पैंगलम्' छंदशास्त्र का ग्रंथ होते हुए भी भाषिक दृष्टि से अद्‌भुत तथा महत्त्वपूर्ण कृति है।

इस दृष्टि से दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति है—राउलवेल। यह शिलांकित काव्य है जिसको लेखक पुरानी हिंदी की कृति स्वीकार करता है। इसको सर्वप्रथम उद्‌घाटित डॉ० भायाणी ने किया। बाद में डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इसकी भाषा पर अध्ययन प्रस्तुत किया। लेखक[3] ने स्वयं इस शिलांकित काव्य पर विस्तार से लिखा। प्रस्तुत कृति की कुछ भाषिक विशेषताएं इस प्रकार हैं—

१. उकारबहुला प्रवृत्ति, जैसे—काजलु, लाछतु, मणु, रातउ, चाँगउ, भालउ।
२. संज्ञाओं का भाववाचक रूप बनाने के लिए 'म्व'[4] प्रत्यय का प्रयोग : गम्वारिम्व, तरुणिम्व, तुलिम्व।
३. 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग मिलता है पर 'न' का पूर्णतया बहिष्कार

१. इस पर उल्लेखनीय कार्य हैं :
(अ) सिद्धहेम शब्दानुशासनगत अपभ्रंश का समग्र अनुशीलन और उसका हिंदी पर प्रभाव, (सुकुमारी चतुर्वेदी)
(आ) हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों की पृष्ठभूमि और उसका भाषावैज्ञानिक अध्ययन (परम मिश्र)
२. प्राकृत पैंगलम् की शब्दावली और वर्तमान हिंदी (कैलाशचन्द्र भाटिया) सम्मेलन पत्रिका, वर्ष ४७, अंक ३
३. राउलवेल की भाषा (कैलाशचन्द्र भाटिया), भारतीय साहित्य : अक्तूबर, १९६१ राउलवेल में प्रयुक्त क्रियाएं (कैलाशचन्द्र भाटिया), नागरी प्रचारिणी पत्रिका, मालवीयशती विशेषांक। (अब पुस्तकाकार प्रकाशित 'राउलवेल,' तक्षशिला प्रकाशन, अंसारी रोड, नई दिल्ली-२)
४. हेमचन्द्र ने भी स्वीकार किया है कि मकार अनुनासिक 'वँ' में परिवर्तित होता है।

(८।४।३९७)

नहीं है : विणु, जणु, मांडणु, थण, मणु ।

४. अनुनासिक तथा अनुस्वार के लिए 'बिंदु' का प्रयोग—कांटी, तंबोले, जेंबि, रोडें।

५. कर्ता, कर्म के लिए शून्यविभक्तिक प्रयोग प्रारंभ हो गए थे—
कर्ता—खल जणु सयलइ चाहहिं
कर्म—नेउराणी कान सुहावइ

६. कारकीय परसर्गों का उदय हो गया था—
कर्म—को, कु
करण—सउ, सहुँ, सइ
संप्रदाय—तण
संबंध—करि, करी, केर, केरा, करा
अधिकरण—ऊपरि, ऊपर, पर, माझं, मा, विच

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने अपने ग्रंथ 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध-प्रवृत्तियां' में अपभ्रंश के हस्तलिखित ग्रंथ तथा उपलब्ध अपभ्रंश-साहित्य की सूचियों के अतिरिक्त दो अन्य महत्त्वपूर्ण सूचियां दी हैं—

१. अपभ्रंश के अज्ञात एवं अप्रकाशित ग्रंथों के अंश (२१२ ग्रंथों के अंश हैं)
२. 'पुरानी हिंदी' की रचनाओं के कतिपय अंश

इसमें १. हरिषेणचरिउ (कवि शंकर), २. सदयवत्सवीर प्रबंध (भीम), ३. सदैवच्छ सार्वलिंगा चउपई (मुनि केशव), ४. वसन्तविलास, ५. प्रद्युम्नचरित (संधास), ६. राउलवेल (रोडा), ७. पृथ्वीराजरासो (चन्द), ८. माधवानल-कामकन्दला (गणपति), ९. ढोलामारू रा दोहा (…), १०. कुतुबशतक (…), ११. श्री शान्तिनाथदेवरास (उपाध्याय लक्ष्मीतिलक)।

जो दृष्टि पं० चन्द्रधर जी ने दी उस दिशा में कुछ कार्य अभी बढ़ा तो है, पर अभी बहुत कुछ शेष है।

कौन-कौनसा साहित्य इसमें सम्मिलित किया जाए, यह तो समस्या है ही, साथ ही यह भी विचारणीय है कि 'भाषिक दृष्टि' से इस भाषा को क्या कहा जाए। स्वयंभू ने 'देसी भासा' के अतिरिक्त 'सामण्ण भास' (सामान्य भाषा) का प्रयोग किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसको ही 'देश्यमिश्रित' कहा। 'कीर्तिलता' की अवहट्ठ के संदर्भ में सुप्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० बाबूराम सक्सेना ने 'मैथिल अपभ्रंश' की संज्ञा दी। 'संदेशशासक' की भाषा का अध्ययन करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसको 'अग्रसरीभूत अपभ्रंश' कहा तो उनके शिष्य डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने 'कीर्तिलता' के संदर्भ में 'परवर्ती संक्रान्तिकालीन अपभ्रंश' की संज्ञा दी। इन सब नामों में सर्वथा सार्थक नाम 'पुरानी हिंदी' ही प्रतीत होता है।

प्रातिभ भाषाविद् : गुलेरी जी

□ डॉ० लक्ष्मीशंकर गुप्त

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ १०।४१ ॥

जीव तो ईश्वरांश है ही, चाहे वह कीट-पतंग के शरीर में हो अथवा मनुष्य के, पर जिसमें चेतना और विवेक की ऊर्जा जितनी ही अधिक होती है, वह उतना ही तेजोवान् होता है। प्रायः देखा जाता है कि जगत् में कुछ महापुरुष लोकोत्तर प्रतिभा लेकर अवतरित होते हैं और अपनी दीप्ति से लोक को चमत्कृत करके थोड़े ही समय में ब्रह्मलीन हो जाते हैं। ऐसे महापुरुषों को दीर्घायुष्य प्रायः नहीं मिलता। शंकराचार्य, डॉ० पांडुरंग दामोदर गुणे, भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र सबकी यही दशा रही। पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी भी ऐसे ही तेजस्वी पुरुषों में थे जो सं० १६४० वि० में अवतरित हुए और सं० १६७६ वि० में ऊर्ध्वारोही। इस ३६ वर्ष की अल्पायु में उन्होंने हिंदी-वाङ्मय को जो कुछ दिया, उसे मात्रा की दृष्टि से तो अधिक नहीं कहा जा सकता, पर गुण की दृष्टि से उसकी महत्ता बहुत अधिक है।

गुलेरी जी व्याकरण और भाषा-विज्ञान के गंभीर विद्वान थे और उनके पांडित्य का आधार था—संस्कृत (वैदिक और लौकिक), पालि, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का गहन अध्ययन। 'पुरानी हिंदी' की सामग्री इस तथ्य का प्रमाण है कि नेपाली, पंजाबी, हिमाचली पहाड़ी (कांगड़ी), गुजराती, मराठी, जयपुरी, मारवाड़ी, राजस्थानी, ब्रजभाषा, खड़ीबोली, अवधी और बंगला आदि भाषाओं और उनके लोक-प्रचलित रूपों का उन्हें बहुत अच्छा ज्ञान था। कांगड़ा-स्थित गुलेर उनका पैतृक स्थल था, जहां वह बराबर आया-जाया करते थे। उनका शैशव और किशोरावस्था जयपुर में बीती तथा विश्वविद्यालयीय

शिक्षा प्रयाग विश्वविद्यालय में हुई। उनका कार्यक्षेत्र रहा—जयपुर, अजमेर और वाराणसी।

प्रतिभाशाली पुरुष जिस क्षेत्र में रहता है उसकी भाषा हृदयंगम कर लेता है, उस पर भी यदि कहीं वह व्याकरणिक और भाषा-वैज्ञानिक अभिनिवेश से संपन्न हो, तब तो फिर कहना ही क्या! गुलेरी जी के आधुनिक भाषा-ज्ञान का कारण था उनका विस्तृत क्षेत्र से संबंध तथा उक्त अभिनिवेश। इन भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त उनका अंगरेजी पर भी अच्छा अधिकार था। लेफ्टिनेंट गैरेट के साथ उन्होंने 'द जयपुर ऑबजर्वेटरी एंड इटस् विल्डर' नामक अंगरेजी पुस्तक की रचना की थी। वह लैटिन, जर्मन और फ्रांसीसी भाषाएं भी जानते थे। साहित्य और भाषा के अतिरिक्त पुरातत्त्व, इतिहास, दर्शन, ज्योतिष, संगीत और कला आदि विषयों में भी उनकी अवाध गति थी। इनमें इतिहास और पुरातत्त्व उन्हें भाषा-विज्ञान में बहुत सहायक हुए।

गुलेरी जी की समग्र देन का मूल्यांकन इस छोटे-से निबंध में असंभव है, इसके अतिरिक्त अपनी भी सीमा है, अतः यहां उनकी साहित्यिक तथा अन्य विशेषताओं का विचार न कर के केवल भाषा-वैज्ञानिक प्रतिभा का ही विहंगावलोकन किया जाएगा।

गुलेरी जी ने अपभ्रंश-साहित्य का जो संकलन प्रस्तुत किया है, उसका नाम रखा है—'पुरानी हिंदी'। यह नामकरण ही उनकी भाषा-वैज्ञानिक सूझ का परिचायक है। परवर्ती अवहट्ठ का ढांचा सभी क्षेत्रों में प्रायः सामान्य था, पर उसमें क्षेत्रीय प्रयोग झलक मारने लगे थे। ऐसी स्थिति में उसे वर्तमान आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का प्रारंभिक रूप कहा जा सकता है क्योंकि उसमें उसके बीज निहित हैं, पर उसका एक सार्वभौम नाम होना चाहिए और गुलेरी जी ने वह नाम दिया है—'पुरानी हिंदी'। इस नाम की उपयुक्तता के विषय में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है—

"'पुरानी हिंदी' नाम बहुत सोच-विचार कर प्रयुक्त किया गया है, पुरानी बंगला, पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी मराठी आदि प्रयोगों का भ्रम मिटाने के लिए। जैसे ब्रजभाषा के सर्वसामान्य भाषापद पर आरूढ़ होने पर उसका प्रयोग प्रत्येक प्रांत के निवासी करने लगे और अपने प्रांत के प्रयोग जाने-अनजाने उसमें रख चले पर रीढ़ ब्रजभाषा ही रही, वैसी ही स्थिति अपभ्रंश की भी थी। जिस प्रकार नानक जी की भाषा पंजाबीपन लिए हुए है, श्री भारतीचंद्र की बंगलापन, समर्थ गुरु रामदास की मराठीपन, मीरां की गुजराती-राजस्थानीपन, पर है वह ब्रजभाषा ही, उसी प्रकार जिसे 'पुरानी हिंदी' कहा गया है वह हिंदी ही है, पर उस सोपान तक पहुंचकर प्रांतीय रूप कुछ-कुछ और

कहीं-कहीं परिस्फुट होने लगे थे।"[१] इसी भाषा का परवर्ती रूप 'नागरी' है। अपने **हिंदी साहित्य का अतीत**[२] में आचार्यचरण लिखते हैं—

"जो भाषा जनता में अपभ्रंश के अनंतर सिर उठाने लगी उसका नाम नागरी पड़ गया। व्यापक देशभाषा का नाम देशी लोगों का दिया हुआ 'नागरी' ही है। इसी भाषा को विदेशी लोग 'हिंदवी' कहते थे।" वह आगे लिखते हैं—"अपभ्रंश के अनंतर जनता की भाषा जो बहुत व्यापक क्षेत्र में चलती थी नागरी या हिंदी कहलाती थी। पर धीरे-धीरे एक-एक प्रदेश की भाषा विकसित होकर एक-दूसरे से पृथक् होने लगी और सौ दो सौ वर्ष के भीतर ही बंगाली, पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी आदि के पृथक् रूप दिखाई पड़ने लगे।"[३]

आज ऐसा युग आ गया है कि हममें से अधिकांश अपनी विद्यमान भाषा का भी व्याकरण नहीं जानते। विश्वविद्यालयों के शिक्षक प्रायः शिकायत करते हैं कि आज के बहुत कम ही शोध-छात्र शुद्ध भाषा लिख पाते हैं। प्राध्यापक भी तो उन्हीं में से नियुक्त हो रहे हैं, फिर भाषा की दशा कैसी होगी? गुलेरी जी केवल वर्णनात्मक (Descriptive) भाषाविज्ञान के ही विद्वान नहीं थे, वह ऐतिहासिक और तुलनात्मक भाषाविज्ञान में भी पारंगत थे। उनके संस्कृत-व्याकरण के ज्ञान का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि जब वह शालीय कक्षाओं में थे तभी उन्होंने महाभाष्य का अध्ययन कर लिया था। 'पुरानी हिंदी' में कुछ ऐसे सूत्र मिलते हैं, जिनको आधार बनाकर शोध किया जा सकता है। उनमें से कुछ विशिष्ट सूत्र अधोलिखित हैं—

(१) जो लिखित प्राकृत साहित्य के जमे हुए नियम हैं···सबका भंग, सबका विकल्प, खुदाई की प्राकृत में मिलता है। जब प्राकृतों के मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि देशनाम रक्खे गए तब उनमें कुछ तो उस देश की प्राकृत भाषा का सहारा लिया गया, कुछ विशेष लक्षण वहां की चलित बोली के लिये गए, किंतु ढचर संस्कृत का ही गढ़ा गया।···यह कहना कि सातवाहन (हाल) की सप्तशती और वाक्पति के गौडवहो की महाराष्ट्री महाराष्ट्र की देश भाषा थी, ठीक नहीं।[४]

(२) जैसे पहले गंगाप्रवाह में से संस्कृत का नरौने का बांध बांधकर नपे-कटे किनारों की नहर बना ली गई थी वैसे फिर मागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री की नहरें छांट ली गईं, जिसके किनारे भी संस्कृत की प्रकृति की तरह काटे-तराशे गए, किंतु भाषा-प्रवाह—सच्ची गंगा—अपभ्रंश और पुरानी हिंदी

१. पुरानी हिंदी, वक्तव्य, (प्रारंभिक पंक्तियां), पृ० १
२. भाग १, तृतीय आवृत्ति, पृ० १२-१३
३. वही, पृ० १३
४. पुरानी हिंदी, पृ० [illegible]

के रूप में बहता गया। अपभ्रंश कई नहीं थे। अपभ्रंश एक देश की भाषा नहीं थी, कहीं-कहीं नहरों का पड़ोस होने से उसे नहर के नाम से भले ही पुकारते हों, किंतु वह देश-भर की भाषा थी जो नहरों के समानांतर बहती चली जाती थी। वैदिक भाषा, सच्ची संस्कृत, सच्ची प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिंदी, हिंदी देश की एक ही भाषा रही है, पंडितों की संस्कृत, वैयाकरणों या नाटकों की प्राकृत, महाराष्ट्री या ऐसे ही नाम के अपभ्रंश, पश्चिमी राजस्थानी या पुरानी गुजराती या बंगला, गुजराती आदि सब इसकी Side-shows हैं, नट की न्यारी-न्यारी भूमिकाएं हैं।[१]

(३) देशी शब्द और वाग्धारा संस्कृत के लिए अछूत न थी, संस्कृत में इतना लोच था कि उन्हें अपना लिया करती।[२]

(४) वैदिक संस्कृत में भूतकाल की क्रिया के तिङन्त रूप ही आते हैं, स गतः, तेन कृतम्, अहं पृष्ठवान् आदि रूप अलभ्य नहीं तो अति दुर्लभ हैं।[३]

(५) दीजिए (दिज्जिय, दीजै, दिज्जै) पहले कर्मवाच्य प्रयोग था, पीछे कर्तृवाच्य हो गया।[४] वस्तुतः किज्जिय, दिज्जिय आदि रूप क्रियते, दीयते आदि संस्कृत रूपों से व्युत्पन्न हैं जो कर्मवाच्य हैं—

एउ गृण्हेप्पिणु ध्रुं मइँ, जउ प्रिउ उव्वारिज्जइ।
महु करिएव्वउँ किं पि णावि मरिएव्वउँ पर देज्जइ॥[५]

एक्कसि सील कलंकिअहँ देज्जहिँ पच्छिताइँ।
जो पुणु खंडइ अणुदिअहु तसु पच्छित्ते काइँ॥[६]

प्रथम दोहे में कर्म 'मरिएव्वउँ' एकवचन है, अतः क्रिया भी एकवचन है पर द्वितीय दोहे में कर्म 'पच्छित्ताइँ' के अनुकूल 'देज्जहिँ' भी बहुवचन है, अतः पुरानी हिंदी में यह कर्मवाच्य है, पर आधुनिक हिंदी में कर्तृवाच्य तो नहीं, भाववाच्य है। कर्तृवाच्य में क्रिया का लिंग, वचन और पुरुष कर्ता के अनुसार तथा कर्मवाच्य में कर्म के अनुसार होता है। खड़ीबोली में यह रूप ऐसा नहीं होता। कर्ता या कर्म किसी के लिंगवचनादि का ऐसे क्रिया-रूपों पर कोई प्रभाव नहीं होता। देख लीजिए—

१. महाराज, इसे पुस्तक दीजिए।

१. पुरानी हिंदी, पृ० ६२, ६३
२. वही, पृ० २२
३. वही, पृ० २४
४. वही, पृ० २७
५. सिद्धहेमशब्दानुशासन, ८।४।४३८
६. वही, पृ० ४।४२८

२. देवी जी, मुझे संतरा दीजिए।

३. आप लोग इन्हें पुस्तकें दीजिए।

४. आप लोग लड़की को संतरे दीजिए।

कर्ता और कर्म के लिंग-वचन में कोई परिवर्तन कर दीजिए, क्रिया एकरूप ही रहेगी। इसका तीसरा मार्ग है भाववाच्य, जो हिंदी में सदा एकरस रहता है।

(६) कन् का, जिसका अर्थ छोटा है, अकेले विशेषण की तरह उस समय संस्कृत में व्यवहृत होना छूट गया हो। 'कन्या' में वह मौजूद है। कन्या का पुत्र 'कानीन' बनाने के लिए पाणिनि ने कन्या की जगह 'कनीन' मानकर प्रत्यय लगाया है।[1] यह काम कन् से प्रत्यय लगाकर भी हो सकता था, यदि कन् की सत्ता पाणिनि मानता। नेपाली कान्-छा (छोटा), हिंदी कन्+अँगुरिया, नारंगी की 'कन्नी' फांक आदि में वह कन् चलता आया है।[2]

(७) पाणिनि ने 'ब्रू' के कुछ रूपों की जगह 'आह' होना, 'हन्' का 'वध' हो जाना कहा है। उसका यही ऐतिहासिक अर्थ है कि 'आह', 'अस्' और 'वध्' धातुओं के पहले पूरे रूप होते होंगे, उस समय ये धातु अधूरे रह गए थे, पाणिनि ने उन्हें उसी अर्थ के और धातुओं के रूपों में मिला दिया।[3]

गुलेरी जी ने भाषा-प्रवाह में अनेक शब्दों और व्याकरणिक रूपों के ऐतिहासिक विकास की परंपरा दे दी है। इस विषय में उनकी सूझ नवीन और आकर्षक है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) हेमचंद्र ने लिखा है—'प्रकृतिः संस्कृतं, तत्र भवं, तत् आगतं वा प्राकृतम्'।[4] यह भव या आगत कहना ठीक नहीं।[5]

(२) संस्कृत वैयाकरणों ने त्वा (गत्वा, कृत्वा) को पूर्वकालिक की प्रकृति और य (सत्कृत्य, संगत्य) को धातु के पहले उपसर्ग आने पर विकृति माना है, किंतु पुरानी संस्कृत में यह भेद नहीं है। अकृत्वा और गृह्य दोनों मिलते हैं। वेद में 'कृत्वाय' मिलता है। और पाली में 'छित्वान' और 'कातून'। अतएव पांच तरह के रूप हुए—कृत्वा, कृत्वाय, कृत्वान, कर्तून, कर्य (कृत्य)। सूक्ष्म विचार से ये अव्यय नहीं, किंतु 'तु' अत वाले धातुज शब्द के तृतीया और चतुर्थी के रूपों के से जान पड़ते हैं, कृत्वा = कृतु से, करने से = कर कर, इत्यादि। प्राकृत में 'त्वा' बिलकुल नहीं है, 'य' है या पाली वाला 'त्वान'। 'तून' जो 'तूण'

१. ४।१।१६ 'कन्यायाः कनीन च'
२. पुरानी हिंदी, पृ० ११७
३. वही, पृ० ११७-११८
४. सिद्धहेम०, ८।१।१
५. पुरानी हिंदी, पृ० ६६

या 'ऊण' होता हुआ मराठी घेऊन, म्हणून तक पहुँच गया है और मारवाड़ी में करीनै, लखीनै में रहा है। पुरानी हिंदी अर्थात् अपभ्रंश में 'पोक्खिवि' 'बोल्लिवि' आदि आते हैं। वहां भी य=इय=इ है। हिंदी में 'य' 'इ' के रूप में आया है (आइ, सुनि=आय्य, सुन्य—सं० आयाय्य श्रुण्य (!) अब 'इ' भी उड़ गया है और कर धातु के पूर्वकालिक का अनुप्रयोग होता है जैसे खाकर=(पु० हिं०) खाइ करि=(पंजाबी) खाई करी=सं० खाद्य कर्य (!)[1]

(३) हेमचंद्र ने एक धातु को प्रधान मान लिया है और अन्य समानार्थी धातुओं को उसका आदेश/वज्जरइ, पज्जरइ, उप्पालइ, पिसुणाइ, संघइ, बोल्लइ, चवइ, जंपइ, सीसइ, साहइ को विकल्प से 'कहइ' का आदेश कह दिया है।[2] वज्जरइ उच्चरति से, पज्जरइ प्रोच्चरति से, फिसुणइ पिशुनयति से, संघइ संख्याति से, जंपइ जल्पयति से निकल सकता है।[3]

(४) संबंध के अर्थ में केरअ (प्राकृत—केरक, हि० केरा) प्रत्यय आता है, हेमचंद्र ने उसे अपभ्रंश में आदेश गिना है[4], प्राकृत में नहीं, किंतु वह मृच्छकटिक[5] और शाकुंतल[6] की प्राकृत में कई जगह मिलता है।[7] केर=केरा। यह 'का, की, के' का बाप कहा जाता है, किंतु यह स्वयं ही विभक्ति नहीं है और न सट सकता है। फिर इसके बेटे-पोते कैसे सटाए जा सकते हैं?[8] ध्यातव्य है कि 'रामचरितमानस' के काशिराज-संस्करण में इसे सर्वनाम से भी अलग रखा गया है।[9]

(५) 'न' वेद में उपमावाचक है। यह (संस्कृत वैयाकरणों के) बांध में नहीं बँध सका। प्रवाह में चला आया—

'गोरी वयणविणिज्जिअउ नं सेवइ वणवासु'[10]

(६) भविष्यत्काल तथा संभावनापरक रूपों के प्रत्यय—प्राकृत में सु—मंतेसु, पुरानी हिंदी में सों—हानिसों, राजस्थानी में स्युँ—करस्युँ, गुजराती में श—करोश।[11]

१. पुरानी हिंदी, पृ० ३२-३३
२. वही, पृ० १२०
३. वही, पृ० १२०
४. सिद्धहेम०, ८।४।१२ 'सम्बन्धिनः केर-तणौ'
५. 'ममकेरकेण भत्तपरिव्वएण…' प्रथमांक, पृ० १६, पंक्ति २ (द्रष्टव्य एम० आर० काले का संपादन, तृतीय संस्करण, १६७२ ई०)
६. 'ममकेरए उडए…', अंक ७, श्लोक १६ के नीचे
७. पुरानी हिंदी, पृ० ११८
८. वही, पृ० १६५
९. 'बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी', २।११३।५
१०. पुरानी हिंदी, पृ० १५१, दोहा ९०
११. वही, पृ० १५१, १५६; दोहा ९८ तथा १०५

(७) विधि, प्रेरणार्थक और कर्मवाच्य में जहां-जहां संस्कृत में 'य' आता है, वहाँ 'ज' या 'ज्ज' आता है जैसे—मरीजै (मरा जाय), करीजै (किया जाय—महाराज कहँ तिलक करीजै[1])। कहज्ये (राज०)=तू कहना/लिखीज गयो (मार०)=लिखा गया।[2]

(८) मइँ=मैं, कर्मवाच्य में कर्ताकारक। 'ने' लगने से (मैंने) दुहरा कारक चिह्न लगता है।[3] 'चक्कें खंड मुणालियहे नउ जीवग्गलु दिण्णु' में 'चक्कें' कर्मवाच्य का कर्ता (है), जैसे—मैं, तैं (मइँ, तइँ)। 'ने' वृथा है। पंजाबी—राजें=राजा ने![4] 'मइँ' वस्तुतः संस्कृत के तृतीया, ए० व० रूप 'मया' का विकास है। यह संस्कृत में कर्मवाच्य में आता है—'मया कृतम्'। इसी प्रकार 'चक्कें'=चक्रेण/ गुलेरी जी का यह कथन अक्षरशः यथार्थ है कि 'मैंने' में दुहरी कारक विभक्ति है। यह ध्यातव्य है कि पं० कामताप्रसाद गुरु ने 'लड़के ने पुस्तक पढ़ी' को कर्तृ-वाच्य लिखा है और उसपर 'कर्मणि प्रयोग' का तुर्रा लगा दिया है।[5] पंडित किशोरीदास वाजपेयी ने उनका खंडन करते हुए ऐसे वाक्यों को कर्मवाच्य माना है और हिंदी भाषा के वाच्य का बुद्धिसंगत विवेचन किया है।[6]

(९) संस्कृत में तुभ्यं, मह्यं चतुर्थी हैं। चतुर्थी और षष्ठी का प्रयोग वैदिक भाषा मे विना भेद के होता था। वैदिक भाषा में तुभ्यं षष्ठी के अर्थ में भी आया है—मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यताम्'।[7]

जइ नसु आवइ दूइ घरु काइँ अहो मुहुँ तुज्झु।
वयणु जु खंडइ तउ सहिए सो पिउ होइ न मज्झु॥

अन्यसंभोगदुःखिता की उक्ति—दूती, यदि वह घर नहीं आता (तो) तुम्हारा मुख क्यों नीचा है (दूती दंतक्षत छिपाने के लिए मुख नीचा किए हुए है)? जो तुम्हारा वचन खंडित करता है (तुम्हारी वात का तिरस्कार करके नहीं आता), अथवा वदन खंडित करता (तुम्हारे अधर पर दंतक्षत करता है) है, वह मेरा प्रिय नहीं है।

यहां 'तुज्झु' और 'मज्झु' रूप 'तुभ्यं' और 'मह्यं' से व्युत्पन्न हैं, पर प्रसंग

१. रामचरितमानस, काशिराज संस्करण, ७।१२।८
२. पुरानी हिंदी, पृ० २६-२७
३. वही, पृ० ३८
४. वही, पृ० १७५, दोहा १६८
५. हिंदी व्याकरण, पष्ठ संस्करण, पृ० २५९, २६६, अनुच्छेद, ३४९ (क) तथा ३६५ (२)
६. व्रजभाषा का व्याकरण, द्वितीय संस्करण, भूमिका, पृ० ३७
७. पुरानी हिंदी, पृ० ४१

में इनका अर्थ 'तेरा' और 'मेरा' होता है।

पं० परशुराम लक्ष्मण वैद्य ने 'वयण' का अर्थ केवल 'वचन' किया है, इस कारण वे अन्यसंभोगदु:खिता वाला अर्थ नहीं लगा सके हैं।[1]

(१०) 'चूडउ चुन्नी होइसइ···' की टीका में वह कहते हैं—चुन्नी होइसइ[2] अभूततद्भाव का 'ई' पहचान लो। संस्कृत में एक 'च्वि' प्रत्यय होता है जो अभूततद्भाव के अर्थ में आता है। इसके एक नियम के अनुसार, पूर्वपद में दीर्घ ई का योग होता है[3]—जो चूर्ण नहीं है, वह चूर्ण हो जाएगा, चूर्णीभविष्यति; जो शुक्ल नहीं है, उसे शुक्ल कर दिया गया, शुक्लीकृत आदि। गुलेरी जी ने इसी की परंपरा दिखाई है।

(११) जयमंगल सूरि 'चातुर्यता' लिखकर हिंदी के डबल भाववाचक का बीज बोते हैं—'पौरवनिताचातुर्यतानिर्जिता'।[4] अब भी कितने लोग 'माधुर्यता' का प्रयोग कर देते हैं तथा अनेक साहित्यकारों के 'व्यक्तित्व और कृतित्व' पर तो सभी विश्वविद्यालय शोध-प्रबंध लिखा रहे हैं।

(१२) 'चउमुहु छंमुहु झाइवि एक्कहिँ लाइवि णावइ दइवे घडिअउ'[5] की टीका में लिखते हैं—णावइ = मानो (सं० ज्ञायते)। मिलाओ नाईं, नाउँ, मारवाड़ी न्यूँ, उपमा में नावइ, नावेँ उत्प्रेक्षा में और वैदिक उपमावाचक।

मिलाइए अवधि में भी—'मारेहु मोहि ब्याध की नाईं'[6] 'उमा दारु जोषित की नाईं'।[7]

(१३) 'बिंबाहरि तणु रयणवण' में 'तणु' का अर्थ 'तन्वी' (तन्व्याः) किया गया है।[8] गुलेरी जी ने इस दोहे (९४, पृ० १५२) की टीका में लिखा है—'बिंबाधर पर तन्वी के' यह अर्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं, 'तण, तणु या तणो' संबंधसूचक प्रत्यय हैं। गुलेरी जी ने ठीक लिखा है। 'रामचरितमानस' में देख लीजिए—

'रथु हाँकेउ हय राम तन हेरि हेरि हिहिनाहिँ'।[9]

१. सिद्धहेम०, संपादक : प० ल० वैद्य, अंगरेजी व्याख्या, पृ० ६८४, (३६७।१)
२. पुरानी हिंदी, पृ० ४१
३. द्रष्टव्य—काले-कृत हायर संस्कृत ग्रामर का डॉ० कपिलदेव द्विवेदी कृत हिंदी अनुवाद, पृ० २१९
४. पुरानी हिंदी, पृ० २२
५. वही, पृ० १२७, दोहा ५
६. रामचरितमानस ४।९।५
७. वही, पृ० ४।११।७
८. सिद्धहेम०, अंगरेजी व्याख्या, पृ० ६९५
९. रामचरितमानस, २।९९

'पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी'[1]

क्या इन स्थलों पर 'तन' का अर्थ 'शरीर' है ?

(१४) पुरानी हिंदी—अच्छइ, बंगला—आछे, राजस्थानी—छै।[2]

ये तो व्याकरण और भाषाविज्ञान की सामान्य बातें हुईं। अब गुलेरी जी के विविध भाषा-ज्ञान पर विहंगम दृष्टिपात करना उचित है, जो 'पुरानी हिंदी' में स्थान-स्थान पर झलक मारता है। यह ध्यातव्य है कि उक्त पुस्तक में उन्होंने पुरानी पंजाबी के बहुतसे उदाहरण दिए हैं। उनमें बहुतसे शब्द डोगरी या हिमाचली पहाड़ी के हैं। इसका कारण यह है कि उस समय हिमाचली पहाड़ी पंजाबी की एक बोली ही समझी जाती थी। अच्छा, अब हिमाचली पहाड़ी से ही आरंभ करें।

(क) हिमाचली पहाड़ी (कांगड़ी)

(१) **खिरना**[3] (√क्षर्=बहना, रिसना, नष्ट होना)=घिसना। तुलनीय—भोजपुरी—खिआना।

(२) **धी**[4]=कन्या, पुत्री। तुल०—भोज०—धिय, धीया—'पूत मोर मरल पतोह मोर के? धिय मोर मरल दमाद मोर के?'

(३) **बिटिया**[5]=कन्या, पुत्री। यह शब्द भी भोजपुरी में है।

(४) **ध्याड़ा, दिहाड़ा**[6]=दिवस। ध्यातव्य है कि हिंदी के 'दिन दहाड़े' में 'दिहाड़े' का विकार हुआ है। 'बलिहारी गुरु आपणौं द्यौहाड़ी कै बार'[7] में भी यही वेश बदले हैं।

(५) **पतियाना**[8]=हिमाचली अर्थ—मनाना, रिझाना; अवधी—विश्वास करना—'सुरमाया बस बैरिनिहिं सुहृद जानि पतियानि'।[9]

(६) **आपमुहारा**[10] (हिंदी—आप+अरबी—मुख्तार ?)=अपने मन का, स्वच्छंद।

१. रामचरितमानस पृ० २।११६।६
२. पुरानी हिंदी, पृ० १४७, दोहा ७५
३. वही, पृ० ७
४. वही, पृ० १३
५. वही, पृ० १२७, दोहा ३
६. वही, पृ० २८
७. कबीर ग्रंथावली, साखी, गुरुदेव को अंग, २
८. पुरानी हिंदी, पृ० ३१
९. रामचरितमानस, २।१६
१०. पुरानी हिंदी, पृ० १६४, छंद १३६

(७) रड्याना[1]=पुकारना। भोज०—ररना, अरराना, अललाना (भैंस आदि का चिल्लाना)।

(८) निहालना[2]=हिमाचली—प्रतीक्षा करना। भोज०—निहारना= लोभ से घूरना।

(९) न्हस[3]=भागना।

देखिए, भारतीय बोलियों में कितना अधिक शब्द-साम्य है।

पंजाबी

(१) अम्हणिअउ—सं० अस्मानं, अस्मनीय। 'ण' (सं० नाम्) संबंध विभक्ति का है। गीतों की पंजाबी में ण का ड हो गया है—मैंडा, तैंडा।[4]

(२) रडंतु=हिं० रटता, पं०—रडचाँदा।[5]

(३) अक्खियइ=कहना, पं० आखना।[6]

(४) संभरहि=स्मरण करना, पं० सुँभालना।[7]

(५) पंजाबी में कर्ता, एकवचन की विभक्ति एँ—राजें=राजा ने।[8] उदा० राजें गद्दण ब्याही।[9]

(६) संचना (संचय करना) पुरानी हिंदी और पंजाबी में है। तुल०—[10] अवधी और भोज०—सनचना।

(७) चिक्खिल=कीचड़, पं० चिफली।[11] तुल०—भोज० चिहला।

(८) खेड्ड=खेल। खेलना=पं० खेडण। पंजाबी गीत—साडे खेडण दे दिन चार।[12]

(९) नवखी=अनोखी, पं० नौक्खी।[13]

१. पुरानी हिंदी, पृ० १७६, दो० १७२
२. वही, पृ० ४२, प्रबंधचिंतामणि, दोहा १९
३. वही, पृ० १७०, दोहा १५४
४. वही, पृ० २६
५. वही, पृ० ७२, प्राचीन, दोहा १४
६. वही, पृ० ७७, प्राचीन दोहा २८
७. वही, पृ० ८७
८. वही, पृ० १७५, दोहा १६८
९. वही, पृ० १२९, दोहा ८
१०. वही, पृ० १६२, दोहा १२८
११. वही, पृ० २९
१२. वही, पृ० १६४, दोहा १३३
१३. वही, पृ० १६१, दोहा १२३

कुछ सारणी-रूप में देखिए—

पंजाबी	अन्य भाषा	संदर्भ
एवे	पु० हिं० एम्व, हिं० यों, ऐसा	पृ० १४३, दो० ६०
एँवें	पु० हिं० एम्वइ, हिं० योंही	पृ० १२८, दो० ७
इत्थु, इत्थें	सं० अत्र, हिं० यहां	पृ० १४६, दो० ७३
कित्थुँ, जित्थुँ, तित्थुँ, इत्थुँ	सं० कुत्र, यत्र, तत्र, अत्र	पृ० १५३, दो० ९७
केवें, एवें, तेवें	अवधी—किमि, इमि, तिमि हिं० क्यों, यों, त्यों	पृ० १५७, दो० १११
बिच्च	हिं० बीच	पृ० १३५, दो० २९

मारवाड़ी

(१) **निट्ठवन** = बिताने वाला, समाप्त करने वाला। मार० नीठ जाना = बीतना।[1]

(२) **माणियाँ** = मंडन किया, उपभोग किया। तुल०—मार० सेजां माणीज्यो, गोरी ने माणज्यो ढोला।[2]

(३) **कपिज्जइ** = कटता है। मार० कापना = कटना; कापी = शाक आदि का कटा टुकड़ा।[3]

(४) **पहिउ** = पथिक। मार० पही; पावणो पही = पाहुना और पथिक।[4]

(५) संस्कृत के अल्प, अज्ञात, कुत्सित तथा स्वार्थक प्रत्यय का समानार्थी प्रत्यय पुरानी हिंदी में ड या डल है; मार० उदाहरण—मोर—मोरडो, नींद—नींदडली।[5]

(६) **इकज्ज** = एक ही। ज = ही। मार०—एकज झूंपो = एक ही झोपड़ा।[6]

(७) **तेज्जि** = वे ही। मार०—तेईज।[7]

(८) **सउ** = सब। मार०—सेंग (हैङ)।[8]

१. पुरानी हिंदी, पृ० ८७
२. वही, पृ० ३९
३. वही, पृ० १३६, दोहा ३९
४. वही, पृ० १५७, दोहा १०९
५. वही, पृ० २६
६. वही, पृ० ४१
७. वही, पृ० १५४, दोहा ९९
८. वही, पृ० ३१

(९) डिहियाँ=चतुरों। मार०—डाह्या।[1]

(१०) एक दोहा भी देख लीजिए—

जिण मारग केहरि बुवो रज लागी तिरणाँह।
ते खड़ ऊभी सूखसी नहिं खासी हरिणाँह॥[2]

राजस्थानी

राजस्थानी	हिंदी	संदर्भ
क्यूं आथ न साथ।	कुछ है ही नहीं।	पृ० ४५
पाँच आगला सित्तर।	पांच ऊपर सत्तर; पचहत्तर	पृ० १३२, दोहा १८
पछेवड़ा।	पक्षपट, दुपट्टा, ओढ़नी।	पृ० ४६
बेरा।	कुआं।	पृ० १५०, दोहा ८५
धपणियाप।	धनीपन, स्वामित्व।	पृ० १७६, दोहा १७२
बाल्या।	दग्ध (एक गाली)।	पृ० १५८, दोहा ११५
पावीसुं, करीसुं, पइसीसुं।	पाऊंगी, करूंगी, पैठूंगी; पाऊं, करूं, पैठूं।	पृ० १५१, दोहा ८६
आसी।	आएगा।	पृ० १५६, दोहा १०८
म्हे।	हम।	पृ० ७६, प्राचीन दोहा २८
आछे।	है।	पृ० १४७, दोहा ७५
सैं, सौ।	सब।	पृ० ३१
अबार।	अब।	पृ० २६
पूठपीछे।	पीठ पीछे।	पृ० ४५
तिम।	उतना।	पृ० १४६, दोहा ८५

गुजराती

गुजराती	हिंदी	संदर्भ
होशे।	होगा, होगी।	पृ० २६
तेईज।	वेही।	पृ० १५५, दोहा ६६
डाह्या।	दक्ष, चतुर।	पृ० ३१
सारुं।	अच्छा।	पृ० १४०, दोहा ४७

१. पुरानी हिंदी, पृ० ३१
२. वही, १६५, दोहा १३६

मूका ।	मुक्त, छूटा हुआ ।	पृ० १४१, दोहा ५४
तेवड़, तेवड़ी ।	उतना, उतनी ।	पृ० १४६, दोहा ८५
केम ।	क्यों ।	पृ० १५२, दोहा ६२

मराठी

(१) **मराठी-आई** = माता ।[1]

(२) **संभरें** = स्मरण करते हैं। मराठी—सँभरना, साँभरना, सँभारना, सभालना ।[2]

(३) **घेप्पंति** = ग्रहण किए जाते हैं । मरा०—घ्या (सं० √ग्रह्) ।[3]

(४) **दोण्णि** = दो । मरा०—दोन ।[4]

जयपुरी

(१) **कइँ नाउँ** = क्या नाम / जयपुरी—काई नाँव ।[5]

फुटकल

नेपाली में 'करना' धातु का 'गरना' हो जाता है ।[6]

थक्किय—थकना = रहना । बंगला—√थाक ।[7]

भज्जिउ जंति = भागती जाती हैं । 'भागने को ग्रामीण भाजना ।[8]

के = या । 'कै तापसतिय काननजोगू (तुलसीदास)' ।[9]

धण = प्रिया । "मिलाओ मिरजापुरी कजलियों की 'धनिया' ।"[10]

इस सर्वेक्षण के आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि गुलेरी जी ने भारतीय आर्य-भाषाओं और बोलियों का गंभीर अध्ययन किया था तथा वह ध्वनि और अर्थ की परंपरा के मर्मज्ञ विद्वान् थे । सबसे बड़ी बात यह है कि उनमें विलक्षण सूझ थी, जो कम ही भाग्यशालियों को मिलती हैं ।

एक यह भी निवेदन है कि कतिपय स्थानों पर मेरी गुलेरी जी से विमति है । महत्त्वहीन होने पर भी उसका उल्लेख कदाचित् अनुपयुक्त नहीं होगा ।

१. पुरानी हिंदी, पृ० ३७ । तुल० असमीया—आइ, आइदेओ, आइदेउता
२. वही, पृ० ८७
३. वही, पृ० १२६, दोहा १०
४. वही, पृ० १३१, दोहा १६
५. वही, पृ० १६६, दोहा १४८
६. वही, पृ० १५०, दोहा ८६
७. वही, पृ० ७२, प्राचीन, दोहा १७
८. वही, पृ० १४६, दोहा ८३; द्रष्टव्य : रामचरितमानस १।२०३ 'भाजि चले किलकत मुख, दधि ओदन लपटाइ' ।
९. रामचरितमानस : २।६०।३
१०. पुरानी हिंदी, पृ० १४५, दोहा ७०

(१) गुलेरी जी ने 'धी' की व्युत्पत्ति 'दुहितृ' से मानी है[१]। मैं इसे सं० 'धीदा'[२] से मानता हूं। इससे भोजपुरी का 'धीया' (=पुत्री) भी सरलतापूर्वक बन जाता है।

(२) बंक—वक्र (सं०) युक्ताक्षर की 'न' श्रुति[३]। मेरा विचार है कि इसे सं० 'वङ्क'[४] से ही क्यों न माना जाए।

(३) झोली तुट्टी किं न मुउ—'(आग में) जलकर या (फांसी की रस्सी) टूटकर (मैं) क्यों न मरा?' मूल में 'झोली' पाठ रखा गया है, पर टीका में 'झाली' का अर्थ किया गया है—'जलकर, सं० ज्वल, राजस्थान में आग की लपट (ज्वाला) को 'झाल' या 'झल' कहते हैं।' डॉ० नामवरसिंह ने 'झोली' ही पाठ माना है।[५] मेरी समझ में 'झोली' को 'झाली' करने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'झोली' का अर्थ 'कपड़े का पालना' क्यों न लिया जाए? हिंदी शब्दसागर में झोली का एक अर्थ यह भी है—'सफरी बिस्तर जो चारों कोनों पर लगी हुई रस्सियों के द्वारा खंभे, पेड़ आदि में बांधकर फैलाया जाता है।'[६] घर में यही झोली बनाकर बच्चों को सुला देते हैं। यहां इसी झोली से मतलब है। यदि इसकी रस्सी टूट जाए, तो शिशु गिरकर मर सकता है।

(४) नेपाली में 'करना' धातु का रूप 'गरना'[७] नहीं 'गर्ना' है।

गुलेरी जी ने 'असड्ढलु' का संस्कृत मूल 'असंस्थुल' लिखा है और उसपर प्रश्न-चिह्न भी लगा दिया है।[८] यह शब्द मुझे भी किसी कोश में नहीं मिला।

निष्कर्ष-स्वरूप गुलेरी जी ने अपने अल्प जीवन में जितना ज्ञान प्राप्त किया, उतना सामान्य मनुष्य के लिए कठिन है। डॉ० नगेन्द्र ने ठीक कहा है, "उन्तालीस वर्ष की अल्पायु में हीं समस्त दिशाओं को उद्भासित कर यह प्रकाश-पुंज भी तिरोहित हो गया और विद्वान् लोग यह अनुमान ही लगाते रह गए कि यदि कुछ और समय मिलता तो शायद वह हिंदी-जगत् को समग्र आच्छादित कर लेता।"[९]

चिंता का विषय है कि इस देश में राजनीतिक पुरुषों के नाम पर तो संस्थाएं-

१. पुरानी हिंदी, पृ० १३
२. आप्टे कृत संस्कृत-इंगलिश डिक्० सन् १९५८, खंड २, पृ० ८६२
३. द्रष्टव्य, पुरानी हिंदी, पृ० ३२, 'भंकड' की टीका
४. द्रष्टव्य—आप्टे कृत उक्त कोश, पृ० १८७९
५. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, नवीन संस्करण, १९५४, पृ० २५१
६. प्रथम संस्करण, पृ० १२४२
७. पुरानी हिंदी, पृ० १५०, दोहा ८६
८. वही, पृ० १६३, दोहा १३१।
९. काव्य-चिन्तन : डॉ० नगेन्द्र, पृ० ४६-४७, १९५१ ई०

ही-संस्थाएं भरी पड़ी हैं, पर विद्वानों के नाम पर कहीं इक्की-दुक्की भी दिख जाएं, तो बड़ी बात है। काशी विश्वविद्यालय के रुइया छात्रावास में एक छोटा-सा पुस्तकालय मात्र गुलेरी जी के नाम का स्मरण दिलाता है। मुझे किसी अन्य संस्था की जानकारी नहीं है। विद्वानों के प्रति कृतज्ञता दिखाने में भी इतनी कृपणता !

हिमाचली पहाड़ी और गुलेरी जी

□ डॉ० मनोहरलाल

गुलेरी जी भाषाविद् थे। उनका इतिहास, दर्शन, ज्योतिष, पुरातत्त्व, कला, भाषाविज्ञान तथा भाषाशास्त्र आदि के साथ-साथ संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, ब्रज, अवधी, राजस्थानी, बंगला, मराठी तथा अंगरेजी आदि पर अच्छा अधिकार था। वह फ्रेंच, लेटिन और जर्मन भाषाओं के भी ज्ञाता थे। उनकी भाषा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है—उसमें हिमाचली पहाड़ी (कांगड़ी) की भीनी-भीनी गंध। यद्यपि उनका जन्म जयपुर में हुआ, शिक्षा-दीक्षा भी हिमाचल से बाहर ही हुई तथापि उन्होंने अपनी पैतृक भूमि—गुलेर (कांगड़ा) तथा वहां की बोली को नहीं छोड़ा। उन्होंने इस जनपद की बोली को बड़े मनोयोग से अपनी कहानियों तथा निबंधों एवं टिप्पणियों में उभारा है। उन्होंने हिमाचली पहाड़ी के वाक्यों का हिंदीकरण करके तथा आंचलिक शब्दों के प्रयोग से हिंदी के शब्द-भंडार को खूब समृद्ध किया है। इस तथ्य की पुष्टि 'बुद्धू का कांटा' के इस उद्धरण से हो जाती है—"···रब रोटी देता है।···तीन बेले नमाज पढ़ लेता हूं···अब तो इस मोती की कमाई खाता हूं, कभी सवारी ले जाता हूं, कभी लादा, ढाई मण कणक पा लेता हूं तो दो पौली बच जाती है।·· एक रात को मैं खाना बना-खिला के अपनी मंजड़ी पर सोया था कि मेरे मौला ने मुझे आवाज दी।··· मैं तेरे नाल हूं, मैं तेरा बेड़ा पार करूंगा।···वहां मेरे पल्ले टका नहीं था।"[1] "···तुझे रात-दिन ऊतपन ही सूझता है। इन्हें गलसूंड चला गया।[2]···नदी की तलेटी में चट्टान थी, जो पानी के बहाव से क्रमशः खिरती जाती थी।···वह एक हाथ से उसे खींचती हुई रघुनाथ को छर्रे के बहाव से निकाल लाई।"[3]

यहां बेले (समय), मोती (टट्टू का नाम), लादा (बोझ, गूण), मण (मन),

१. गुलेरी जी की अमर कहानियां : शक्तिधर गुलेरी, पृ० ३३
२. वही, पृ० ४१
३. वही, पृ० ४८

कणक (गेहूं), पौली (चवन्नी) मंजड़ी (छोटी चारपाई), मौला (स्वामी, ईश्वर), नाल (साथ), पल्ले (पास, कब्जे में), टका (दो पैसे, आधा आना का सिक्का; रुपया-पैसा), गलसूंड (श्वास नलिका में कुछ अटक जाने पर श्वासावरोध से होने वाली परेशानी), खिरती (कटती, क्षरित होती) तथा छर्रे (छरड़ा, झरना) आदि शब्दों का प्रयोग उस पाठक को अपना अर्थ-सौरस्य प्रकट करने में कठिनाई पैदा करेगा जो कांगड़ा जनपद की भाषिक संरचना से अनभिज्ञ होगा। इसी तरह 'उसने कहा था' में—"चौधरी के बड़ के नीचे मंजा विछाकर हुक्का पीता रहता था।······सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना।"

यहां 'मंजा' का अर्थ बड़ी चारपाई है। पीछे आया 'मंजड़ी' प्रयोग मंजा का स्त्रीलिंग भी है और यह आकार-प्रकार में खाट से कहीं छोटी (आधी) होती है। 'लाड़ी होराँ' की तर्ज पर 'सूबेदारनी होराँ'—(होराँ = आदरसूचक) प्रयोग किया गया है। 'लाड़ी' का प्रयोग मीरां ने भी किया है—'हमको लिखी-लिखी जोग पठावत, आप दूल्हा कुब्जा भई लाड़ी।"[1]

गुलेरी जी ने 'सुखमय जीवन' में—सुपने (स्वप्न), घोखणा (दोहराना); 'बुद्धू का कांटा' में—चाह (चाय), बाछा (बादशाह), साईं (स्वामी, भक्त), पा (लादना), नाते (संबंधी), सिंहों (सिक्खों, सरदारों), सूर (सूअर की गाली), सली (लित्त, बांस आदि—लकड़ी का रेशा चुभना), बट (ऐंठन), पेच (बल), डेले (आंखों के गोलक) तथा 'उसने कहा था' में—चींथ (चुत्थणा, कुचलना), लाड़ी होरां (बहू, होरां-आदरसूचक), उदमी (उद्यमी), सालू (लाल रंग की ओढ़नी, सुब्बर), कुड़माई (सगाई), पाधा (उपाध्याय, पुरोहित), घुमां (जमीन का एक नाप), सिगड़ी (मिट्टी की गोल-गोल अंगीठी जिसे उठाकर सहज साथ-साथ ले जाया जा सकता है, कांगड़ी), खोते (गधे), सौहरा (श्वसुर की गाली, सुसरा), तीमी (स्त्री), वेड़ा (मकानों के बीच खाली भाग; आंगन), ओबरी (भीतरी कमरा, अंतःकक्ष), पट्ट (जांघ) तथा हाड़ (आषाढ़) आदि।

इतना ही नहीं, उन्होंने 'उसने कहा था' में अपने पैतृक गांव गुलेर के पास बहने वाली 'वंडेर' (बनेर) या 'बांणगंगा' के लिए 'बुलेल की खड्ड' लिखा है। कांगड़ा में पुरुषों के 'ऊकार' नामों का एक नमूना 'डाक बाबू पोल्हू राम' लिखकर भी पहाड़ी भाषा का प्रयोग किया है।

गुलेरी जी ने अपनी पुस्तक 'पुरानी हिंदी' में 'हिमाचली पहाड़ी' के शब्दों को 'पुरानी पंजाबी' कहा है। कारण, उनके समय भाषा के 'डोगरी' या 'हिमाचली पहाड़ी' जैसे नाम ईजाद नहीं हुए थे। इस जनपद की बोली की गणना पंजाबी

१. मीरां माधुरी : ब्रजरत्नदास : छंद १८४

की बोलियों में ही की जाती थी।

गुलेरी जी भाषाशास्त्री थे। उन्होंने अपनी कहानियों में पहाड़ी शब्दों का जहां-जहां सटीक प्रयोग किया है, यदि वहां अन्य पर्यायवाची शब्द रख दिए जाएं तो लेखक का अभीष्ट भावबोध तथा अभिव्यंजना-सौंदर्य नष्ट हो जाएगा। गुलेरी जी ने शायद इसीलिए 'पुरानी हिंदी' में प्रयुक्त हिमाचली पहाड़ी शब्दों का बड़ी बारीकी से अध्ययन करके उनपर व्युत्पत्तिपरक टिप्पणियां भी की हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है की उनकी दृष्टि बोलियों की शब्दावली को ग्रहण करके हिंदी के शब्द-भंडार को सतत समृद्ध करने के प्रति सचेत थी।

हमारे यहां कांगड़ा में पुत्र को 'पुत्त' तथा पुत्री को 'धी', 'धियाण' या 'बिट्टी' कहा जाता है। गुलेरी जी ने 'धी' की व्युत्पत्ति 'दुहितृ' से बताई और अपने मत की पुष्टि में उद्धरण दिया—

पुत्तें जाएं कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा वप्पी की भुहडी, चम्पिज्जइ अवरेण॥

(उस बेटे को जन्म देने से क्या लाभ और मर जाने से क्या हानि कि जिसके होते बाप की धारती (धरती) पर दूसरा अधिकार कर ले।)

इस दोहे का परिवर्तन होते-होते यह रूप हो गया है—

बेटा जायां कवण गुण, अवगुण कवण धियेण।
जो ऊभां घर आपणी गंजीजै अवरेण॥

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मूल दोहे में 'मुए पुत्र से क्या अवगुण' कहा गया है किंतु पीछे, स्त्री जाति की ओर अपमान-बुद्धि बढ़ जाने और उसका उत्तराधिकार न होने से 'धी' (पुत्री, संस्कृत दुहितृ, पंजाबी धी) से क्या अवगुण हो गया है?[1]

'धी' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'धीदा' से भी मानी जा सकती है।

गुलेरी जी ने बेटी के लिए 'बिट्टी' प्रयोग की पुष्टि हेमचन्द्र की रचना से की है—

बिट्टीए मइ भणिय तुहुं मा कुरु वंकी दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवं मारइ हिअइ पविट्ठि॥३॥

बिटिया! मैंने, भणी (=कही गई), तू, मत, कर, बांकी, दीठ, पुत्रि! सकर्णी (=कानवाली, नुकीली), भल्ली (छोटा भाला), जिम, मारै, हिय में, पैठी (वह)। वृद्धा कुट्टिनी नायिका को समझाती है। बिट्टिए—संबोधन का

१. पुरानी हिंदी : चंद्रधर शर्मा गुलेरी, पृ० १३ सं० २०३२ वि०

ए, पविट्ठि—प्रविष्टी, सं० प्रविष्टी, हिं० पैंठी।[1]

पुरानी हिंदी में एक शब्द है—पत्तिज्जई=पतीजते हैं, पतियाते हैं। (सहसा जनि पतियाहुं—तुलसीदास)। गुलेरी जी ने 'पतियाने' का अर्थ मनाना या रिझाना हिमाचली पहाड़ी होने वाले प्रयोग के आधार पर ही लिखा है।[2] यही नहीं इसका प्रयोग इसी अर्थ में—'कछुआ धरम' निबंध में भी किया है—"उपमन्यु को उसकी मां ने और अश्वथामा को उसके बाप ने जैसे जल में आटा घोलकर दूध कहकर पतिया लिया था, वैसे पूतिक की सीखों से देवता पतियाए जाने लगे।"[3]

हमारे यहां कांगड़ा में फसल की कटाई के लिए 'वाढी' या 'वढाई' शब्दों का प्रयोग होता है। गुलेरी जी ने संस्कृत 'वृध्' के दो अर्थों—'वढ़ना' और 'काटना' का उल्लेख करके पहाड़ी शब्द की इस अर्थवत्ता की ओर संकेत कर दिया है।[4]

अब जरा 'पत्तल' या 'पत्तलु' शब्द लीजिए। 'पत्तल' अर्थात्—कागज की तरह पतला तथा थाली के स्थान पर प्रयोग किया जाने वाला पत्तों से बना थाली के आकार का पात्र। हमारे यहां कांगड़ा में लघु करने की प्रवृत्ति से इसे 'पत्तलु' भी कहा जाता है। 'पुरानी हिंदी' में 'पत्तलु' का प्रयोग 'घने पत्तों वाला' के अर्थ में हुआ भी है। गुलेरी जी ने 'पत्तलु' तथा 'इत्थुं' को स्पष्ट करने के लिए पुनः हेमचन्द्र की रचना उद्धृत की है—

भमरा एत्थुं वि लिम्बडइ केवि दियहडा विलम्बु।
भण-पत्तलु छाया बहुलु, फुल्लहिं जाम कयम्बु ॥७३॥

—एत्थुं—पंजाबी इत्थु, इत्थैं, सं० अत्र, दियहड़ा—दिवस (धियाड़ा), पत्तलु—पत्ते वाला।[5]

कांगड़ा में अमलतास खूब होता है। इसे संस्कृत में 'कर्णिकार' कहते हैं। कांगड़ा में इसके नाम हैं—कनिआर, अलि तथा बन्दरलाठी। नागरजीवन तथा संस्कृति से ताल्लुक रखने वाले इस 'कनिआर' को झट 'कनेर' समझ बैठते हैं, जो गलत है। इस संदर्भ में गुलेरी जी की जानकारी स्तुत्य है—

उअ कणिआरु पफुल्लिअउ कंचणकन्तिपकासु।
गोरीवयणविणिज्जिअउ नं सेवई वणवासु ॥९०॥

१. पुरानी हिंदी, पृ० १२७
२. वही, पृ० ३१
३. प्रतिभा : पृ० २८०, दिसम्बर, १९१९
४. पुरानी हिंदी, पृ० ४४
५. वही, पृ० १४६

ओ (=देख), कनियार, प्रफूला (है), कांचन—कांति—प्रकाश, गोरी—वदन—विनिर्जित, नाईं (मानो), सेता है, वनवास। वन में विकसित होने के कारण उत्प्रेक्षा है। उअ—देख (प्राकृत), कणिआरु—सं० कर्णिकार (पंजावी पहाड़ी) कनयार, अमलताश, पीले फूलों से लद जाता है।[1]

और एक शब्द है—'आपमुहारा'। अर्थ है—अपने-अपने मत का। गुलेरी जी ने इसके स्पष्टीकरण में लिखा है—

खसम पूजते देहरा, भूत पूजिनी जोय।
एकै घर में दो मता, कुसल कहां ते होय॥

साथ ही हेमचन्द्र की रचना उद्धृत करते हैं—

वहिणुए तं घरु कहि किव नन्दउ।
जेत्थुं कुडुम्बउं अघण-छंदउं ॥१३६॥

(बहन! वह घर कह, कैसे प्रसन्न हो जहां कुटुम्व आपमुहारा हो।)[2]

एक और शब्द है—'रड़ाना'। 'रिडेरना' या 'रड़त्त' भी इसीसे वने हैं। गुलेरी जी ने 'अब्भा लग्गा डुंगरहिं पहिउ रडत्तउ जाइ' में 'रडत्तहु—रडत्तो, पंजावी रड़्याना=पुकारना' लिखकर इसे स्पष्ट किया है।[3]

हमारे यहां कभी-कभी महिलाएं 'वेढ़ुआं रोटी' बनाती हैं। गेहूं के खमीरे आटे के भटूरू तो प्राय: वनते ही हैं। आटे में उड़द या मूंग की पिट्ठी मिलाकर या अलग-अलग भरकर भटूरू तले जाने को 'वेढुआं रोटी' कहते हैं। हलवाई पूरी-कचौड़ी भी ऐसे ही वनाते हैं। गुलेरी ने 'पुरानी हिंदी' के 'वेढई' शब्द का सहारा लेकर इसे भी स्पष्ट किया है। 'वेढई' का अर्थ है—घेरना। पंजाबी में वेढ़ा (वेड़ा—'जव चलने लगे तव सूबेदार वेड़े में से निकलकर आया'—उसने कहा था) का अर्थ भी ऐसे ही स्पष्ट किया है—घिरा हुआ मकान, जनाना।[4]

इसी तरह तीह, रेह—लीक, वाहना (सवारी करना, कराना) तथा नश्यत् से नासन्त होकर 'न्हस' (भागना) की व्युत्पत्ति वताई है। 'नश्यत्' का अर्थ है—नष्ट होना, अदर्शन होना, भागना, पंजाबी न्हस्—भागना।[5]

गुलेरी जी ने 'देवकुल' निबंध में वाँ (सं० वाणी) देहरा, देहरी, नौण (सं० निपान) (पाणिनि का निपान माहावा:), तला (सं० तडाग या तटाक, हिंदी—तालाब) तथा मूहरे (मोहरे), देहरा, देहरी और म्हासती आदि शब्दों का प्रयोग

१. पुरानी हिंदी, १५१
२. वही, पृ० १६४
३. वही, पृ० १७६
४. वही, पृ० ३४
५. वही, पृ० १७०

भी किया है। 'म्हासती' के स्पष्टीकरण में लिखा है—"सतियों के लिए 'महासती' पद का व्यवहार सारे देश में मिलने से देश की एकता का अद्भुत प्रमाण मिलता है। मेवाड़ में महाराणाओं की सतियों के समाधिस्थान को 'महासती' कहते हैं।···विपरीत लक्षणा से पंजाबी पहाड़ी में 'महासती' या 'म्हासती' दुराचारिणी स्त्री के लिए गाली का पद हो गया है।"[1]

कुछ शब्द-प्रयोग यों हैं—

(क) '···बहुत बूढ़ा और पलीत (कृत्यारूप—कठपुतली का सा या भुतने का सा) होकर पीछे रह गया। ··लड़कों ने खेलते-खेलते च्यवन को बूढ़ा पलीत का सा और निकम्मा समझकर पत्थरों से खूब दला (मारा, पीटा, चुथा)'[2]

(ख) 'वे दोनों बिचले (मध्यम, बीच वाले) शुनःशेप पर राजी हो गए।"[3]

(ग) 'तू जेठा (सबसे बड़ा) पुत्र मेरों में, तेरी संतान श्रेष्ठ हो।"[4]

(घ) 'सूर्य की किरणों से भाफ (वाष्प, भाप) बनकर जो जल के परमाणु उठते हैं।'[5]

(ङ) 'जब श्री आती है तभी तो वह खड़काई (बजाई) जाती है।'[6]

(च) 'कम-से-कम उन पर यह निराशा का उन्माद और जन्म-भर का सियापा (शोक, आफत) तो नहीं चढ़ा था।'[7]

(छ) वह शंभली अतिप्रेम से किंतु कुछ देर से तथा खेद जतलाकर सांठे के रस से भरा करुआ (मिट्टी का लोटानुमा पात्र, कुज्जू, डुंगड़ू) लाई।'[8]

गुलेरी जी ने 'अमंगल के स्थान में मंगल शब्द' निबंध में कांगड़ा घाटी में प्रयुक्त होने वाले 'अमंगल' के स्थान पर 'मंगल शब्दों' के प्रयोग में वहां की भाषिक संरचना तथा लोक-संस्कृति का स्पर्श किया है। वैधव्यसूचक 'चूड़ी टूटना' के लिए 'चूड़ी मुरकना', रसोई के ईंधन की लकड़ी के गट्ठर के लिए 'भारा' तथा किसी बड़े की मृत्यु पर उससे छोटों द्वारा सिर मुंडवाने के लिए 'भंद्दराँ' का प्रयोग उल्लेखनीय है।

१. गुलेरी-ग्रंथ : पृ० १२९
२. वही, प० १५
३. वही, पृ० २५
४. वही, पृ० २९
५. वही, पृ० ६६
६. वही, पृ० ८७
७. वही, पृ० १०४
८. वही, पृ० १६३

हमारे यहां कांगड़ा में सुबह-सुबह किसी गांव या व्यक्ति या जाति-विशेष का सीधा नामोच्चारण करना अमंगलकारी माना जाता है। इस संदर्भ में उन्होंने अपना स्पष्टीकरण देते हुए लिखा है—"कुछ गांवों के नाम अशुभ माने जाते हैं। सुबह उठकर उनका नाम लेने से यह भय होता है कि भोजन न मिलेगा। उनके नाम बदलकर 'राजा का शहर', 'जव वाला गांव', 'डेढ़ कोस का गांव', 'मोटा गांव', 'तलाब वाला गांव' आदि रख दिए जाते हैं। कभी-कभी गांव का दुर्भाग्य नये नाम को भी नहीं छोड़ता, तव नये नाम की जगह और नाम गढ़ा जाता है। ऐसे नाम मेरी जानकारी में बहुतसे हैं; परंतु उनका यहां लिखना एक देशी और उनके निवासियों के अकारण चिढ़ाने का कारण हो सकता है।"[1]

गुलेरी जी ने 'संस्कृत की टिपरारी' लेख में कर्ण द्वारा, धृतराष्ट्र के दरबार में आए प्रवासी ब्राह्मणों तथा वाहीकों की गाथाओं की सामाजिक चेतना के चित्रण के संदर्भ में कुल्लू तथा चम्बा-विषयक लोकधारणाओं—'जाओ कुल्लू, हो जाओ उल्लू' तथा 'गए चम्बा, बड़ा अचंभा' को 'रांड-सांड-सीढ़ी-संन्यासी, इनसे बचे तो सेवे कासी' तथा 'जाए कलकत्ते, खाय अलबत्ते' के तौल पर उद्धृत किया है।[2]

'बनारसी ठग' टिप्पणी में 'वाराणसी' से 'बनारस' बनने की प्रक्रिया का संकेत करते हुए लिखते हैं कि बोलने में व्यत्यय हो जाने से 'चिलम' का 'चिमल' तथा 'चाकू' का 'काचू' हो जाता है।[3] हमारे यहां कांगड़ा में 'चिमल' तथा 'काचू' दोनों शब्द-प्रयोग मिलते हैं।

गुलेरी जी ने 'दो प्रश्नों का एक उत्तर' टिप्पणी में एक प्रश्न यह उद्धृत किया है—

कोठे पर क्यों चढ़ी ?
कूएं पर क्यों खड़ी ? लाज नहीं

इसमें 'लाज' शब्द बड़े काम का है। इसपर उनकी टिप्पणी है—"लाज—लज्जा, लाज = रज्जू = लेजू (एक पुरानी पोथी में रस्सी के लिए 'लालन' लिखा मिला है।"

'बृहद् हिंदी कोष' में लाज = लज्जा का अर्थ रस्सी नहीं, रज्जू का अर्थ रस्सी है। हमारे यहां कांगड़ा में कुएं से पानी भरने के लिए घड़ा या गागर आदि के गले में फाह (फंदा, फाँसी) लगाने के लिए जिस रस्सी का प्रयोग किया जाता है, उसका नाम 'लज्ज' भी है। इसलिए गुलेरी जी द्वारा लज्ज या रस्सी

१. अमंगल के स्थान में मंगल शब्द : सरस्वती, पृ० ३०१-०५, मई, १९१५, ई०
२. 'संस्कृत की टिपरारी' : सरस्वती, पृ० २०१-०४, अप्रैल, १९१८ ई०
३. बनारसी ठग : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, पृ० [illegible], सं० १९७८ वि०

के लिए बताया गया पुराना प्रयोग 'लालन' अपनी सार्थकता स्पष्ट करने लगता है। 'लज्ज' या 'रस्सी' को बटते समय 'बल्ले़ल' या सण (=सन) की गुट्टियां (ग्रंथियां, गांठें) प्रयोग में लाई जाती हैं। धागानुमा रेशों की समूह इन गुट्टियों में पुंजीभूत छोटे-छोटे लंबे तथा पतले रेशों के लिए आम बोलचाल में 'लौल़्' शब्द प्रचलित है—'बल्ले़ दी लौल़्', 'सणू दी लौल़्' वगैरा-बगैरा। और यह 'लौल़्' शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'लालन' के समीप बैठता भी है।

गुलेरी जी की इस भाषाशैली, शब्द-भंडार तथा विश्लेषण-पद्धति के संदर्भ में भाषा की व्यंजनाशक्ति को देखते हुए स्पष्ट हो जाता है कि वह बहुश्रुत तथा बहुपठित होने के कारण बहुज्ञ भी थे। उन्होंने हिमाचली पहाड़ी—कांगड़ी को पुरानी पंजाबी के परिवेश में खूब समझा और समझाया है। उनके 'पुरानी हिंदी' पुस्तक कहानियों, निबंधों तथा अन्यान्य टिप्पणियों में प्रयुक्त हिमाचली पहाड़ी—कांगड़ी के शब्द-भण्डार को देखते हुए, उनके अप्रतिम प्रातिभ होने की पुष्टि स्वयंमेव हो जाती है।

संस्मृतियाँ

मैं सिर भी दे सकता हूं

□ रायकृष्णदास

मैं पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी जी के नाम से परिचित था परंतु उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। पत्र-व्यवहार भी न था। पर एकाएक अवसर आ गया। १९११ ई० में द्वितीय हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन प्रयाग में होना निश्चित हुआ। पहले सम्मेलन में पूज्य द्विवेदी जी काशी आकर भी सम्मिलित नहीं हुए। उसकी अलग ही कहानी है। वह मेरी ही कुटिया पर टिके थे। भला वह जिस कार्यक्रम में न जाएं उसमें हम कैसे जा सकते हैं!

द्वितीय सम्मेलन में परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ। अतः हम लोग बड़े उत्साह से काशी से चले। इस दल में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, केदारनाथ पाठक आदि थे, मेरे एक भाई साहब का इलाहाबाद में मकान था। मैंने उन लोगों को अपने साथ ही रहने का निमंत्रण दिया। मैंने बिना परिचय के गुलेरी जी को भी अपने साथ टिकने का आमंत्रण पहले से भेज रखा था। उन्होंने अपनी साधुतावश उसे स्वीकार किया। बस, प्रयाग में ही पहली बार उनसे मिलना हुआ। उसी समय से निर्व्याज प्रेम हो गया। खूब साहित्यिक चर्चा रही। एक दिन हम लोग पं० श्रीधर पाठक से मिलने गये। वहां स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर चर्चा चल पड़ी। गुलेरी जी ने बड़ी दृढ़ता से कहा, कोई कारण नहीं है जिसके आधार पर हम लोग स्त्रियों को पुरुषों से नीचा समझें। मैं उनके उदार विचारों से बड़ा प्रभावित हुआ।

कामिनी के कपोल

फिर कहने लगे, कामिनी के गंडस्थल (कपोल) की पांडुका का अनुभव मुझे तब हुआ जब मैं बीकानेर गया और मैंने वहां की सुंदरियों को देखा। फिर वह कई बार बनारस आए और मेरे ही अतिथि हुए। इसके बाद तो पत्र-व्यवहार का क्रम चलता रहा। वह जयपुर राज्य से संबद्ध थे। गुलेरी जी के पिता जयपुर के

राजपंडित थे। इस प्रकार उनका राजस्थान से निकट का परिचय था।

बाद में वह अजमेर के राजकुमार मेयो कॉलेज के प्रोफेसर हो गए। उनकी पत्नी बराबर बीमार रहा करती थीं। वैद्यों ने उन्हें परवल का पथ्य बताया था। राजस्थान में परवल की सब्जी नहीं मिलती थी। अतः उनके नियमित पत्र आते रहते और जब तक परवल बनारस की मंडी में उपलब्ध होता रहता, मैं उन्हें भेजता रहता। एक पत्र में उन्होंने श्लेष भी किया है। मुझे स्वबल और अपने आपको परबल बताया था।

मैं सिर भी दे सकता हूं

एक बार वह कलकत्ते जा रहे थे। बड़ी आशा थी कि बनारस रुकेंगे। परंतु यह संभव न हुआ। इस प्रसंग के भी अनेक पत्र कलाभवन में सुरक्षित हैं। मेरा पारिवारिक बाग हेस्टिंग्स हाउस कहा जाता। वारेन हेस्टिंग्स ने प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व बनारस में अड्डा जमाया। यहीं से उसने अवध के नवाबों को नष्ट करने के षड्यंत्र रचे। मेरे दादा ने वहां के उद्यान को नीलाम में खरीद लिया। मैंने उसका नाम हसितांग गृह रखा था। मुझे लिखे अनेक पत्रों में इस नाम पर भी गुलेरी जी की सुंदर उक्तियां हैं। गुलेरी जी के मेरे नाम लिखे कई पत्र कलाभवन, वाराणसी में सुरक्षित हैं। मैंने उन्हें अपने मसूरी वाले मकान में भी कई बार बुलाया। वहां भाई मैथिलीशरण गुप्त, काशीप्रशाद जायसवाल, मुंशी अजमेरी आदि आ जाते। अच्छी साहित्यिक गोष्ठियां होती रहतीं। बार-बार प्रयत्न करने पर भी गुलेरी जी वहां न पधार सके। प्रत्येक अवसर में उनका निश्छल हास्य छलकता रहता।

वस्तुतः गुलेरी जी में प्रकांड पांडित्य के साथ-साथ बड़ी सरलता भी थी। ये दोनों विशेषताएं दुर्लभ व्यक्तियों में एकत्र होती हैं। संस्कृत का उनका पांडित्य अनंत था। फिर भी वह हिंदी के हार्दिक प्रेमी थे। मैंने मित्रों की प्रेरणा से भारत कला परिषद् का कार्य प्रारम्भ किया। उस समय मैंने १२ रुपये प्रतिवर्ष की सदस्यता के लिए उन्हें लिखा। उसका उन्होंने जो आत्मयीयतापूर्ण उत्तर दिया वह एक पत्र में सुरक्षित है। उन्होंने लिखा—'रुपये क्या, सिर तक दे सकता हूं।'

महामना मालवीय जी की प्रेरणा से वह काशी हिंदू विश्वविद्यालय में संस्कृत यूनिवर्सिटी के प्राचार्य के रूप में आ गए। वह स्थानीय मंजूपुर में विजयानगरम कोठी में रहते थे। प्राय. मिलना-जुलना रहता था। अवसर के अनुसार, कृपा करके मेरी कोठी पर भी आ जाते थे।

ब्राह्मण की हत्या

उन दिनों शाम को मैं स्थानीय काशी क्लब में बैठा करता। वहां इधर-उधर की बातचीत में समय बीत जाता। गुलेरी जी साथ होते थे। गुलेरी जी की मृत्यु भी बड़ी नाटकीय स्थिति में हुई। उनके एक रिश्तेदार प० नित्यानंद जी काशी के प्रमुख संस्कृत पंडित हुए। गुलेरी जी की भाभी का देहांत हो गया। बीमार होते हुए भी गुलेरी जी दाह-संस्कार में सम्मिलित हुए। परंतु दाह के बाद स्नान करने की उनकी हिम्मत न पड़ी। इसपर नित्यानंद ने उन्हें ललकारा—"तेरी भाभी मर गई और तू स्नान नहीं करता।" गुलेरी जी ने कहा, "ले चांडाल, एक ब्राह्मण की हत्या करनी है तो ले।" फिर वह गंगा में कूद पड़े। ज्वर कुपित हो गया और वह अच्छे न हो सके। उनके तिरोभाव से हिंदी का प्रतिभावान नक्षत्र अल्प समय में ही अस्त हो गया। मैं भी पुनः काशी क्लब में अपनी उदास संध्याएं बिताने लग गया।

मेरे गुरुभाई

□ रघुनंदनप्रसाद शर्मा

बहुत दिनों की बात है। सन् १६०६ या १० ई० रहा होगा। मैं दस-ग्यारह वर्ष का निरा अबोध बालक था। संस्कृत पढ़ने की इच्छा से अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान श्री पंडित शिवराम (महामहोपाध्याय लघु सिद्धांत कौमुदी के अर्वाचीन छात्रोपयोगी संस्करण के संशोधक एवं संपादक) की सेवा में उपस्थित हुआ। उनकी योग्यता और विद्वत्ता से प्रभावित होकर जयपुर के तत्कालीन नरेश सवाई रामसिंह ने उन्हें अपने पास बुला लिया था। वहां मुझको ले जाने वाले स्वयं पं० शिवराम जी के सुपुत्र श्री पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी थे।

शरीर से हृष्ट-पुष्ट, सुंदर क्रियाशील युवक श्री गुलेरी जी को मैं अपना आदर्श मानकर हृदय से उनकी पूजा किया करता था। गौर वर्ण, उच्च ललाट, सुंदर गोल पगड़ी, प्राचीन शैली की तनीदार बगलबंदी, स्वच्छ निर्मल पटलीदार धोती एवं देशी चोंचदार जूते सदा के लिए मन में बस गए थे। आज भी वह मूर्ति हृदय में अंकित है और उनका वियोग न जाने कितनी बार लेखक को ही नहीं, उसके अन्य समकालीन मित्रों को वृद्धावस्था में रुला चुका है। ऐसे थे वह प्रेम, सहानुभूति, दया की मूर्ति। हां, तो जब वह अपने पिता जी के पास ले गए, मैंने उन वृद्ध तपस्वी ब्राह्मण को कादम्बरी में वर्णित जाबालि मुनि के समान पाया। उस समय उनकी अवस्था ७५ वर्ष की रही होगी, किंतु वृद्धावस्था का कोई भी लक्षण उनमें प्रतीत नहीं होता था। तेज उनके चेहरे से टपका पड़ता था। जयपुर में रह-कर उन्होंने सैकड़ों विद्यार्थियों को निःशुल्क विद्यादान देकर अच्छी ख्याति प्राप्त की थी। मैं तो उनके सम्मुख हाथ जोड़कर खड़ा ही रह गया। मुझे होश तब आया जब गुलेरी जी ने मुझसे कहा, 'चरण-बंदना' करो। कमरे में प्रवेश करते ही वह पहले ही पिता जी के चरण छू चुके थे।

स्वयं गुलेरी जी ने अपने विद्वान पिता से ही पढ़ना-लिखना सीखा था। आरंभ में उन्होंने संस्कृत पढ़ी। उनकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। पांच-छः वर्ष की अवस्था

ही में उन्होंने संस्कृत में बोलने का अच्छा अभ्यास कर लिया था। जहां कहीं भी भारतीय संस्कृति के लिए, विद्वत्तापूर्ण किसी गवेषणा के लिए सामाजिक कुरीति-निवारणार्थ अथवा राजनीतिक एवं आर्थिक समस्या सुलझाने के लिए ज्योतिष-संबंधी किसी प्रश्न के हल करने के लिए जयपुर में कहीं भी कोई सभा होती थी, श्री गुलेरी जी ही उसके प्राण होते और मुझे भी सदा ऐसे अवसरों पर उनकी निजी रूप में सेवा करने के लिए दास बनने का सौभाग्य प्राप्त होता। उनकी पुस्तकें, चश्मा, छड़ी आदि का मैं ही उत्तरदायी रहता था। उनके लुके-छिपे, बाहर उतारे हुए उनके जूतों को भी अपने रूमाल से साफ कर दिया करता था। इस सबने मुझको उनका अतीव कृपा-पात्र बना दिया था। सदा सभी परिस्थितियों में मैं उनकी संरक्षकता प्राप्त करता रहा। छोटी-से-छोटी बात का भी उनको सदा ध्यान रहता था। भूलना तो वह जानते ही न थे।

यद्यपि ज्ञान की कमी के कारण मेरी समझ में भी न आता था कि कौन चर्चा किस प्रकार की हो रही है, क्योंकि उस विद्वन्मंडली में भाषण का माध्यम प्रायः संस्कृत ही होता था। फिर भी वे सब बातें मेरे ऊपर एक अमिट छाप छोड़ गई हैं और उन्हीं बचपन के दिनों में कुछ ऐसा बीज बो गई हैं जो कदाचित् अनुकूल परिस्थितियों के अभाव में सुंदर वृक्ष के रूप में प्रस्फुटित तो नहीं हो पाया, किंतु एक अविकसित पौधे के रूप में हृदय को अब भी आंदोलित करता रहता है। यह मेरी ही अवस्था नहीं है, उनके संपर्क में आने वाले सभी का यही हाल है। मेरे आठवीं कक्षा में हिंदी के अध्यापक महाराजा कॉलेज में स्वनाम-धन्य स्वर्गीय श्री विजयचंद्र शर्मा थे। छमाही परीक्षा में उन्होंने मुझको १०० में से ११० अंक दिए। कक्षा का मॉनीटर होने के कारण, जब मैं उन अंकों को परिणाम-पत्र पर चढ़ाने लगा, तो मैंने अपने नाम के सम्मुख ११० अंक न चढ़ा-कर १०० ही चढ़ाए। पंडित जी नाराज हुए और कहने लगे कि यदि किसी ने १०० से भी अधिक अंक प्राप्त करने का कार्य किया हो, तो क्या किया जाए। मैंने नम्रता से उत्तर दिया कि उसके लिए कोई आशीर्वादात्मक श्लोक लिख दिया जाय। पंडित जी ने शीघ्र ही मेरी परीक्षा-पुस्तक पर श्लोक लिख दिया कि तू भी चंद्रधर शर्मा गुलेरी हो। यह आशीर्वाद ऐसा फला कि सन् १८९९ ई० की प्रयाग विश्वविद्यालय की एंट्रेंस परीक्षा में श्री गुलेरी जी प्रथम आए थे और मैं भी उन्हीं चरणों का अनुसरण करता हुआ सन् १९२७ ई० की मैट्रीकुलेशन परीक्षा में प्रयाग विश्वविद्यालय में उसी महाराजा कॉलेज से वही स्थान प्राप्त कर सका। तात्पर्य यह है कि उन्हीं का आदर्श हम सबको निरंतर ऊंचा उठाता चला जाता था। अंग्रेजी की शिक्षा के साथ-ही-साथ संस्कृत का स्वाध्याय भी लगातार किया जाता था। एण्ट्रेंस पास करने के बाद ही उन्होंने महाभाष्य का अध्ययन किया। सम्राट-सिद्धांत ज्योतिष ग्रंथ का अनुवाद किया। जयपुर के मानमंदिर का

जीर्णोद्धार कराया और अंग्रेजी में लेफ्टीनेंट गैरेट के साथ 'द जयपुर आब्जरवेटरी एण्ड इट्स बिल्डर्स' ग्रंथ लिखा। यह कार्य उन्होंने अपने विद्यार्थी जीवन में ही किया था। उन्होंने बी० ए० भी प्रथम श्रेणी में किया। तत्पश्चात् के खेतड़ी-नरेश जयसिंह के संरक्षक बनकर मेयो कॉलेज, अजमेर में चले गए और वहां वह संस्कृत के प्रधानाध्यापक हो गए।

मेयो कॉलेज, अजमेर संबंधी अपने संस्मरण लिखने के पहले मैं श्री गुलेरी जी की एक और झांकी उपस्थित करना चाहता हूं। वह मौज मंदिर से संबंध रखती है। यह संस्था उन बड़े-बड़े मुकदमों में धार्मिक दृष्टिकोण से व्यवस्था देती थी, जिनको उच्च न्यायालय व्यवस्था के लिए इस संस्था के पास भेजते थे। इसके अध्यक्ष राजगुरु महामहोपाध्याय श्री मधुसूदन ओझा थे। ओझा जी अपने समय के प्रकांड विद्वान हुए हैं। जब उनकी सवारी पालकी में निकलती थी, सड़क से गुजरने वाले सभी ताजीमी सरदार, गजेटेड उच्चपदाधिकारी आदि अपनी मोटर व बग्घी आदि रुकवाकर नीचे उतरकर गुरु जी को हाथ जोड़कर खड़े हो जाते थे। उस समय कोई भी अपने सर पर छाता नहीं लगा सकता था, तत्क्षण नीचा करना पड़ता था। मौज मंदिर के दिव्य भवन में गुरुमहाराज की मखमल की गद्दी पर रेशमी चादर विछी होती थी। सामने ठोस चांदी की चौकी पर चांदी की दवात में सोने का कलम होता था। वाहर चांदी की छड़ियां लिए चोबदार और ढलैत खड़े रहते थे। सभी योग्य विद्वान मौज मंदिर के सदस्य होते थे। वहां की सभी कार्यवाही संस्कृत में होती थी। उन वृद्ध पंडितों के बीच में श्री गुलेरी जी साक्षात् शुकदेव मुनि जैसे सुशोभित होते थे। सभी वृद्ध इस नवयुवक का लोहा मानते थे। बड़ी-बड़ी कठिन समस्याओं को चुटकी बजाते हल कर देते थे। ऐसे-ऐसे पौराणिक, शास्त्रीय, वैदिक आख्यानों का उदाहरण रखते थे और उनका इतना सुंदर आधुनिकतम विवेचन करते थे कि देखते ही बनता था। जितना प्राच्य विद्या का पूर्ण ज्ञान था, पाश्चात्य दर्शन-विज्ञान आदि को भी उतना ही जानते थे। पूर्व और पश्चिम की प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृतियों का उनमें पूर्ण समन्वय हो गया था। इन सभाओं में अल्पवयस्क मैं तो हाथ जोड़े एक कोने में खड़ा रहता था। मानो श्री गुलेरी जी का अंगरक्षक होऊं।

गुलेरी जी मेयो कॉलेज में जयपुर के समस्त सामंत-पुत्रों के अभिभावक थे। कश्मीर के महाराज हरीसिंह, प्रतापगढ़ के नरेश रामसिंह, ठाकुर अमरसिंह, ठाकुर कुशलसिंह, ठाकुर दलपतसिंह उनके प्रिय शिष्यों में थे। मैंने अपनी आंखों देखा है कि ये सब गुरुदेव का कितना आदर करते थे। उनके सम्मुख खड़े रहते थे। कोई भी अपराध हो जाए, तो भय से कांप उठते थे। एक बार बगीचे में

छिपकर एक पेड़ के नीचे एक राजकुमार मदिरापान कर रहा था, अकस्मात् गुरुदेव उधर जा निकले। तत्क्षण वह बोतल फेंककर छिपने लगा। भय के मारे उसका बुरा हाल था, कांपता हुआ वहीं लुढ़क गया। श्री गुलेरी जी दूर निकल गए थे। मैंने दौड़कर उसे उठाया। उसकी घिग्घयाँ बंध रही थीं। वह बार-बार पूछता था, "गुरु जी ने मुझे देखा तो नहीं?" ऐसा था उनका अनुशासन एवं प्रताप!

सन् १९२१ ई० के स्वतंत्रता आंदोलन से मेरा कुछ संबंध हो गया था। एतदर्थ मुझे एम० ए० की अपनी पढ़ाई छोड़कर जयपुर से अजमेर चला जाना पड़ा। वहां मुझे कांग्रेस कार्यालय में प्रांतीय मंत्री का दफ्तर संभालना पड़ा। भोजन स्वयंसेवकों के साथ करता था। मुझे ग्लानि थी कि चंदे के धन को मैं अपने निजी भोजन के काम में क्यों ला रहा हूं। इस समस्या को अपने पूज्य आदर्श श्री गुलेरी जी के सम्मुख रखने मैं मेयो कॉलेज गया। स्वच्छ संगमरमर की बनी सुंदर सीढ़ियों पर चढ़कर जब मैं उनके कमरे में पहुंचा, तो अंदर की कोठरी का दरवाजा थोड़ा-सा खुला था। उसमें से धूप की सुगंध आ रही थी। मैं यह देखकर अवाक् रह गया कि षोडशोपचार विधि से श्री गुलेरी जी अपने पूज्य पिता के चित्र की पूजा कर रहे थे। नेत्र बंद थे और कपोलों पर अश्रु-प्रवाह था। उस पितृभक्ति और गुरुभक्ति को देखकर मैं मुग्ध रह गया। श्री गुलेरी जी की वह झांकी भी मेरे मन में बस गई है। यह पूजा नित्य गुप्त रूप से हुआ करती थी। कोई भी इसका साक्षी नहीं हुआ करता था। मुझे ही उनको देखने का सौभाग्य मिल गया और यह भेद अपने हृदय में छिपाए रखा। श्री गुलेरी जी को भी नहीं मालूम होने दिया कि मैं उनकी पूजा-विधि देख चुका हूं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उस दीन-बंधु ने, सब ही पर अकारण अनुग्रह, अहैतुकी कृपा करने वाले ने, तत्क्षण बघेरा राजकुमार को घंटे भर अयोध्याकांड पढ़ाने की मेरी ५० रुपये मासिक की ट्यूशन लगवा दी और मैं भोजन के बदले में यह धन कांग्रेस कार्यालय को देकर ग्लानि से मुक्त हुआ।

उसी वर्ष वह प्राच्य विभाग के अध्यक्ष होकर हिंदू विश्वविद्यालय, काशी चले गए। महामना मालवीय जी ने भारत के कोने-कोने से योग्यतम विद्वानों को वहां एकत्रित कर दिया था। किंतु यह काशी-यात्रा बड़ी दुःखद रही। न मालूम किस प्रकार पांडुरोग का भयानक आक्रमण हो गया। ज्यों-ज्यों दवा हुई, रोग बढ़ता ही गया। उनकी अंतिम झांकी बड़ी ही कारुणिक है। उसका वर्णन न किया जाए तभी अच्छा है। वह बलिष्ठ शरीर सूखकर कांटा, वह तेजस्वी आंखें नितांत पीली—यहां तक कि शरीर पर का कुर्ता भी पसीने से पीला हो गया था। मानो हल्दी में रंग दिया गया हो। मैं तो बस रोग-शय्या की बगल में खड़े-खड़ा ही रह गया—आंखों-ही-आंखों में मूक भाषा में भाव का आदान-प्रदान

हुआ। उस दृश्य को मैं सह न सका, मेरी हिचकियां बंध गईं। धाड़ मारकर रोता बाहर को भागा और दूसरे ही दिन वह तेजस्वी सूर्य १२ सितंबर, १९२२ ई० को केवल ३९ वर्ष की अवस्था में सदा को अस्त हो गया !

यद्यपि श्री गुलेरी जी आज हमारे बीच नहीं हैं तथापि हिंदी संसार उनको कभी नहीं भूल सकता, वह उनका चिर ऋणी रहेगा। काशी नागरी प्रचारिणी सभा का सभापतित्व, देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला का सम्पादन उनके गौरव को चिर अक्षुण बनाए रखने को पर्याप्त है। पुरातत्त्व, इतिहास, दर्शन, ज्योतिष, साहित्य, भाषा-विज्ञान—सभी में उनकी गति अबाध थी। अंगरेजी, जर्मन, फ्रेंच और संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, पाली, बंगला और मराठी का भी उनको अच्छा ज्ञान था। उन्होंने 'समालोचक' पत्र का बड़ा सफल संपादन किया था। उनकी तीन अमर कहानियों में से 'उसने कहा था' ने तो विश्वख्याति प्राप्त कर ली है। इन सबमें वह कितना परिश्रम करते थे उसकी साक्षी मेरी आंखें हैं। कार्य करते समय उनको तन-बदन की सुध नहीं रहती थी। क्या यही अनवरत परिश्रम एवं भोजनादिक निजी देही आवश्यकताओं की ओर से नितांत उदासीनता ही काशी में प्राच्य विभाग संगठित करते समय घातक तो नहीं हो गई ?

वह सभा को पुत्री मानते थे

□ आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

१५ दिसंबर, १९७६ ई० को आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र को दिल्ली में उनके शिष्यों द्वारा 'अभिनंदन ग्रंथ' भेंट किया गया। १६ दिसंबर को आचार्य जी से स्व० गुलेरी जी के संस्मरणों की चर्चा छेड़ बैठा तो बोले—"बात गुलेरी जी के आकस्मिक देहांत के लगभग १४-१५ दिन पहले की है। काशी में उनके किसी निकट संबंधी का देहांत हो गया था।[1] गुलेरी जी उस दिन ज्वर से पीड़ित थे और दाह-संस्कार के लिए गंगा जी पर गए हुए थे। दाह-संस्कार के बाद सबने गंगा-स्नान किया, पर ज्वर-पीड़ित होने के कारण गुलेरी जी रुक गए। पर होनी बलवान् होती है। तब श्री पद्मनाभ शास्त्री[2] ने कुछ ऐसे तीखे तथा कटु शब्दों का प्रयोग करके उनके ब्राह्मणत्व पर चोट कर दी और सुनते ही गुलेरी जी वस्त्रों समेत, 'दुष्ट ! यदि तू मेरा मरना ही चाहता है तो ले,' कहकर गंगा जी में छलांग लगा गए। बस, उनका यह गंगा-स्नान सारे हिंदी जगत् के लिए 'गंगा-स्नान' बन गया। उन्हें सन्निपात हो गया। और यही उन्हें ले गया।"

इसके बाद आचार्य मिश्र जी ने एक बात और बड़ी रोचक बताई। बोले—"गुलेरी जी नागरी प्रचारिणी सभा में अवैतनिक कार्य किया करते थे। और इस अवैतनिकता का पालन भी वह बड़ी कड़ाई से करते थे। इतनी कड़ाई से कि वहां काम करते समय, वहां का जल तक ग्रहण नहीं करते थे। वहां काम करने वाले अन्यान्य लोग जब उनसे इसका कारण पूछते थे तो अक्सर कहा करते, 'कोई अपनी लड़की के घर का भी कुछ खाता-पीता है क्या ?' " इस संस्मरण को सुनाते-सुनाते आचार्य मिश्र का गला भर आया था। बोले—"कैसी त्याग तथा सेवा भावना थी उन लोगों में ! हिंदी को सच्चे अर्थों में उस पीढ़ी के लोगों ने निःस्वार्थ भाव से सींचा था।"

•

१. देखें : इस ग्रंथ का पृष्ठ २२—संपादक

२. वही, पृ०२२—संपादक

आचार्य जी अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए फिर बोले—"मैं रीतिकाल की 'स्वच्छंद काव्यधारा' पर जब डॉक्टरेट की उपाधि के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निर्देशन में काम कर रहा था, तब वह अक्सर भेंटवार्ता में हिंदी के दिग्गजों की विद्वत्ता को रेखांकित करने वाले प्रेरक प्रसंग सुनाया करते थे। उन्होंने एक दिन गुलेरी जी विषयक बड़ा ही मर्मस्पर्शी संस्मरण सुनाया, जिसमें गुलेरी जी की ही नहीं, उनकी संतान की कुशाग्र बुद्धि तथा गहरी पैठ का भी पता चलता है। एक दिन आचार्य जी बोले, 'बात गुलेरी जी के देहावसान के चार-पांच दिन पहले की है। वह 'नागरी प्रचारिणी सभा' की मीटिंग में उपस्थित थे। यह उनकी, सभा में अंतिम मीटिंग थी। गुलेरी जी के साथ उनका छोटा-सा बालक भी वहां उपस्थित था। बातचीत के दौरान किसी सज्जन ने अंगरेजी में कहना शुरू किया तो मैंने टोक दिया और हिंदी की सभा में हिंदी में बोलने का आग्रह किया। इस बीच उन अंगरेजी बोलने वाले सज्जन के पक्ष के लोगों ने भी उनका समर्थन करना शुरू कर दिया और मुझे चित्त करने के लिए तर्क दिया कि—कुछ भाव-विचार ऐसे भी होते हैं जिन्हें अंगरेजी ही सहार सकती है, हिंदी में पूरी बात ठीक-ठीक कही ही नहीं जा सकती।—सुनकर, मैं सन्न रह गया। बस, इसी बीच उन सज्जन ने हठात् प्रश्न कर दिया—जरा यह तो कहिए कि आप हिंदी में परदेस में रह रहे पति की ओर से पत्नी को भला क्या संबोधन लिखना पसंद करेंगे?

" 'मैं अभी सोच ही रहा था कि बगल में बैठे गुलेरी जी ने अपने बेटे से कहा—बेटा! बताना जरा, क्या लिखेंगे? और वह होनहार बालक झट से बोल उठा—दादी जी को प्रणाम, बच्चों को आशीर्वाद-प्यार और बच्चों की मां को श्रद्धा। .

"सभा उठने के बाद मैंने गुलेरी जी से उस बालक के विस्मयकारी ज्ञान का रहस्य पूछा तो सहज भाव में हल्का-सा मुस्कराते हुए बोले—पंडित जी, कुछ नहीं। मैं जब घर से बाहर होता हूं तो अपने पत्रों में ऐसा लिख दिया करता हूं।"

ध्यातव्य है कि गुलेरी जी के साथ उपस्थित वह बालक उनका ज्येष्ठ मेधावी पुत्र योगेश्वर था। इन्हीं योगेश्वर शर्मा गुलेरी ने सन् १९५० ई० में 'हिंदुस्तान टाइम्स' द्वारा आयोजित 'अंतर्राष्ट्रीय कहानी प्रतियोगिता' में पुरस्कृत ७ सर्वश्रेष्ठ कहानियों में, अपनी 'राम जी की मरजी' पर ४०० रुपये का तृतीय तथा 'जीवन का संगीत' २५० रुपये का छठा पुरस्कार प्राप्त किया था। स्व० योगेश्वर गुलेरी भी मेधावी पिता की मेधावी संतान थे। इनकी लिखी हुई उक्त दो कहानियों के अतिरिक्त तीन कहानियां और हैं—'उसका टुकड़ा,' 'नर या नारी' तथा 'चोट।'

[प्रस्तुति : सम्पादक]

चौबे जी के संग

□ प्रेमनाथ चतुर्वेदी

जीवन में एक-न-एक चूक ऐसी हो जाती है, जो न विस्मृत होती है और न सालना छोड़ती है। मेरे नाना जी पूज्य श्री चौबे विश्वेश्वरनाथ जी मिश्र (काशी भवन, मिर्जाइस्माइल रोड, जयपुर) और पंडित श्री चन्द्रधर जी शर्मा गुलेरी बड़े घनिष्ठ मित्र थे। वैसे तो मैं ननसाल जाया ही करता था, परंतु बी०ए० तक की शिक्षा मैंने नाना जी के संरक्षण में रहकर महाराजा कॉलेज, जयपुर में ही प्राप्त की थी, क्योंकि भरतपुर में तब तक उच्च शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी। तीन बरस तक उनसे बातचीत करने का अवसर मिला, पर गुलेरी जी के विषय में कभी खुलकर बात करने का सुयोग नहीं हुआ। वह बहुत कम बोलते थे। अतः कुछ भय-सा मन में रहता था। एक दिन मैंने उनके चित्र-संग्रह में गुलेरी जी का बड़ा सुंदर चित्र देखा। उस चित्र में गुलेरी जी हाथ में पूजा-पात्र लिए थे। उनके ललाट और दोनों भुजाओं पर त्रिपुंड दीख रहा था। गले में रुद्राक्ष की माला थी। मैंने नाना जी से उस भव्य चित्र का उल्लेख किया तो उन्होंने बताया कि वह चित्र उन्होंने ही खींचा था। उसका एनलार्जमेंट फोटोग्राफर गोविन्द राम उदय राम ने किया था।

ऐसी ही किसी बात पर नाना जी ने गुलेरी जी से अपनी मित्रता और उनके गुणों का संक्षेप में बखान किया था। मैं अक्सर देखता कि गुलेरी जी की पत्नी नाना जी के पास आकर अपने दुःख-दर्द की बातें कहतीं। वह लाज (घूंघट) मारकर उनके सामने कालीन पर बैठ जाती थीं। यदा-कदा थोड़ी-बहुत मदद नाना जी स्वयं कर देते। यदि अधिक की तकरार होती तो वह गुलेरी जी के भक्त किसी पुराने सरदार को पत्र लिखते। घर की समस्याओं के बारे में भी उनको अपनी सलाह देते थे। नाना जी के मतानुसार, गुलेरी जी की पत्नी का स्वभाव अच्छा नहीं था।

एक दिन नाना जी से मैंने कहा कि मेरे साथ गुलेरी जी के पुत्र पढ़ते हैं।

उनका नाम योगेश्वर है। तब उन्होंने मुझसे पूछा—"क्या तुम जानते हो कि उसका योगेश्वर नाम कैसे पड़ा ?" मैंने कहा—"मुझे तो पता नहीं ।" तब नाना जी बोले, "जब यह लड़का पैदा हुआ तब काफी देर तक रोया नहीं। इस पर गुलेरी जी ने पूर्वजन्म का योगी समझकर पुत्र का नाम 'योगेश्वर' रख दिया। घर में सभी उनको 'योगा' कहते थे ।"

योगेश्वर जी कभी-कभी अपनी माता जी के साथ नाना जी के पास आया करते थे। वह मेरे इंटर (१६३१-३२) में सहपाठी रहे। उनका भी हिंदी विषय था और मेरा भी। जब श्री रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' की अध्यक्षता में 'हिंदी साहित्य समाज' की स्थापना की गई, तब उन्होंने उसके लिए धनसंग्रह कराने में बड़ा सहयोग किया था। जो धन-संग्रह हुआ उससे हिंदी की अच्छी-अच्छी पुस्तकें खरीदी गईं। उनकी दो अलमारियां पुस्तकालय के एक कोने में अलग रखी गईं। तब तक महाराजा कॉलेज म्यूजियम के पीछे बने नये विशाल भवन में आ गया था। इण्टर तक हम लोग हवामहल के सामने वाले भवन में पढ़े। इण्टर करके योगेश्वर जी जयपुर छोड़कर कहीं अन्यत्र चले गए थे।

योगेश्वर जी का हिंदी और अंगरेजी विषयों पर पूरा-पूरा अधिकार था। उन्हें पान खाने और गप्पें मारने का बड़ा शौक था। उनके दिमाग में जाने कहां-कहां की बातें भरी रहती थीं। पर बातों के दौरान उन्होंने अपने पिता जी का कभी उल्लेख नहीं किया। यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि मैंने उनके पिता जी के बारे में कभी कोई प्रश्न ही नहीं किया। योगेश्वर जी धोती और खुले गले का कोट पहनते थे। जहां तक मुझे स्मरण आता है, शिलीमुख जी ने 'उसने कहा था' कहानी पढ़ाते समय योगेश्वर जी से पं० चन्द्रधर शर्मा जी के संबंध में कभी कोई बात नहीं पूछी। यहां इतना संकेत कर देना समीचीन होगा कि शिलीमुख जी ने अपनी 'आधुनिक कहानियां' नामक पुस्तक में 'उसने कहा था' की बहुत अच्छी समालोचना की थी। तब यह पुस्तक इण्टर के पाठ्यक्रम में थी।

योगेश्वर जी से मेरी फिर कभी भेंट न हो सकी। जिन दिनों नवभारत टाइम्स का कार्यालय दरियागंज में था, तब उनके कई लेख उसमें छपे थे। मुझे ऐसा स्मरण है कि उनकी मृत्यु पर उनके विषय में कुछ श्रद्धांजलि-लेख नवभारत टाइम्स से प्रकाशित हुए थे। मुझे ऐसा अवसर प्राप्त हुआ था कि मैं उन दोनों पिता-पुत्र के बारे में अधिक-से-अधिक जानकारी प्राप्त कर लेता पर तब छानबीन की रुचि मुझमें विकसित नहीं हो पाई थी, इसका मुझे बड़ा मलाल है।

द्वितीय खंड

चंद्रधर शर्मा गुलेरी की रचनाएं

- ☐ कहानी
- ☐ भाषा
- ☐ लोक और कला
- ☐ काव्य
- ☐ निबंध
- ☐ विज्ञान
- ☐ विविध

कहानी

सुखमय जीवन

[१]

परीक्षा देने के पीछे और उसके फल निकलने के पहले के दिन किस बुरी तरह बीतते हैं, यह उन्हीं को मालूम है जिन्हें उन्हें गिनने का अनुभव हुआ है। सुबह उठते ही परीक्षा से आज तक कितने दिन गए, यह गिनते हैं और फिर 'क़हावती आठ हफ्ते' में कितने दिन घटते हैं, यह गिनते हैं। कभी-कभी उन आठ हफ्तों पर कितने दिन चढ़ गए, यह भी गिनना पड़ता है। खाने बैठे हैं और डाकिये के पैर की आहट आई—कलेजा मुंह को आया। मुहल्ले में तार का चपरासी आया कि हाथ-पांव कांपने लगे। न जागते चैन, न सोते—सपने में भी यह दिखता है कि परीक्षक साहब एक आठ हफ्ते की लंबी छुरी लेकर छाती पर बैठे हुए हैं।

मेरा भी बुरा हाल था। एल-एल० बी० का फल अबकी और भी देर से निकलने को था—न मालूम क्या हो गया था, या तो कोई परीक्षक मर गया था, या उसको प्लेग हो गया था। उसके पर्चे किसी दूसरे के पास भेजे जाने को थे। बार-बार यही सोचता था कि प्रश्नपत्रों की जांच किए पीछे सारे परीक्षकों और रजिस्ट्रारों को भले ही प्लेग हो जाए, अभी तो दो हफ्ते माफ करें। नहीं तो परीक्षा के पहले ही उन सबको प्लेग क्यों न हो गया? रात-भर नींद नहीं आई थी, सिर घूम रहा था; अखबार पढ़ने बैठा कि देखता क्या हूं कि लिनोटाइप की मशीन ने चार-पांच पंक्तियां उलटी छाप दी हैं। बस, अब नहीं सहा गया—सोचा कि घर से निकल चलो; बाहर ही कुछ जी बहलेगा। लोहे का घोड़ा उठाया कि चल दिए।

तीन-चार मील जाने पर शांति मिली। हरे-हरे खेतों की हवा, कहीं पर चिड़ियों की चहचह और कहीं कुओं पर खेतों को सींचते हुए किसानों का सुरीला गाना, कहीं देवदार के पत्तों की सोंधी बास और कहीं उनमें हवा का

सीं-सीं करके बजना—सबने मेरे चित्त को परीक्षा के भूत की सवारी से हटा लिया। बाइसिकिल भी गजब की चीज है। न दाना मांगे, न पानी, चलाए जाइए जहां तक पैरों में दम हो। सड़क में कोई था ही नहीं, कहीं-कहीं किसानों के लड़के और गांव के कुत्ते पीछे लग जाते थे। मैंने बाइसिकिल को और भी हवा कर दिया। सोचा कि मेरे घर सितारपुर से पंद्रह मील पर कालानगर है—वहां की मलाई की बरफ अच्छी होती है और वहीं मेरे एक मित्र रहते हैं; वे कुछ सनकी हैं। कहते हैं कि जिसे पहले देख लेंगे, उससे विवाह करेंगे। उनसे कोई विवाह की चर्चा करता है, तो अपने सिद्धांत के मंडन का व्याख्यान देने लग जाते हैं। चलो, उन्हीं से सिर खाली करें।

खयाल-पर-खयाल बंधने लगा। उनके विवाह का इतिहास याद आया। उनके पिता कहते थे कि सेठ गनेशलाल की एकलौती बेटी से अबकी छुट्टियों में तुम्हारा ब्याह कर देंगे। पड़ोसी कहते थे कि सेठ जी की लड़की कानी और मोटी है और आठ ही वर्ष की है। पिता कहते थे कि लोग जलकर ऐसी बातें उड़ाते हैं; और लड़की वैसी हो भी तो क्या, सेठ जी के कोई लड़का है नहीं; बीस-तीस हजार का गहना देंगे। मित्र महाशय मेरे साथ-साथ पहले डिबेटिंग क्लबों में बाल-विवाह और माता-पिता की जबरदस्ती पर इतने व्याख्यान झाड़ चुके थे कि अब मारे लज्जा के साथियों में मुंह नहीं दिखाते थे। क्योंकि पिता जी के सामने चीं करने की हिम्मत नहीं थी। व्यक्तिगत विचार से साधारण विचार उठने लगे। हिंदू-समाज ही इतना सड़ा हुआ है कि हमारे उच्च विचार कुछ चल ही नहीं सकते। अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। हमारे सद्विचार एक तरह के पशु हैं जिनकी बलि माता-पिता की जिद और हठ की वेदी पर चढ़ाई जाती है।···भारत का उद्धार तब तक नहीं हो सकता—।

फिस्स्स् ! एकदम अर्श से फर्श पर गिर पड़े। बाइसिकिल की फूंक निकल गई। कभी गाड़ी नाव पर, कभी नाव गाड़ी पर। पम्प साथ नहीं था और नीचे देखा तो जान पड़ा कि गांव के लड़कों ने सड़क पर ही कांटों की बाड़ लगाई है। उन्हें भी दो गोलियां दीं पर उससे तो पंकचर सुधरा नहीं। कहां तो भारत का उद्धार हो रहा था और कहां अब कालानगर तक इस चरखे को खैंच ले जाने की आपत्ति से कोई निस्तार नहीं दिखता। पास के मील के पत्थर पर देखा कि कालानगर यहां से सात मील है। दूसरे पत्थर के आते-आते मैं बेदम हो लिया था। धूप जेठ की, और कंकरीली सड़क, जिसमें लदी हुई बैलगाड़ियों की मार से छः-छः इंच शक्कर की-सी बारीक पिसी हुई सफेद मिट्टी बिछी हुई ! काले पेटेंट लेदर के जूतों पर एक-एक इंच सफेद पालिश चढ़ गई। लाल मुंह को पोंछते-पोंछते रूमाल भीग गया और मेरा सारा आकार सभ्य विद्वान् का-सा नहीं, वरन् सड़क कूटने वाले मजदूर का-सा हो गया। सवारियों के हम लोग

इतने गुलाम हो गए हैं कि दो-तीन मील चलते ही छठी का दूध याद आने लगता है !

[२]

"बाबू जी, क्या बाइसिकिल में पंकचर हो गया है ?"

एक तो चश्मा, उस पर रेत की तह जमी हुई, उस पर ललाट से टपकते हुए पसीने की बूंदें, गर्मी की चिढ़ और काली रात की-सी लंबी सड़क—मैंने देखा ही नहीं था कि दोनों ओर क्या है। यह शब्द सुनते ही सिर उठाया, तो देखा कि एक सोलह-सत्रह वर्ष की कन्या सड़क के किनारे खड़ी है।

"हां, हवा निकल गई है और पंकचर भी हो गया है। पम्प मेरे पास है नहीं। कालानगर कुछ बहुत दूर तो है ही नहीं—अभी जा पहुंचता हूं।"

अंत का वाक्य मैंने सिर्फ ऐंठ दिखाने के लिए कहा था। मेरा जी जानता था कि पांच मील पांच सौ मील के-से दिख रहे थे।

"इस सूरत से तो आप कालानगर क्या, कलकत्ते पहुंच जाएंगे। जरा भीतर चलिए, कुछ जल पीजिए। आपकी जीभ सूखकर तालू से चिपट गई होगी। चाचा जी की बाइसिकिल में पम्प है और हमारा नौकर गोविंद पंकचर सुधारना भी जानता है।"

"नहीं, नहीं—"

"नहीं, नहीं क्या, हां, हां !"

यों कहकर बालिका ने मेरे हाथ से बाइसिकिल छीन ली और सड़क के एक तरफ हो ली। मैं भी उसके पीछे चला। देखा कि एक कँटीली बाड़ से घिरा बगीचा है जिसमें एक बँगला है। यहीं पर कोई 'चाचा जी' रहते होंगे, परंतु यह बालिका कैसी—

मैंने चश्मा रूमाल से पोंछा और उसका मुंह देखा। पारसी चाल की एक गुलाबी साड़ी के नीचे चिकने काले बालों से घिरा हुआ उसका मुखमंडल दमकता था और उसकी आंखें मेरी ओर कुछ दया, कुछ हँसी और कुछ विस्मय से देख रही थीं। बस, पाठक ! ऐसी आंखें मैंने कभी नहीं देखी थीं। मानो वे मेरे कलेजे को घोलकर पी गईं। एक अद्भुत कोमल, शांत ज्योति उनमें से निकल रही थी। कभी एक तीर में मारा जाना सुना है ? कभी एक निगाह में हृदय बेचना पड़ा है ? कभी तारामैत्रक और चक्षुमैत्री नाम आए हैं ? मैंने एक सेकंड में सोचा और निश्चय कर लिया कि ऐसी सुंदर आंखें त्रिलोकी में न होंगी और यदि किसी स्त्री की आंखों को प्रेमबुद्धि से कभी देखूंगा तो इन्हीं को।

"आप सितारपुर से आए हैं। आपका नाम क्या है ?"

"मैं जयदेवशरण वर्मा हूं। आपके चाचा जी—"

"ओ-हो, बाबू जयदेवशरण वर्मा, बी० ए०; जिन्होंने 'सुखमय जीवन' लिखा है ! मेरा बड़ा सौभाग्य है कि आपके दर्शन हुए ! मैंने आपकी पुस्तक पढ़ी है और चाचा जी तो उसकी प्रशंसा बिना किए एक दिन भी नहीं जाने देते। वे आपसे मिलकर बहुत प्रसन्न होंगे; बिना भोजन किए आपको न जाने देंगे और आपके ग्रंथ के पढ़ने से हमारा परिवार-सुख कितना बढ़ा है, इस पर कम-से-कम दो घंटे तक व्याख्यान देंगे।"

स्त्री के सामने उसके नैहर की बड़ाई कर दे और लेखक के सामने उसके ग्रंथ की। यह प्रिय बनने का अमोघ मंत्र है। जिस साल मैंने बी० ए० पास किया था उस साल कुछ दिन लिखने की धुन उठी थी। लॉ कॉलेज के फर्स्ट इयर में सेक्शन और कोड की परवाह न करके एक 'सुखमय जीवन' नामक पोथी लिख चुका था। समालोचकों ने आड़े हाथों लिया था और वर्ष-भर में सत्रह प्रतियां बिकी थीं। आज मेरी कदर हुई कि कोई उसका सराहनेवाला तो मिला।

इतने में हम लोग बरामदे में पहुंचे, जहां पर कनटोप पहने, पंजाबी ढंग की दाढ़ी रखे एक अधेड़ महाशय कुर्सी पर बैठे पुस्तक पढ़ रहे थे। बालिका बोली—

"चाचा जी, आज आपके बाबू जयदेवशरण वर्मा बी० ए० को साथ लाई हूं। इनकी बाइसिकिल बेकाम हो गई है। अपने प्रिय ग्रंथकार से मिलाने के लिए कमला को धन्यवाद मत दीजिए, दीजिए उनके पम्प भूल आने को !"

वृद्ध ने जल्दी ही चश्मा उतारा और दोनों हाथ बढ़ाकर मुझसे मिलने के लिए पैर बढ़ाए।

"कमला, जरा अपनी माता को तो बुला ला। आइए बाबू साहब, आइए। मुझे आपसे मिलने की बड़ी उत्कंठा थी। मैं गुलाबराय वर्मा हूं। पहले कमसेरियट में हेड-क्लर्क था। अब पेन्शन लेकर इस एकांत स्थान में रहता हूं। दो गौ रखता हूं और कमला तथा उसके भाई प्रबोध को पढ़ाता हूं। मैं ब्रह्मसमाजी हूं; मेरे यहां परदा नहीं है। कमला ने हिंदी मिडिल पास कर लिया है। हमारा समय शास्त्रों के पढ़ने में बीतता है। मेरी धर्मपत्नी भोजन बनाती और कपड़े सी लेती है; मैं उपनिषद् और योगवासिष्ठ का तर्जुमा पढ़ा करता हूं। स्कूल में लड़के बिगड़ जाते हैं, प्रबोध को इसीलिए घर पर पढ़ाता हूं।"

इतना परिचय दे चुकने पर वृद्ध ने श्वास लिया। मुझे भी इतना ज्ञान हुआ कि कमला के पिता मेरी जाति के ही हैं। जो कुछ उन्होंने कहा था, उसकी ओर मेरे कान नहीं थे—मेरे कान उधर थे, जिधर से माता को लेकर कमला आ रही थी।

"आपका ग्रंथ बड़ा ही अपूर्व है। दाम्पत्य-सुख चाहने वालों के लिए लाख

रुपये से भी अनमोल है। धन्य है आपको! स्त्री को कैसे प्रसन्न रखना, घर में कलह कैसे नहीं होने देना, बाल-बच्चों को क्योंकर सच्चरित्र बनाना, इन सब बातों में आपके उपदेश पर चलने वाला पृथ्वी पर ही स्वर्ग-सुख भोग सकता है। पहले कमला की मां और मेरी कभी-कभी खटपट हो जाया करती थी। उसके खयाल अभी पुराने ढंग के हैं। पर जब से मैं रोज भोजन के पीछे उसे आध घंटे तक आपकी पुस्तक का पाठ सुनाने लगा हूं, तब से हमारा जीवन हिंडोले की तरह झूलते-झूलते बीतता है।"

मुझे कमला की मां पर दया आई जिसको वह कूड़ा-करकट रोज सुनना पड़ता होगा। मैंने सोचा कि हिंदी के पत्र-संपादकों में यह बूढ़ा क्यों न हुआ? यदि होता तो आज मेरी तूती बोलने लगती।

"आपको गृहस्थ-जीवन का कितना अनुभव है! आप सब कुछ जानते हैं! भला, इतना ज्ञान कभी पुस्तकों से मिलता है? कमला की मां कहा करती थी कि आप केवल किताबों के कीड़े हैं, सुनी-सुनाई बातें लिख रहे हैं। मैं बार-बार यह कहता था कि इस पुस्तक के लिखने वाले को परिवार का खूब अनुभव है। धन्य है आपकी सहधर्मिणी! आपका और उसका जीवन कितने सुख से बीतता होगा! और जिन बालकों के आप पिता हैं, वे कैसे बड़भागी हैं कि सदा आपकी शिक्षा में रहते हैं; आप जैसे पिता का उदाहरण देखते हैं।"

कहावत है कि वेश्या अपनी अवस्था कम दिखाना चाहती है और साधु अपनी अवस्था अधिक दिखाना चाहता है। भला, ग्रंथकार का पद इन दोनों में किसके समान है? मेरे मन में आई कि कह दूं कि अभी मेरा पचीसवां वर्ष चल रहा है, कहां का अनुभव और कहां का परिवार? फिर सोचा कि ऐसा कहने से ही मैं वृद्ध महाशय की निगाहों से उतर जाऊंगा और कमला की मां सच्ची हो जाएगी कि बिना अनुभव के छोकरे ने गृहस्थ के कर्त्तव्य-धर्मों पर पुस्तक लिख मारी है। यह सोचकर मैं मुसकरा दिया और ऐसी तरह मुंह बनाने लगा कि वृद्ध समझा कि अवश्य मैं संसार-समुद्र में गोते मारकर नहाया हुआ हूं।

[३]

वृद्ध ने उस दिन मुझे जाने नहीं दिया। कमला की माता ने प्रीति के साथ भोजन कराया और कमला ने पान लाकर दिया। न मुझे अब कालानगर की मलाई की बरफ याद रही और न सनकी मित्र की। चाचा जी की बातों में फी सैंकड़े सत्तर तो मेरी पुस्तक और उसके रामबाण लाभों की प्रशंसा थी; जिसको सुनते-सुनते मेरे कान दुख गए। फी सैंकड़ा पचीस वह मेरी प्रशंसा और मेरे पति-जीवन और पितृ-जीवन की महिमा गा रहे थे। काम की बात बीसवां हिस्सा थी, जिससे मालूम पड़ा कि अभी कमला का विवाह नहीं हुआ है, उसे अपनी

फूलों की क्यारी को सम्हालने का बड़ा प्रेम है, वह सखी के नाम से 'महिला-मनोहर' मासिक पत्र में लेख भी दिया करती है।

सायंकाल को मैं बगीचे में टहलने निकला। देखता क्या हूं कि एक कोने में केले के झाड़ों के नीचे मोतिये और रजनीगंधा की क्यारियां हैं और कमला उनमें पानी दे रही है। मैंने सोचा कि यही समय है। आज मरना है या जीना है। उसको देखते ही मेरे हृदय में प्रेम की अग्नि जल उठी थी और दिन-भर वहां रहने से वह धधकने लग गई थी। दो ही पहर में मैं बालक से युवा हो गया था। अंगरेजी महाकाव्यों में, प्रेममय उपन्यासों में और कोर्स के संस्कृत-नाटकों में जहां-जहां प्रेमिका-प्रेमिक का वार्तालाप पढ़ा था, वहां-वहां का दृश्य स्मरण करके वहां-वहां के वाक्यों को घोख रहा था, पर यह निश्चय नहीं कर सका कि इतने थोड़े परिचय पर भी बात कैसे करनी चाहिए। अंत को अंगरेजी पढ़नेवाले की धृष्टता ने आर्यकुमार की शालीनता पर विजय पाई और चपलता कहिए, बेसमझी कहिए, ढीठपन कहिए, पागलपन कहिए, मैंने दौड़कर कमला का हाथ पकड़ लिया। उसके चेहरे पर सुर्खी दौड़ गई और डोलची उसके हाथ से गिर पड़ी। मैं उसके कान में कहने लगा—

"आपसे एक बात करनी है।"

"क्या ? यहां कहने की कौनसी बात है ?"

"जबसे आपको देखा है तबसे—"

"बस, चुप करो। ऐसी धृष्टता !"

अब मेरा वचन-प्रवाह उमड़ चुका था। मैं स्वयं नहीं जानता था कि मैं क्या कह रहा हूं, पर लगा बकने, "प्यारी कमला, तुम मुझे प्राणों से बढ़कर हो; प्यारी कमला, मुझे अपना भ्रमर बनने दो। मेरा जीवन तुम्हारे बिना मरुस्थल है, उसमें मंदाकिनी बनकर बहो। मेरे जलते हुए हृदय में अमृत की पट्टी बन जाओ। जब से तुम्हें देखा है, मेरा मन मेरे अधीन नहीं है। मैं तब तक शांति न पाऊंगा जब तक तुम—"

कमला जोर से चीख उठी और बोली—"आपको ऐसी बातें कहते लज्जा नहीं आती ? धिक्कार है आपकी शिक्षा को और धिक्कार है आपकी विद्या को ! इसीको आपने सभ्यता मान रखा है कि अपरिचित कुमारी से एकांत ढूंढ़कर ऐसा घृणित प्रस्ताव करें ! तुम्हारा यह साहस कैसे हो गया ? तुमने मुझे क्या समझ रखा है ? 'सुखमय जीवन' का लेखक और ऐसा घृणित चरित्र ! चिल्लू-भर पानी में डूब मरो। अपना काला मुंह मुझे मत दिखाओ। अभी चाचा जी को बुलाती हूं।"

मैं सुनता जा रहा था। क्या मैं स्वप्न देख रहा हूं ? यह अग्नि-वर्षा मेरे किस अपराध पर ? तो भी मैंने हाथ नहीं छोड़ा। कहने लगा, "सुनो कमला,

यदि तुम्हारी कृपा हो जाए, तो सुखमय जीवन—"

"देखा तेरा सुखमय जीवन ! आस्तीन के सांप ! पापात्मा !! मैंने साहित्य-सेवी जानकर और ऐसे उच्च विचारों का लेखक समझकर तुझे अपने घर में घुसने दिया और तेरा विश्वास और सत्कार किया था। प्रच्छन्नपापिन्[1] ! वकदाम्भिक[2] ! बिड़ालव्रतिक[3] ! मैंने तेरी सारी बातें सुन ली हैं।" चाचा जी आकर लाल-लाल आंखें दिखाते हुए, क्रोध से कांपते हुए कहने लगे—"शैतान, तुझे यहां आकर माया-जाल फैलाने का स्थान मिला। ओफ ! मैं तेरी पुस्तक से छला गया। पवित्र जीवन की प्रशंसा में फार्मों-के-फार्म काले करनेवाले, तेरा ऐसा हृदय ! कपटी ! विष के घड़े—"

उनका धारा-प्रवाह भाषण बंद ही नहीं होता था, पर कमला की गालियां और थीं और चाचा जी की और। मैंने भी गुस्से में आकर कहा, "बाबू साहब, जबान सम्हालकर बोलिए। आपने अपनी कन्या को शिक्षा दी है और सभ्यता सिखाई है, मैंने भी शिक्षा पाई है और कुछ सभ्यता सीखी है। आप धर्म-सुधारक हैं। यदि मैं उसके गुणों और रूप पर आसक्त हो गया, तो अपना पवित्र प्रणय उसे क्यों न बताऊं? पुराने ढर्रे के पिता दुराग्रही होते सुने गए हैं। आपने क्यों सुधार का नाम लजाया है ?"

"तुम सुधार का नाम मत लो। तुम तो पापी हो। 'सुखमय जीवन' के कर्त्ता होकर—"

"भाड़ में जाय 'सुखमय जीवन' ! उसीके मारे नाकों दम है !! 'सुखमय जीवन' के कर्त्ता ने क्या यह शपथ खा ली है कि जन्म-भर क्वांरा ही रहे ? क्या उसके प्रेमभाव नहीं हो सकता ? क्या उसमें हृदय नहीं होता ?"

"हैं, जनम-भर क्वांरा ?"

"हैं काहे की ? मैं तो आपकी पुत्री से निवेदन कर रहा था कि जैसे उसने मेरा हृदय हर लिया है वैसे यदि अपना हाथ मुझे दे, तो उसके साथ 'सुखमय जीवन' के उन आदर्शों को प्रत्यक्ष अनुभव करूं, जो अभी तक मेरी कल्पना में हैं। पीछे हम दोनों आपकी आज्ञा मांगने आते। आप तो पहले ही दुर्वासा बन गए।"

"तो आपका विवाह नहीं हुआ ? आपकी पुस्तक से तो जान पड़ता है कि आप कई वर्षों के गृहस्थ-जीवन का अनुभव रखते हैं। तो कमला की माता ही सच्ची थीं।"

१. जिसके पाप ढके हुए हों
२. बगुले की तरह छल करनेवाला
३. बिल्ली की तरह व्रत रखनेवाला

इतनी बातें हुई थीं, पर न मालूम क्यों मैंने कमला का हाथ नहीं छोड़ा था। इतनी गर्मी के साथ शास्त्रार्थ हो चुका था, परंतु वह हाथ, जो क्रोध के कारण लाल हो गया था, मेरे हाथ में ही पकड़ा हुआ था। अब उसमें सात्त्विक भाव का पसीना आ गया था और कमला ने लज्जा से आंखें नीची कर ली थीं। विवाह के पीछे कमला कहा करती है कि न मालूम विधाता की किस कला से उस समय मैंने तुम्हें झटककर अपना हाथ नहीं ख़ैंच लिया। मैंने कमला के दोनों हाथ खैंच-कर अपने हाथों के सम्पुट में ले लिए (और उसने उन्हें हटाया नहीं!) और इस तरह चारों हाथ जोड़कर वृद्ध से कहा—

"चाचा जी, उस निकम्मी पोथी का नाम मत लीजिए। बेशक, कमला की मां सच्ची हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक पहचान सकती हैं कि कौन अनुभव की बातें कह रहा है और कौन गप्पें हांक रहा है। आपकी आज्ञा हो, तो कमला और मैं दोनों सच्चे सुखमय जीवन का आरंभ करें। दस वर्ष पीछे मैं जो पोथी लिखूंगा, उसमें किताबी बातें न होंगी, केवल अनुभव की बातें होंगी।"

वृद्ध ने जेब से रूमाल निकालकर चश्मा पोंछा और अपनी आंखें पोंछीं। आंखों पर कमला की माता की विजय होने के क्षोभ के आंसू थे, या घर बैठे पुत्री को योग्य पात्र मिलने के हर्ष के आंसू, राम जाने।

उन्होंने मुसकराकर कमला से कहा, "दोनों मेरे पीछे-पीछे चले आओ। कमला! तेरी मां ही सच कहती थी।" वृद्ध बंगले की ओर चलने लगे। उनकी पीठ फिरते ही कमला ने आंखें मूंदकर मेरे कंधे पर सिर रख दिया।

[प्रथम प्रकाशन : भारतमित्र, सन् १९११ ई०]

बुद्धू का कांटा

[१]

रघुनाथ प्प् प्रसाद त्त् त्रिवेदी—या रुग्नात् पर्शाद तिर्वेदी—यह क्या ?

क्या करें, दुविधा में जान है। एक ओर तो हिंदी का यह गौरवपूर्ण दावा है कि इसमें जैसा बोला जाता है वैसा लिखा जाता है और जैसा लिखा जाता है वैसा ही बोला जाता है। दूसरी ओर हिंदी के कर्णधारों का अविगत शिष्टाचार है कि जैसे धर्मोपदेशक कहते हैं कि हमारे कहने पर चलो, हमारी करनी पर मत चलो, वैसे ही जैसे हिंदी के आचार्य लिखें वैसे लिखो, जैसे वे बोलें वैसे मत लिखो, शिष्टाचार भी कैसा ? हिंदी साहित्य-सम्मेलन के सभापति अपने व्याकरण-कषायित कंठ से कहें 'पर्सोत्तमदास' और 'हर्किसन्लाल' और उनके पिट्ठू छापें ऐसी तरह कि पढ़ा जाए—'पुरुषोत्तम अ दास अ' और 'हरि कृष्णलाल अ' !

अजी जाने भी दो, बड़े-बड़े बह गए और गधा कहे कितना पानी ! कहानी कहने चले हो, या दिल के फफोले फोड़ने ?

अच्छा, जो हुकुम। हम लाला जी के नौकर हैं, बैंगनों के थोड़े ही हैं। रघुनाथप्रसाद त्रिवेदी अब के इंटरमीजिएट परीक्षा में बैठा है। उसके पिता दारसूरी के पहाड़ के रहनेवाले और आगरे के बुझातिया बैंक के मैनेजर हैं। बैंक के दफ्तर के पीछे चौक में उनका तथा उनकी स्त्री का बारहमासिया मकान है। बाबू बड़े सीधे, अपने सिद्धांतों के पक्के और खरे आदमी हैं जैसे पुराने ढंग के होते हैं। बैंक के स्वामी इन पर इतना भरोसा करते हैं कि कभी छुट्टी नहीं देते और बाबू काम के इतने पक्के हैं कि छुट्टी मांगते नहीं। न बाबू वैसे कट्टर सनातनी हैं कि बिना मुंह धोए ही तिलक लगाकर स्टेशन पर दरभगा महाराज के स्वागत को जाएं, और न ऐसे समाजी ही हैं कि खंजड़ी लेकर 'तोड़ पोपगढ़ लङ्का का' करने दौड़ें। उसूलों के पक्के हैं।

हां, उसूलों के पक्के हैं। सुबह एक प्याला चाय पीते हैं तो ऐसा कि जेठ में

भी नहीं छोड़ते और माघ में भी एक के दो नहीं करते। उर्द की दाल खाते हैं, क्या मजाल है कि बुखार में भी मूंग की दाल का एक दाना खा जाएं। आजकल के एम० ए०, बी० ए० पासवालों को हँसते हैं कि शेक्सपीयर और बेकन चाट जाने पर भी वे दफ्तर के काम की अंगरेजी चिट्ठी नहीं लिख सकते। अपने जमाने के साथियों को सराहते हैं जो शेक्सपीयर के दो-तीन नाटक न पढ़कर सारे नाटक पढ़ते थे, डिक्शनरी से अंगरेजी शब्दों के लैटिन धातु याद करते थे। अपने गुरु बाबू प्रकाशबिहारी मुकर्जी की प्रशंसा रोज करते थे कि उन्होंने 'लायब्रेरी इम्तहान' पास किया था। ऐसा कोई दिन ही बीतता होगा (निगोशिएबल इन्सट्रूमेण्ट ऐक्ट के अनुसार होनेवाली तातीलों को मत गिनिए) कि जब उनके 'लायब्रेरी इम्तहान' का उपाख्यान नये बी० ए० हेडक्लर्क को उसके मन और बुद्धि की उन्नति के लिए उपदेश की तरह नहीं सुनाया जाता हो। लाट साहब ने मुकर्जी बाबू को बंगाल-लायब्रेरी में जाकर खड़ा कर दिया। राजा हरिश्चंद्र के यज्ञ में बलि के खूंटे में बंधे हुए शुनःशेप[1] की तरह बाबू आलमारियों की ओर देखने लगे। लाट साहब मनचाहे जैसी आलमारियों से मनचाहे जैसी किताब निकालकर मनचाहे जहां से पूछने लगे। सब आलमारियां खुल गईं, सब किताबें चुक गईं, लाट साहब की बांह दुख गई, पर बाबू कहते-कहते नहीं थके; लाट साहब ने अपने हाथ से बाबू को एक घड़ी दी और कहा कि मैं अंगरेजी-विद्या का छिलका ही भर जानता हूं, तुम उसकी गिरी खा चुके हो। यह कथा पुराण की तरह रोज कही जाती थी।

इन उसूल-धन बाबू जी का एक उसूल यह भी था कि लड़के का विवाह छोटी उमर में नहीं करेंगे। इनकी जाति में पांच-पांच वर्ष की कन्याओं के पिता लड़केवालों के लिए वैसे मुंह बाये रहते हैं जैसे पुष्कर की झील में मगरमच्छ नहानेवालों के लिए; और वे कभी-कभी दरवाजे पर धरना देकर आ बैठते थे कि हमारी लड़की लीजिए, नहीं तो हम आपके द्वार पर प्राण दे देंगे। उसूलों के पक्के बाबू जी इनके भय से देश ही नहीं जाते थे और वे कन्या-पिता-रूपी मगरमच्छ अपनी पहाड़ी गोह को छोड़कर आगरे आकर बाबू जी की निद्रा का भंग करते थे। रघुनाथ की माता को सास बनने का बड़ा चाव था। जहां वह कुछ कहना आरंभ करती कि बाबू जी बैंक की लेजर-बुक खोलकर बैठ जाते, या लकड़ी उठाकर घूमने चल देते। बहस करके स्त्रियों से आज तक कोई नहीं जीता, पर मष्ट मारकर जीत सकता है।

बाबू के पड़ोस में एक विवाह हुआ था। उस घर की मालकिन लाहना बांटती

१. देखें—गुलेरी ग्रन्थ-१ (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी) में गुलेरी जी का लेख—'शुनःशेप की कहानी'—पृ० २१-३१—सम्पादक

हुई रघुनाथ की मां के पास आई। रघुनाथ की मां ने नई बहू को असीस दी और स्वयं मिठाई रखने तथा बहू की गोद में भरने के लिए कुछ मेवा लाने भीतर गई। इधर मुहल्ले की वृद्धा ने कहा—"पंद्रह बरस हो गए लाहना लेते-लेते। आज तक एक बतासा भी इनके यहां से नहीं मिला।" दूसरी वृद्धा, जो तीन बड़ी और दो छोटी पतोहू की सेवा से इतनी सुखी थी कि रोज मृत्यु को बुलाया करती थी, बोली, "बड़े भागों से बेटों का ब्याह होता है।"

तीसरी ने नाक की झुलनी हिलाकर कहा—"अपना खाने-पहरने का लोभ कोई छोड़े तब तो बेटे की बहू लावे। बहू के आते ही खाने-पहनने में कमी जो हो जाती है।" चौथी ने कहा—"ऐसे कमाने-खाने को आग लगे। यों तो कुत्ते भी अपना पेट भर लेते हैं। कमाई सफल करने का यही तो मौका होता है।" इसके पति ने चारों बेटों के विवाह में मकान और जमीन गिरवी रख दिए थे और कम-से-कम अपने जीवन-भर के लिए कंगाली का कम्बल ओढ़ लिया था।

अवश्य ही ये सब बातें रघुनाथ की मां को सुनाने के लिए कही गई थीं। रघुनाथ की मां भी जानती थी कि ये मुझे सुनाने को कही जा रही हैं। परंतु उसके आते ही मुहल्ले की एक और ही स्त्री की निंदा चल पड़ी और रघुनाथ की मां यह जानकर भी कि उस स्त्री के पास जाते ही मेरी भी ऐसी निंदा की जाएगी, हँसते-हँसते उनकी बातों में सम्मति देने लग गई। पतोहुओं से सुखिनी बुढ़िया ने एक हलके से अनुदात्त से कहा—"अब तुम रघुनाथ का ब्याह इस साल तो करोगी?" "उसके चाचा जानें, गहने तो बनवा रहें"— रघुनाथ की मां ने भी वैसे ही हलके उदात्त से उत्तर दिया। उसके अनुदात्त को यह समझ गई और इसके उदात्त को वे सब। स्वर का विचार हिन्दुस्तान के मर्दों की भाषा में भले ही न रहा हो, स्त्रियों की भाषा में उससे अब भी कई अर्थ प्रकाश किए जाते हैं।

"मैं तुम्हें सलाह देती हूं कि जल्दी रघुनाथ का ब्याह कर लो। कलयुग के दिन हैं, लड़का बोर्डिंग में रहता है, बिगड़ जाएगा। आगे तुम्हारी मर्जी, क्यों बहन सच है न? तू क्यों नहीं बोलती?"

"मैं क्या कहूं, मेरे रघुनाथ का-सा बेटा होता तो अब तक पोता खिलाती।" यों और दो-चार बातें करके यह स्त्री-दल चला गया और गृहिणी के हृदय-समुद्र को कई विचारों की लहरों से छलकता हुआ छोड़ गया।

सायंकाल भोजन करते समय बाबू बोले, "इन गर्मियों में रघुनाथ का ब्याह कर देंगे।"

स्त्री ने पहले ही लेजर और छड़ी छिपाकर ठान ली थी कि आज बाबू जी को दबाऊंगी कि पड़ोसियों की बोलियां नहीं सही जातीं। अचानक रंग पहले चढ़ गया। पूछने लगी—"हैं, आज यह कैसे सूझी?"

"दारपूर से भैया की चिट्ठी आई है। बहुत कुछ बातें लिखी हैं। कहा है कि

तुम तो परदेशी हो गए। यहां चार महीने बाद वृहस्पति सिंहस्थ हो जाएगा; फिर डेढ़-दो वर्ष तक व्याह नहीं होंगे। इसलिए छोटी-छोटी बच्चियों के व्याह हो रहे हैं, वृहस्पति के सिंह के पेट में पहुंचने के पहले कोई चार-पांच वर्ष की लड़की कुंवारी नहीं बचेगी। फिर जब वृहस्पति कहीं शेर की दाढ़ में से जीता-जागता निकल आया तो न बराबर का घर मिलेगा, न जोड़ की लड़की। तुम्हें क्या है, गांव में बदनाम तो हम हो रहे हैं। मैंने अभी दो-तीन घर रोक रखे हैं। तुम जानो, अब के मेरा कहना न मानोगे तो मैं तुमसे जन्म-भर बोलने का नहीं।"

"भैया ठीक तो कहते हैं।"

"मैं भी मानता हूं कि अब लड़के को उन्नीसवां वर्ष है। अब के इंटरमीजिएट पास हो ही जाएगा। अब हमारी नहीं चलेगी, देवर-भौजाई जैसा नचाएंगे, वैसा ही नाचना पड़ेगा। अब तक मेरी चली, यही बहुत हुआ।"

"भैया की कहो, मेरा कहना तो पांच वर्ष से जो मान रहे हो।"

"अच्छा अब जिदो मत। मैंने दो महीने की छुट्टी ली है। छुट्टी मिलते ही देश चलते हैं। बच्चा को लिख दिया है कि इम्तहान देकर सीधा घर चला आ। दस-पंद्रह दिन में आ जाएगा। तब तक हम घर भी ठीक कर लें और दिन भी। अब तुम आगरे बहू को लेकर आओगी।"

स्त्री ने सोचा, बताशेवाली बुढ़िया का उलहना तो मिटेगा।

[२]

"बा'छा[1] मेरे हाल में आपका क्या जी लगेगा ? गरीबों का क्या हाल ? रब[2] रोटी देता है, दिन-भर मेहनत करता हूं, रात पड़ रहता हूं। बा'छा, तुम जैसे साईं[3] लोकों की बरकत से मैं हज कर आया, ख्वाजा का उर्स देख आया, तीन बेले[4] नमाज पढ़ लेता हूं, और मुझे क्या चाहिए ? बा'छा, मेरा काम टट्टू चलाना नहीं है। अब तो इस मोती की कमाई खाता हूं, कभी सवार ले जाता हूं, कभी लादा[5]; ढाई मण कणक[6] पा[7] लेता हूं, तो दो पौली[8] बच जाती है। रब की मरजी,

१. बादशाह
२. ईश्वर
३. स्वामी, भक्त
४. वक्त
५. बोझा (छट्ट, गूण)
६. गेहूं
७. लाद लेता हूं
८. चवन्नी

मेरा अपना घर था; सिंहों[1] के वक्त की माफी जमीन थी, नाते[2] पड़ोसियों में मेरा नाम था। मैं धामपुर के नवाब का खाना बनाता था और मेरे घर में से उसके जनाने में पकाती थी। एक रात को मैं खाना बना-खिला के अपनी मंजड़ी[3] पर सोया था कि, मेरे मौला[4] ने मुझे आवाज़ दी—'लाही, लाही, हज कर आ।' मैं आंखें मल के खड़ा हो गया, पर कुछ दिखा नहीं। फिर सोने लगा कि फिर वही आवाज़ आई कि 'लाही, तू मेरी पुकार नहीं सुनता? जा हज कर आ।' मैं समझा, मेरा मौला मुझे बुलाता है। फिर आवाज़ आई—'लाही, चल पड़; मैं तेरे नाल[5] हूं, मैं तेरा बेड़ा पार करूंगा।' मुझसे रहा नहीं गया। मैंने अपना कम्बल उठाया और आधी रात को चल पड़ा। बा'छा, मैं रातों चला, दिनों चला, भीख मांगकर चलते-चलते बम्बई पहुंचा। वहां मेरे पल्ले टका नहीं था, पर एक हिंदू भाई ने मुझे टिकट ले दिया। काफले के साथ मैं जहाज पर चढ़ गया। वहीं मुझे छः महीने लगे। पूरी हज की। जब लौटे तो रास्ते में जहाज भटक गया। एक चट्टान पानी के नीचे थी, उससे टकरा गया। उसके पीछे की दोनों लालटेनें ऊपर आ गईं और वे हमें शैतान की-सी आंखें दिखाई देने लगीं। सबने समझा मर जाएंगे, पानी में गोर[6] बनेगी। कप्तान ने छोटी किश्तियां खोलीं और उनमें हाजियों को बिठाकर छोड़ दिया। मर्द का बच्चा आप अपनी जगह से नहीं टला, जहाज के नाल डूब गया। अंधेरे में कुछ सूझता नहीं था। सबेरा होते ही हमने देखा कि, दो किश्तियां बह रही हैं और न जहाज है, न दूसरी किश्तियां। पता ही नहीं, हम कहां से किधर जा रहे थे। लहरें हमारी किश्तियों को उछालती, नचाती, डुबोती, झकोड़ती थीं। जो लहमा बीतता था, हम खैर मनाते थे। पर मेरे मालिक ने करम[7] किया, मेरे अल्लाह ने, मेरे मौला ने जैसे उस रात को कहा था, मेरा बेड़ा पार किया। तीन दिन, तीन रात हम बेपते बहते रहे—चौथे दिन माल के जहाज ने हमको उठा लिया और छठे दिन कराची में हमने दुआ की नमाज पढ़ी। पीछे सुना कि तीन सौ हाजी मर गए।

"वहां से मैं ख्वाजा की जियारत को चला, अजमेर शरीफ़ में दरगाह का दीदार पाया। इस तरह, बा'छा साढ़े सात महीने पीछे मैं घर आया। आकर घर देखता क्या हूं कि सब पटरा हो गया है। नवाब जब सबेरे उठा तो उसने

१. सिक्खों
२. रिश्तेदार
३. खटिया
४. ईश्वर
५. साथ
६. कब्र
७. कृपा

नाश्ता मांगा। नौकरों ने कहा कि इलाही का पता नहीं। बस, वह जल गया। उसने मेरा घर फुंकवा दिया, मेरी जमीन अपनी रखवाल[1] के भाई को दे दी और मेरी बीबी को लौंडी बनाकर कैद कर लिया। मैं उसका क्या ले गया था, अपना कम्बल ले गया था। और पिछले तीन महीने की तलब अपनी पेटी में उसके बावर्ची खाने में रख गया था। भला, मेरा मौला बुलावे और मैं न जाऊं? पर उसको जो एक घंटा देर से खाना मिला, इससे बढ़कर और गुनाह क्या होता?

" इसके पंद्रहवें दिन जनाने में एक सोने की अंगूठी खो गई। नवाब ने मेरी घरवाली पर शक किया। उससे पूछा तो वह बोली कि मेरा कौनसा घर और घरवाला बैठा है कि उसके पास अंगूठी ले जाऊंगी। मैं तो यहीं रहती हूं। सीधी बात थी, पर उससे सुनी नहीं गई। जला-भुना तो था ही, बेंत लेकर लगा मारने। बा'छा, मैं क्या कहूं, मौला मेरा गुनाह बख्शे, आज पांच बरस हो गए हैं, पर जब मैं घरवाली की पीठ पर पचासों दागों की गुच्छियां देखता हूं, तो यही पछतावा रहता है कि रब ने उस सूर का (तोबा! तोबा!) गला घोंटने को यहां क्यों न रखा। मारते-मारते जब मेरी घरवाली बेहोश हो गई तब डरकर उसे गांव के बाहर फिकवा दिया। तीसरे दिन वह वहां से घिसकती-घिसकती चलकर अपने भाई के यहां पहुंची।"

रघुनाथ ने रुंधे गले से कहा, "तुमने फरयाद नहीं की?"

"कचहरियां गरीबों के लिए नहीं हैं, बा'छा, वे तो सेठों के लिए हैं। गरीबों की फरयाद सुननेवाला सुनता है। उसने पंद्रह दिन में सुनकर हुकुम भी दे दिया। मेरी औरत को मारते-मारते उस पाजी के हाथ की अंगुली में बेंत की एक सली चुभ गई थी। वही पक गई। लहू में जहर हो गया। पंद्रहवें दिन मर गया। हज से आकर मैंने सारा हाल सुना। अपने जले हुए घर को देखा और अपने परदादे की सिहों की माफी जमीन को भी देखा। चला आया। मसजिद में जाकर रोया। मेरे मौला ने मुझे हुकुम दिया, 'लाही, मैं तेरे नाल हूं, अपनी जोरू को धीरज दे।' मैं साले के यहां पहुंचा। उसने पचीस रुपये दिए, मैं टट्टू मोल लेकर पहाड़ चला आया और यहां रब का नाम लेता हूं और आप जैसे साईं लोगों की बंदगी करता हूं। रब का नाम बड़ा है।"

रघुनाथ इम्तहान देकर रेल से घराठनी तक आया। वहां तीस मील पहाड़ी रास्ता था। दूरी पर चूने के-से ढेर चमकते दिखने लगे, जो कभी न पिघलने-वाली बर्फ के पहाड़ थे। रास्ता सांप की तरह चक्कर खाता था। मालूम होता कि एक घाटी पूरी हो गई है, पर ज्योंही मोड़ पर आते, त्योंही उसकी जड़ में एक और आधी मील का चक्कर निकल पड़ता। एक ओर ऊंचा पहाड़, दूसरी

१. रखेंत्री, रखैल

ओर ढाई सौ फुट गहरी खड्ड। और किराये के टट्टुओं की लत कि सड़क के छोर पर चलें जिससे सवार की एक टांग तो खड्ड पर ही लटकती रहे। आगे वैसा ही रास्ता, वैसी ही खड्ड, सामने वैसे ही कोने पर चलनेवाले टट्टू। जब धूप बढ़ी और जी न लगा तो मोती के स्वामी इलाही से रघुनाथ ने उसका इतिहास पूछा। उसने जो सीधी और विश्वास से भरी, दुःख की धाराओं से भीगी हुई कथा कही, उससे कुछ मार्ग कट गया। कितने गरीबों का इतिहास ऐसी चित्र-घटनाओं की धूप-छाया से भरा हुआ है। पर हम लोग प्रकृति के इन सच्चे चित्रों को न देखकर उपन्यासों की मृगतृष्णा में चमत्कार ढूंढ़ते हैं।

धूप चढ़ गई थी कि वे एक ग्राम में पहुंचे। गांव के बाहर सड़क के सहारे एक कुआं था और उसी के पास एक पेड़ के नीचे इलाही ने स्वयं और अपने मोती के लिए विश्राम करने का प्रस्ताव किया। "घोड़े को न्हारी देकर और पानी-वानी पीकर धूप ढलते ही चल देंगे और बात-की-बात में आपको घर पहुंचा देंगे।" रघुनाथ को भी टांगें सीधी करने में कोई उज्र न था। खाने की इच्छा बिल्कुल न थी। हां, पानी की प्यास लग रही थी। रघुनाथ अपने बक्स में से लोटाडोर निकालकर कुएं की तरफ चला।

[३]

कुएं पर देखा कि छह-सात स्त्रियां पानी भरने और भरकर ले जाने की कई दशाओं में हैं। गांवों में परदा नहीं होता। वहां सब पुरुष सब स्त्रियों से और सब स्त्रियां सब पुरुषों से निडर होकर बातें कर लेती हैं। और शहरों के लम्बे घूंघटों के नीचे जितना पाप होता है, उसका दसवां हिस्सा भी गांवों में नहीं होता। इसीसे तो कहावत में बाप ने बेटे को उपदेश दिया है कि लंबे घूंघटवाली से बचना। अनजान पुरुष किसी भी स्त्री से 'बहन' कहकर बात कर लेता है और स्त्री बाजार में जाकर किसी भी पुरुष से 'भाई' कहकर बोल लेती है। यही बाचिक संधि दिन-भर के व्यवहारों में 'पासपोर्ट' का काम दे देती है। हँसी-ठट्ठा भी होता है, पर कोई दुर्भाव नहीं खड़ा होता। राजपूताने के गांवों में स्त्री ऊंट पर बैठी निकल जाती है और खेतों के लोग "मामी जी, मामी जी" चिल्लाया करते हैं। न उनका अर्थ उस शब्द से बढ़कर कुछ होता है और न वह चिढ़ती है। एक गांव में बारात जीमने बैठी। उस समय स्त्रियां समधियों को गाली गाती हैं। पर गालियां न गाई जाती देख नागरिक-सुधारक बराती को बड़ा हर्ष हुआ। वह ग्राम के एक वृद्ध से कह बैठा, "बड़ी खुशी की बात है कि आपके यहां इतनी तरक्की हो गई है।" बुड्ढा बोला, "हां साहब, तरक्की हो रही है। पहले गालियों में कहा जाता था फलाने की फलानी के साथ और अमुक की अमुक के साथ। लोग-लुगाई सुनते थे, हँस देते थे। अब घर-घर में वे ही बातें सच्ची

हो रही हैं। अब गालियां गाई जाती हैं तो चोरों की दाढ़ी में तिनके निकलते हैं। तभी तो आंदोलन होते हैं कि गालियां बंद करो, क्योंकि वे चुभती हैं।"

रघुनाथ यदि चाहता तो किसी भी पानी भरनेवाली से पीने को पानी मांग लेता। परंतु उसने अब तक अपनी माता को छोड़कर किसी स्त्री से कभी बात नहीं की थी। स्त्रियों के सामने बात करने को उसका मुँह खुल न सका। पिता की कठोर शिक्षा से बालकपन से ही उसे वह स्वभाव पड़ गया था कि दो वर्ष प्रयाग में स्वतंत्र रहकर भी वह अपने चरित्र को, केवल पुरुषों के समाज में बैठकर, पवित्र रख सका था। जो कोने में बैठकर उपन्यास पढ़ा करते हैं, उनकी अपेक्षा खुले मैदान में खेलनेवालों के विचार अधिक पवित्र रहते हैं।—इसीलिए फुटबाल और हॉकी के खिलाड़ी रघुनाथ को कभी स्त्री-विषयक कल्पना ही नहीं होती थी; वह मानवी सृष्टि में अपनी माता को छोड़कर और स्त्रियों के होने या न होने से अनभिज्ञ था। विवाह उसकी दृष्टि में एक आवश्यक किंतु दुर्ज्ञेय बंधन था जिसमें सब मनुष्य फंसते हैं और पिता के आज्ञानुसार वह विवाह के लिए घर उसी रुचि से आ रहा था जिससे कि कोई पहले-पहल थियेटर देखने जाता है। कुएं पर इतनी स्त्रियों को इकट्ठा देखकर वह सहम गया, उसके ललाट पर पसीना आ गया और उसका बस चलता तो वह बिना पानी पिए ही लौट जाता। अस्तु, चुपचाप डोर-लोटा लेकर एक कोने पर जा खड़ा हुआ और डोर खोलकर फांसा देने लगा।

प्रयाग के बोर्डिंग की टोटियों की कृपा से, जन्म-भर कभी कुएं से पानी नहीं खींचा था, न लोटे में फांसा लगाया था। ऐसी अवस्था में उसने सारी डोर कुएं पर बखेर दी और उसकी जो छोर लोटे से बांधी, वह कभी तो लोटे को एक सौ बीस अंश के कोण पर लटकाती और कभी सत्तर पर। डोर के जब बट खुलते हैं तब वह बहुत पेंच खाती है। इन पेंचों में रघुनाथ की बांहें भी उलझ गईं। सिर नीचा किए ज्योंही वह डोर को सुलझाता था, त्योंही वह उलझती जाती थी। उसे पता नहीं था कि गांव की स्त्रियों के लिए वह अद्भुत कौतुक नयनोत्सव हो रहा था।

धीरे-धीरे टीका-टिप्पणी आरम्भ हो गई। एक ने हँसकर कहा, "पटवारी है, पैमाइश की जरीब फैलाता है।"

दूसरी बोली, "ना, बाजीगर है, हाथ-पांव बांधकर पानी में कूद पड़ेगा और फिर सूखा निकल आएगा।"

तीसरी बोली, "क्यों लल्ला, घरवालों से लड़कर आए हो?"

चौथी ने कहा, "क्या कुएं में दवाई डालोगे? इस गांव में तो बीमारी नहीं है।"

इतने में एक लड़की बोली, "काहे की दवाई और कहां का पटवारी?

अनाड़ी है, लोटे में फांसा देना नहीं आता। भाई, मेरे घड़े को मत कुएं में डाल देना, तुमने तो सारी मेंड़ ही रोक ली !" यों कहकर वह सामने आकर अपना घड़ा उठाकर ले गई।

पहली ने पूछा, "भाई, तुम क्या करोगे ?"

लड़की बात काटकर बोल उठी, "कुएं को बांधेंगे।"

पहली —"अरे ! बोल तो।"

लड़की—"मां ने सिखाया नहीं।"

संकोच, प्यास, लज्जा और घबराहट से रघुनाथ का गला रुक रहा था; उसने खांसकर कंठ साफ करना चाहा। लड़की ने भी वैसी ही आवाज की। इस पर पहली स्त्री बढ़कर आगे आई और डोर उठाकर कहने लगी, "क्या चाहते हो ? बोलते क्यों नहीं ?"

लड़की—"फारसी बोलेंगे।"

रघुनाथ ने शर्म से कुछ आंखें ऊंची कीं, कुछ मुंह फेरकर कुएं से कहा, "मुझे पानी पीना है,—लोटे से निकाल रहा···निकाल लूंगा।"

लड़की—"परसों तक।"

स्त्री बोली, "तो हम पानी पिला दें। ला भागवंती, गगरी उठा ला। इनको पानी पिला दें।"

लड़की गगरी उठा लाई और बोली, "ले मामी के पालतू, पानी पी ले, शरमा मत, तेरी बहू से नहीं कहूंगी।"

इस पर सब स्त्रियां खिलखिलाकर हँस पड़ीं। रघुनाथ के चेहरे पर लाली दौड़ गई और उसने यह दिखाना चाहा कि मुझे कोई देख नहीं रहा है, यद्यपि दस-बारह स्त्रियां उसके भौंचक्केपन को देख रही थीं। सृष्टि के आदि से कोई अपनी झेंप छिपाने को समर्थ न हुआ, न होगा। रघुनाथ उलटा झेंप गया।

"नहीं, नहीं, मैं आप ही···"

लड़की—"कुएं में कूद के।"

इस पर एक और हँसी का फौवारा फूट पड़ा।

रघुनाथ ने कुछ आंखें उठाकर लड़की की ओर देखा। कोई चौदह-पंद्रह बरस की लड़की, शहर की छोकरियों की तरह पीली और दुबली नहीं, हृष्ट-पुष्ट और प्रसन्नमुख। आंखों के डेले काले, कोए सफेद नहीं, कुछ मटिया नीले और पिघलते हुए। यह जान पड़ता था कि डेले अभी पिघलकर बह जाएंगे। आंखों के चौतरंग हँसी, ओठों पर हँसी और सारे शरीर पर नीरोग स्वास्थ्य की हँसी। रघुनाथ की आंखें और नीची हो गईं।

स्त्री ने फिर कहा, "पानी पी लो जी, लड़की खड़ी है।"

रघुनाथ ने हाथ धोए। एक हाथ मुंह के आगे लगाया; लड़की गगरी से

पानी पिलाने लगी। जब रघुनाथ आधा पी चुका था तब उसने श्वास लेते-लेते आंखें ऊंची कीं। उस समय लड़की ने ऐसा मुंह बनाया कि ठि:-ठि: करके रघुनाथ हँस पड़ा, उसकी नाक में पानी चढ़ गया और सारी आस्तीन भीग गई। लड़की चुप।

रघुनाथ को खांसते, डगमगाते देखकर वह स्त्री आगे चली आई और गगरी छीनती हुई लड़की को झिड़ककर बोली, "तुझे रात-दिन ऊतपन ही सूझता है। इन्हें गलसूंड चला गया। ऐसी हँसी भी किस काम की। लो, मैं पानी पिलाती हूं।"

लड़की— "दूध पिला दो, बहुत देर हुई; आंसू भी पोंछ दो।"

सच्चे ही रघुनाथ के आंसू आ गए थे। उसने स्त्री से जल लेकर मुंह धोया और पानी पिया। धीरे से कहा, "बस जी, बस।"

लड़की—"अब के आप निकाल लेंगे।"

रघुनाथ को मुंह पोंछते देखकर स्त्री ने पूछा, "कहां रहते हो?"

"आगरे।"

"इधर कहां जाओगे?"

लड़की—(बीच ही में)—"शिकारपुर! वहां ऐसों का गुरद्वारा है।" स्त्रियां खिलखिला उठीं।

रघुनाथ ने अपने गांव का नाम बताया। "मैं पहले कभी इधर आया नहीं, कितनी दूर है, कब तक पहुंच जाऊंगा?" अब भी वह सिर उठाकर बात नहीं कर रहा था।

लड़की—"यही पंद्रह-बीस दिन में, तीन-चार सौ कोस तो होगा।"

स्त्री—"छि:, दो-ढाई भर है, अभी घण्टे-भर में पहुंच जाते हो।"

"रास्ता सीधा ही है न?"

लड़की—"नहीं तो, बायें हाथ को मुड़कर चीड़ के पेड़ के नीचे दाहिने हाथ को मुड़ने के पीछे सातवें पत्थर पर फिर बायें मुड़ जाना, आगे सीधे जाकर कहीं न मुड़ना; सबसे आगे एक गीदड़ की गुफा है, उससे उत्तर को बाड़ उलांघकर चले जाना।"

स्त्री—"छोकरी, तू बहुत सिर चढ़ गई है, चिकर-चिकर करती ही जाती है! नहीं जी, एक ही रास्ता है; सामने नदी आवेगी; परले पार बायें हाथ को गांव है।"

लड़की—"नदी में भी यों ही फांसा लगाकर पानी निकालना।"

स्त्री उसकी बात अनसुनी करके बोली, "क्या उस गांव में डाकबाबू होकर आए हो?"

रघुनाथ—"नहीं, मैं तो प्रयाग में पढ़ता हूं।"

लड़की…"ओ हो, पिराग जी में पढ़ते हैं ! कुएं से पानी निकालना पढ़ते होंगे ?"

स्त्री—"चुप कर, ज्यादा बक-बक काम की नहीं; क्या इसीलिए तू मेरे यहां आई है ?"

इस पर महिला-मंडल फिर हँस पड़ा। रघुनाथ ने घबराकर इलाही की ओर देखा तो वह मजे में पेड़ के नीचे चिलम पी रहा था। इस समय रघुनाथ को हाजी इलाही की ईर्ष्या होने लगी। उसने सोचा कि हज से लौटते समय समुद्र में खतरे कम हैं, और कुएं पर अधिक।

लड़की—"क्यों जी, पिराग जी में अक्कल भी बिकती है ?"

रघुनाथ ने मुंह फेर लिया।

स्त्री—"तो गांव में क्या करने जाते हो ?"

लड़की—"कमाने-खाने।"

स्त्री—"तेरी कैंची नहीं बंद होती ! यह लड़की तो पागल हो जाएगी।"

रघुनाथ—"मैं वहां के बाबू शोभाराम जी का लड़का हूं।"

स्त्री—"अच्छा, अच्छा, तो क्या तुम्हारा ही ब्याह है ?"

रघुनाथ ने सिर नीचा कर लिया।

लड़की—"मामी, मामी, मुझे भी अपने नये पालतू के ब्याह में ले चलना। बड़ा ब्याहने चला है। यह घोड़ी है और वह जो चिलम पी रहा है नाना बनेगा। वाह जी वाह, ऐसे बुद्धू के आगे भी कोई लहँगा पसारेगी !"

स्त्री लड़की की ओर झपटी। लड़की गगरी उठाकर चलती बनी। स्त्री उसके पीछे दस ही कदम गई थी कि स्त्री-महामंडल एक अट्टहास से गूंज उठा।

रघुनाथ इलाही के पास लौट आया। पीछे मुड़कर देखने की उसकी हिम्मत न हुई। उसके गले में भस्म का-सा स्वाद आ रहा था। जीवन-भर में यही उसका स्त्रियों से पहला परिचय हुआ। उसकी आत्मलज्जा इतनी तेज थी कि वह समझ गया कि मैं इनके सामने बन गया हूं। जीवन में ऐसी स्त्रियों से आधा संसार भरा रहेगा और ऐसी ही किसीसे विवाह होगा। तुलसीदास ने ठीक कहा है कि 'तुलसी गाय बजाय के दियो काठ में पांव।' स्त्रियों की टोली के वाक्य उसे गड़ रहे थे और सब वाक्यों के दुःस्वप्न के ऊपर उस पिघलती हुई आंखों वाली कन्या का चित्र मंडरा रहा था।[1]

बड़े ही उदास चित्त से रघुनाथ घर पहुंचा।

१. देखें : इसी ग्रंथ के द्वितीय खंड में गुलेरी जी की 'विवाह की लाटरी' शीर्षक टिप्पणी।
—सम्पादक

[४]

गांव पहुंचने के तीसरे दिन रघुनाथ सवेरा होते ही घूमने को निकला। पहाड़ी जमीन, जहां रास्ता देखने में कोस-भर जंचे और चाहे उसमें दस मील का चक्कर काट लो; बिना पानी सींचे हुए हरे मखमल के गलीचे से ढकी हुई जमीन, उस पर जंगली गुलदाऊदी की पीली टिमकियां और वसंत के फूल, आलूबोखारे और पहाड़ी करौंदे की रज से भरे हुए छोटे-छोटे रंगीले फूल जो पेड़ का पत्ता भी न दिखने दें, क्षितिज पर लटके हुए बादलों की-सी बरफीले पहाड़ों की चोटियां, जिन्हें देखते आंखें अपने-आप बड़ी हो जातीं और जिनकी हवा की सांस लेने से छाती बढ़ती हुई जान पड़ती; नदी से निकाली हुई छोटी-छोटी असंख्य नहरें जो सांप के-से चक्कर खा-खाकर फिर प्रधान नदी की पथरीली तलेटी में जा मिलतीं —ये सब दृश्य प्रयाग के ईंटों के घर और कीचड़ की सड़कों से बिल्कुल निराले थे। चलते-चलते रघुनाथ का मन नहीं भरा और घाटी के उतार-चढ़ाव की गिनती न करके वह नदी की चक्करों की सीध में हो लिया। एक ओर आम के पेड़ थे जो बौरों और कैरियों[1] से लदे हुए थे, उनके सामने धान के खेत थे जिनमें से पानी किलचिल-किलचिल करता हुआ टिघल रहा था। कहीं उसे कंटीली **बाड़ों के बीच में होकर जाना पड़ता था और कहीं छोटे-छोटे झरने, जो नदी में जा मिले थे, लांघने पड़ते थे। इन प्राकृतिक दृश्यों का आनंद लेता हुआ हमारा चरित्रनायक नदी की ओर बढ़ा।**[2]

इस समय वहां कोई न था। रघुनाथ ने एक अकृत्रिम घाट—चौड़ी शिला—पर खड़े होकर नदी की शोभा देखी और सोचा कि हजामत बनाकर नहा-धोकर घर चलें। नयी सभ्यता के प्रभाव से सेफ्टीरेजर और साबुन की टिकिया सफरी कोट की जेब में थी ही, ऊपर की पॉकेटबुक से एक आईना भी निकल पड़ा। रघुनाथ उसी शिला-फलक पर बैठ गया और अपने मुख-रूपी आकाश पर छाए हुए कोमल बादलों को मिटाने के लिए अमेरिका के इस जेबी वज्र को चलाने लगा।

कवियों को सोचने का समय पाखाने में मिलता है और युवाओं को स्वयं हजामत करने में। यदि नाई होता तो संसार के समाचारों से वही मगज चाट जाता। इसकी वैज्ञानिक युक्ति मुझे एक थियासोफिस्ट ने बताई थी। वह बहुतसे तर्क और कुतर्कों में सिद्ध कर रहा था कि पुरानी चालों में सूक्ष्म वैज्ञानिक रहस्य भरे पड़े हैं। यहां तक कि माता बच्चे के सिर में नजर से बचाने के

१. छोटे कच्चे आम।

२. 'बाड़ों के' से 'बढ़ा' तक का अंश मूल पाण्डुलिपि में खण्डित था। इसलिए यहां मोटे टाइप में जोड़ा गया पाठ गुलेरी जी के पुत्र श्री योगेश्वर गुलेरी ने अपनी ओर से जोड़ा है। यहां यह अंश [illegible] उद्धृत किया जाता है। —सम्पादक

लिए जो काजल का टीका लगा देती है अथवा दूध पिलाए पीछे बच्चे को धूल की चुटकी चटा देती है—इसका भी वह बिजली के विज्ञान से समाधान कर रहा था। उसने कहा कि हजामत बनाते या बनवाते समय रोम खुल जाने से मस्तिष्क तक के स्नायु-तारों की बिजली हिल जाती है और वहां विचारशक्ति की खुजलाहट पहुंच जाती है। अस्तु।

रघुनाथ की खुजलाहट का आरंभ यों हुआ कि यह नदी सहस्रों वर्षों से यों ही बह रही है और यों ही बहती जाएगी। किनारे के पहाड़ों ने, ऊपर के आकाश ने और नीचे की मिट्टी ने उसको यों ही देखा है और यों ही वे उसे देखते जाएंगे। यही क्या, नदी का प्रत्येक परमाणु अपने आने वाले परमाणु की पीठ को और पीछे वाले परमाणु के सामने देखता जाता है। अथवा, क्या पहाड़ को या तलेटी को नदी की खबर है ? क्या नदी के एक परमाणु को दूसरे की खबर है ? मैं यहां बैठा हूं, इन परमाणुओं को, इन पत्थरों को, इन बादलों को मेरी क्या खबर है ? इस समय आगे-पीछे, नीचे-ऊपर, कौन मेरी परवाह करता है ? मनुष्य अपने घमंड में त्रिलोकी का राजा बना फिरे, उसे अपने आत्माभिमान के सिवा पूछता ही कौन है ? इस समय मेरा यह क्षौर[1] बनाना किसके लिए ध्यान देने योग्य है ? किसे पड़ी है कि मेरी लीलाओं पर ध्यान रक्खे।

इसी विचार की तार में ज्योंही उसने सिर उठाया त्योंही देखा कि कम-से-कम एक व्यक्ति को तो उसकी लीलाएं ध्यान देने योग्य हो रही थीं जो उनका अनुकरण करती थी। रघुनाथ क्या देखता है कि वही पानी पिलाने वाली लड़की सामने एक दूसरी शिला पर बैठी हुई है और उसकी नकल कर रही है।

उस दिन की हँसी की लज्जा रघुनाथ के जी से नहीं हटी थी। वह लज्जा और संकोच के मारे यही आशा करता था कि फिर कभी वह लड़की मुझे न दिखाई पड़े और अपनी ठठोलियों से मुझे तंग न करे। अब, जिस समय वह यह सोच रहा था कि मुझे कोई न देख रहा है, वही लड़की उसके हजामत बनाने की नकल कर रही है। उसने हाथ में एक तिनका ले रखा है। जब रघुनाथ उस्तरा चलाता है तब वह तिनका चलाती है। जब रघुनाथ हाथ खींचता है तब वह तिनका रोक लेती है।

रघुनाथ ने मुंह दूसरी ओर किया। उसने भी वैसा ही किया। रघुनाथ ने दाहिना घुटना उठाकर अपना आसन बदला। वहां भी ऐसा ही हुआ। रघुनाथ ने बायीं हथेली धरती पर टेककर अंगड़ाई ली। लड़की ने भी वही मुद्रा की। ये सब प्रयोग रघुनाथ ने यह निश्चय करने के लिए ही किए थे कि यह लड़की क्या वास्तव में मेरा मखौल कर रही है। उसने हल्का-सा खंखारा। रघुनाथ ने उतना

१. हजामत

ही खंखारना उधर से सुना। अब सन्देह नहीं रह गया।

ऐसे अवसर पर बुद्धिमान लोग जो करना चाहते हैं, वही रघुनाथ ने किया। अर्थात् वह मुंह बदलकर अपना काम करता गया और उसने विचार किया कि मैं उधर न देखूंगा। इस विचार का वही परिणाम हुआ जो ऐसे विचारों का होता है अर्थात् दो ही मिनट में रघुनाथ ने अपने को उसी ओर देखते हुए पाया। अब लड़की ने भी अपना आसन बदल लिया था। रघुनाथ ने कई बार विचार किया कि मैं उधर न देखूंगा, पर वह फिर उधर ही देखने लगा। आंखें, जो मानो अभी पानी होकर बह जाएंगी, सफेद हलका नीला कोआ, जिसमें एक प्रकार की चंचलता, हँसी और घृणा तैर रही थी।

यह लड़की यों पिंड नहीं छोड़ेगी। मैंने इसका क्या बिगाड़ा है? इससे पूछूं तो फिर वैसे बनाएगी? पर खैर, आज तो अकेली यही है। इसकी चोटों पर साधुवाद करने के लिए महिला-मंडल तो नहीं है। यह सोचकर रघुनाथ ने जोर से खंखारा। वही जवाब मिला। उसने हाथ बढ़ाकर अंगड़ाई ली। वहां भी कंगा तोड़े गए। रघुनाथ ने एक पत्थर उठाकर नदी में फेंका, उधर से ढेला फेंका गया और खलब करके पानी में बोला।

वह बिना वचनों की छेड़ रघुनाथ से सही न गई। उसने एक छोटी-सी कंकरी उठाकर लड़की की शिला पर मारी। जवाब में वैसी ही एक कंकरी रघुनाथ की शिला में आ बजी। रघुनाथ ने दूसरी कंकरी उठाकर फेंकी जो लड़की के समीप जा पड़ी। इस पर एक कंकरी आकर रघुनाथ की पॉकेट-बुक के आईने पर पट से बोली और उसे फोड़ गई। रघुनाथ कुछ चिप गया, उसकी हिम्मत कुछ बढ़ गई, अबके उसने जो कंकरी मारी कि वह लड़की के हाथ पर जा लगी।

इस पर लड़की ने हाथ को झट से उठाया और स्वयं उठी। जहां रघुनाथ बैठा था, वहां आई और उसके देखते-देखते उसके सामने से टोपी, उस्तरा और पॉकेट-बुक तथा साबुन की बट्टी को उठाकर नदी की ओर बढ़ी। जितना समय इस बात को लिखने और बांचने में लगा है, उतना समय भी नहीं लगा कि उसने सबको पानी में फेंक दिया। रघुनाथ उसके हाथ को नदी की ओर बढ़ते हुए देख, उसका तात्पर्य समझकर किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो ज्योंही दो कदम आगे धरता है कि पंकाली शिला पर उसका पैर फिसला और वह धड़ाम से सिर के बल पानी में गिर पड़ा।

रघुनाथ तैरना नहीं जानता था, यद्यपि वह मित्रों के साथ जाकर दारागंज की गंगा में नहा आया करता था। परंतु चाहे कितना ही तैराक हो, औंधे सिर पानी में गिरने पर तो गोता खा ही जाता है। रघुनाथ का सिर पैंदे के पास पहुंचते ही उसने दो गोते खाए और सीधा होते-होते उसकी सांस टूट गई। यों

तो नदी में पानी रघुनाथ के सिर से कुछ ही ऊंचा था और धीरज से उसके पैर टिक जाते तो वह हाथ फटफटाकर किनारे आ लगता, क्योंकि वह बहुत दूर नहीं गया था। पर फिसलने की घबराहट, सांस का टूटना, गले में पानी भर जाना, नीचे दलदल—इन सबसे वह भौंचक होकर बीस-तीस हाथ बढ़ता ही चला गया। नदी की तलेटी में चट्टान थी, जो पानी के बहाव से क्रमशः खिरती जाती थी। वहां पानी का नाला कुछ जोर से दढ़कर चक्कर खाता था। वहां पहुंचकर, पानी कम होने पर भी, हाथ-पांव मारने पर भी रघुनाथ के पैर नहीं टिके और उछलता हुआ पानी उसके मुंह में गया। वह नदी के बहाव की ओर जाने लगा। बालिका ने जान लिया कि बिना निकाले वह पानी से निकल न सकेगा। वह झट सारी से कछौटा कसकर पानी में कूद पड़ी। जल्दी से तैरती हुई आकर उसने रघुनाथ का हाथ पकड़ना चाहा कि इतने में रघुनाथ एक और चक्कर काटकर सिर पानी के नीचे करके खांसने लगा। लड़की के हाथ उसकी चमड़े की पेटी आयी थी जो उसने पतलून के ऊपर बांध रखी थी। वह एक हाथ से उसे खींचती हुई रघुनाथ को छर्रे के बहाव से निकाल लाई और दूसरे हाथ से पानी हटाती हुई किनारे की ओर बढ़ने लगी। अब रघुनाथ भी सीधा हो गया था। पानी चीरने में खड़ा या मुड़ा आदमी लेटे हुए की अपेक्षा बहुत दुखःदायी होता है। हांफती हुई कुमारी ने बिड़राए हुए रघुनाथ को किनारे लगाया। रघुनाथ मुंह और बालों का पानी निचोड़ता हुआ तरबतर कुरते और पतलून से धाराएं बहाता हुआ चट्टान पर जा बैठा। पांच-सात बार खांसने पर, आंखें पोंछने पर उसने देखा कि भीगी हुई कुमारी उसके सामने खड़ी है और उन्हीं पिघलती हुई आंखों से घृणा, दया और हँसी झलकाती हुई कह रही है कि—इस अनाड़ी के सामने भी कोई अपना लहँगा पसारेगी?

ये सब घटनाएं इतनी जल्दी-जल्दी हुई थीं कि रघुनाथ का सिर चकरा रहा था। अभी पानी की गूंज कानों को ढोल किए हुए थी और मानसिक क्षोभ और लज्जा से वह पागल-सा हो रहा था। उसके मन की पिछली भित्ति पर चाहे यह अंकित रहा हो कि इस लड़की ने मुझे नदी में से निकाला है, पर सामने की भित्ति पर यही था कि शब्द के कोड़ों से यह मेरी चमड़ी उधेड़े डालती है।[1] रघुनाथ उसे पकड़ने के लिए लपका और लड़की दो खेतों की बाड़ के बीच की तंग सड़क पर दौड़ भागी। रघुनाथ पीछा करने लगा।

गांव की लड़कियां हड्डियों और गहनों का बंडल नहीं होतीं। वहां वे दौड़ती हैं, कूदती हैं, हँसती हैं, गाती हैं, खाती हैं और पचाती हैं। नगरों में आकर वे खूंटे से बंधकर कुम्हलाती हैं, पीली पड़ जाती हैं, भूखी रहती हैं, सोती हैं, रोती हैं और

१. 'उसने कहा था' के आरम्भ में भी इस भाषा का प्रयोग है। —सम्पादक

मर जाती हैं। रघुनाथ ने मील की दौड़ में इनाम पाया था। उस समय का दौड़ना उसके बहुत गुण बैठा। पानी में गोते खाने के पीछे की शरीर की सारी शून्यता मिटने लगी। पाव मील दौड़ने पर लड़की जितने हाथ आगे बढ़ती थी, वे घटने लगे। सौ गज और जाते-जाते अचानक चीख मारकर, लड़खड़ाकर वह गिरने लगी। रघुनाथ उसके पास जा पहुंचा। अवश्य ही रघुनाथ को इतने हंफानेवाले श्रम के और मानसिक क्षोभ के पीछे यही भाव था कि इस लड़की को गुस्ताखी के लिए दंड दूं। रघुनाथ ने उसे दोनों बांहें डालकर पकड़ लिया। रघुनाथ के लिए स्त्री का और उस लड़की के लिए पुरुष का यह पहला स्पर्श था। रघुनाथ कुछ सोच भी न पाया था कि मैं क्या करूं, इतने में लड़की ने मुंह उसके सामने करके अपने नखों से उसकी पीठ में और बगल में बहुत तेज चुटकियां काटीं। रघुनाथ की बांह ढीली हुई, पर क्रोध नहीं। उसने एक मुक्का लड़की की नाक पर जमाया। लड़की सांस लेते रुकी। इतने में दौड़ने के वेग से, जो अभी न रुका था और मुक्के से दोनों नीचे गिर पड़े। दोनों धूल में लोटम-लोट हो गए।

रघुनाथ धूल झाड़ता हुआ उठा। क्या देखता है कि लड़की के नाक से लहू बह रहा है। अपनी विजय का पहला आवेश एकदम से भूलकर वह पश्चात्ताप और दुःख के पाश में फंस गया। उसका मुंह पसीना-पसीना हो गया। वह चाहता था कि इन लहू की बूंदों के साथ मैं भी धरती में समा जाऊं और उनके साथ ही अपनी आंखें भूमि में गड़ा भी रहा था। परंतु फिर क्षण में आंखें उठ आईं। लड़की अपने भीगे और धूल लगे हुए आंचल से नाक पोंछती हुई उन्हीं आंखों में वही घृणा की और पछतावे की दृष्टि डालती हुई कह रही थी—

"वाह, अच्छे मर्द हो। बड़े बहादुर हो। स्त्रियों पर हाथ उठाया करते हैं?"

रघुनाथ चुप।

"वाह, पिराग जी में खूब इलम पढ़ा। स्त्रियों पर हाथ उठाते होंगे?"

रघुनाथ ने नीचे सिर से, आंखें न उठाकर कहा—

"मुझसे बड़ी भूल हो गई। मुझे पता ही नहीं था कि मैं क्या कर रहा हूं। मेरा सिर ठिकाने नहीं है। मुझे चक्कर···"

"अभी चक्कर आवेंगे। स्त्रियों पर हाथ नहीं चलाया करते हैं।"

सड़क यहां चौड़ी हो गई थी। कचनार की एक बेल आम पर चढ़ी हुई थी और आम के तले पत्थरों का थांबला था। सुनसान था। दूर से नदी की कलकल और रह-रहकर खातीचिड़े की ठकठक-ठकठक आ रही थी। इस समय रघुनाथ का घोंघापन हटने लगा और स्त्रियों की ओर से झेंप इस पिघलती हुई आंखों वाली के वचन-बाणों के नीचे भागने लगी। ढाढ़स कर उसने पूछा—

"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"भागवन्ती ।"

"रहती कहां हो ?"

"मामी के पास—वही जिसने कुएं पर पानी नहीं पिलाया था !"

उस दिन का स्मरण आते ही रघुनाथ फिर चुप हो गया। फिर कुछ ठहरकर बोला—"तुम मेरे पीछे क्यों पड़ी हो ?"

"तुम्हें आदमी बनाने को। जो तुम्हें बुरा लगा हो, तो मैंने भी अपने किए का लहू बहाकर फल पा लिया। एक सलाह दे जाती हूं।"

"क्या !"

"कल से नदी में नहाने मत जाना।"

"क्यों ?"

"गोते खाओगे तो कोई बचानेवाला नहीं मिलेगा।"

रघुनाथ झेंपा, पर सम्हलकर बोला, "अब कोई मेरी जान बचाएगा तो मैं पीछा नहीं करूंगा, दो गाली भी सुन लूंगा।"

"इसलिए नहीं, मैं आज अपने बाप के यहां जाऊंगी।"

"तुम्हारा घर कहां है ?"

"जहां अनाड़ियों के डूबने के लिए कोई नदी नहीं है।"

"हुं ! फिर वही बात लाई। तो वहां पर चिढ़ानेवालों के भागने के लिए रास्ता भी न होगा।"

"जी, यहां जो मैं आपके हाथ आ गई।"

"नहीं तो ?"

"कांटा न लगता तो पिराग जी तक दौड़ते तो हाथ न आती।"

"कांटा ! कांटा कैसा ?"

"यह देखो।"

रघुनाथ ने देखा कि उसके दाहने पैर के तलवे में एक कांटा चुभा हुआ है। उसको यह सूझी कि यह मेरे दोष से हुआ है। बालिका के सहारे वह घुटने के बल बैठ गया और उसका पैर खींचकर रूमाल से धूल झाड़कर कांटे को देखने लगा।

कांटा मोटा था, पर पैर में बहुत पैठ गया था। वह उठकर बाड़ से एक और बड़ा कांटा तोड़ लाया। उससे और पतलून की जेब के चाकू से उसने कांटा निकाला। निकालते ही लोहू का डोरा बह निकला। कांटा प्रायः दो इंच लंबा और जहरीली कंटीली का था।

"ओफ !" कहकर रघुनाथ ने कमीज की आस्तीन फाड़कर उसके पांव में पट्टी बांध दी।

बालिका चुप बैठी थी। रघुनाथ कांटे को निरख रहा था।

"अब तो दर्द नहीं ?"

"कोई एहसान थोड़ा है; तुम्हारे भी कांटा गड़ जाए तो निकलवाने आ जाना।"

"अच्छा।" रघुनाथ का जी जल गया था। यह बर्ताव !

"अच्छा क्या ? जाओ, अपना रास्ता लो।"

"यह कांटा मैं ले जाऊंगा। आज की घटना की यादगारी रहेगी।"

"मैं इसे जरा देख लूं।"

रघुनाथ ने अंगूठे और तर्जनी से कांटा पकड़कर उसकी ओर बढ़ाया।

अपनी दो अंगुलियों से उसे उठाकर और दूसरे हाथ से रघुनाथ को धक्का देकर लड़की हँसती-हँसती दौड़ गई। रघुनाथ धूल में एक कलामुंडी खाकर ज्योंही उठा कि बालिका खेतों को फांदती हुई जा रही थी।

अब की दफा उसका पीछा करने का साहस हमारे चरित्रनायक ने नहीं किया। नदी-तट पर जाकर कोट उठाया और चौंधिआये मस्तिष्क से घर की राह ली।

[५]

रघुनाथ के हृदय में स्त्री-जाति की अज्ञानता का भाव और उससे पृथक् रहने का कुहरा तो था ही, अब उसके स्थान में उद्वेगपूर्ण ग्लानि का धूम इकट्ठा हो गया था। पर उस धूम के नीचे-नीचे उस चपल लड़की की चिनगारी भी चमक रही थी। अवश्य ही अपने पिछले अनुभव से वह इतना चमक गया था कि किसी स्त्री से बातें करने की उसकी इच्छा न थी, परंतु रह-रहकर उसके चित्त में उस पिघलती हुई आंखोंवाली का और अधिक हाल जानने और उसके वचन-कोड़े सहने की इच्छा होती थी। रघुनाथ का हृदय एक पहेली हो रहा था और उस पहेली में पहेली उस स्वतंत्र लड़की का स्वभाव था। रघुनाथ का हृदय धुएं से घुट रहा था और विवाह के पास आते हुए अवसर को वह उसी भाव से देख रहा था, जैसे चैत्रकृष्ण में बकरा आनेवाले नवरात्रों को देखता है।

इधर पिता जी और चाचा घर खोज रहे थे। आसपास गांवों में तीन-चार पात्रियां थीं, जिनके पिता अधिक धन के स्वामी न होने से अब तक अपना भार न उतार सके थे और अब बृहस्पति के सिंह का कवल हो जाने को अपने नरक-गमन का परवाना-सा देखकर भी आत्मघात नहीं कर रहे थे। हिंदू-समाज में धौंस से कुछ नहीं होता, जरूरत से सब हो जाता है। बड़े से बड़ा महाराज थैलियों के मुंह खुलवाकर भी शास्त्र-जड़ लोगों से यह नहीं कहला सकता कि 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी' पर हरताल लगा दो। उलटा अष्ट का अर्थ गर्भाष्ट

करके सात वर्ष तीन महीने की आयु निकाल बैठेंगे। परंतु कभी शुक्र का छिपना, और कभी बृहस्पति का भागना, कभी घर का न मिलना और कभी पल्ले पैसा न होना, कभी नाड़ी-विरोध और कभी कुछ—समझदार आदमी चाहे तो कन्या को चौदह-पंद्रह वर्ष की करके काशीनाथ से लेकर आजकल के महामहोपाध्यायों तक को अंगूठा दिखला सकता है।

दो घर तो ज्योतिषी ने खो दिए। तीसरे के बारे में भी उन्होंने लत्तापात करना चाहा था, पर कुछ तो ज्योतिषी के डाकखाने के द्वारा मनीआर्डर का ग्रहों पर प्रभाव पड़ा और कुछ रघुनाथ के पिता के इस बिहारी के दोहे के पाठ का ज्योतिषी जी पर—

सुत पितु मारक जोग लखि, उपज्यो हिय अति सोग।
पुनि विहँस्यो गुन जोयसी, सुत लखि जारज जोग॥[1]

विधि मिल गई। झंडीपुर में सगाई निश्चित हुई। बीस दिन पीछे बरात चढ़ेगी और रघुनाथ का विवाह होगा।

[६]

कन्यादान के पहले और पीछे वर-कन्या को, ऊपर एक दुशाला डालकर एक दूसरे का मुंह दिखाया जाता है। उस समय दुलहा-दुलहिन जैसा व्यवहार करते हैं उससे ही उनके भविष्य दाम्पत्य-सुख का थर्मामीटर माननेवाली स्त्रियां बहुत ध्यान से उस समय के दोनों के आकार-विकार को याद रखती हैं। जो हो, झंडीपुर की स्त्रियों में यह प्रसिद्ध है कि मुंह-दिखौनी के पीछे लड़के का मुंह सफेद फक् हो गया और विवाह में जो कुछ होम वगैरह उसने किए वे पागल की तरह। मानो उसने कोई भूत देखा था। और लड़की ऐसी गुम हुई कि उसे काटो तो खून नहीं। दिन-भर वह चुप रही और बिड़रायी आंखों से जमीन देखती रही; मानो उसे भी भूत दिख रहे हों। स्त्रियों ने इन लक्षणों को बहुत अशुभ माना था।

१. संपादक द्वारा प्रस्तुत पाठान्तर—

(क) चित पितुमारक जोग गुनि, भयो भये सुत सोग।
फिर हुलस्यो जिय जोयसी, समुझ्यो जारज जोग॥
—बिहारी बोधिनी : लाला भगवान दीन 'दीन', छंद : ६४९

(ख) चित पितमारक-जोगु गनि भयौ, भयैं सुत सोगु।
फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी, समुझैं जारज जोगु॥
—बिहारी-रत्नाकर : सम्पादक : जगन्नाथदास 'रत्नाकर', छंद : ५७५

(ग) चित पितमारक जोग गुनि, भयो भएं सुत सोग।
फिर हुलस्यौ जिय जोयसी, समुझें जारज जोग॥
—बिहारी : विश्वनाथप्रसाद मिश्र, छंद : १७७

दुलहिन डोले में बिदा होकर ससुराल आ रही थी। रघुनाथ घोड़े पर था। दोपहर चढ़ने से कहारों और बरातियों ने एक बड़ की छाया के नीचे बावड़ी के किनारे डेरा लगाया कि रोटी-पानी करके और धूप काटके चलेंगे। कोई नहाने लगा, कोई चूल्हा सुलगाने लगा। दुलहिन पालकी का पर्दा हटाकर हवा ले रही थी और अपने जीवन की स्वतंत्रता के बदले में पाई हुई हथकड़ियों और चांदी की बेड़ियों को निरख रही थी। मनुष्य पहले पशु है, फिर मनुष्य। सभ्यता या शांति का भाव पीछे आता है, पहले पाशविक बल और विजय का। रघुनाथ ने पास आकर कहा—

"क्या कहा था, ऐसे मर्द के आगे कौन लहँगा पसारेगी?"

सिर पालकी के भीतर करके बालिका ने परदा डाल लिया।

रघुनाथ ने यह नहीं सोचा कि उसके जी पर क्या बीतती होगी। उसने अपनी विजय मानी और उसी की अकड़ में बदला लेना ठीक समझा।

"हां, फिर तो कहना, इस बुद्धू के आगे कौन लहँगा पसारेगी?"

चुप।

"क्यों, अब वह कैंची-सी जीभ कहां गई?"

चुप।

कहां तो रघुनाथ छेड़ से चिढ़ता था, अब कहां वह स्वयं छेड़ने लगा। उसकी इच्छा पहले तो यह थी कि यह बोली कभी न सुनूं, परंतु अब वह चाहता था कि मुझे फिर वैसे ही उत्तर मिलें। विवाह के पहले अचंभे के पीछे उसने दुःख की आह के साथ-ही-साथ एक संतोष की आह भरी थी; क्योंकि पहले दिनों की घटनाओं ने उसके हृदय पर एक बड़ा अद्‌भुत परिवर्तन कर दिया था।

"कहो जी, अब प्रयागवालों को अकल सिखाने आई हो? अब इतनी बातें कैसे सुनी जाती हैं?"

"मैं हाथ जोड़ती हूं, मुझसे मत बोलो। मैं मर जाऊंगी।"

"तो नदी में डूबते हुए बुद्धुओं को कौन निकालेगा?"

"अब रहने दो। यहां से हट जाओ। चले जाओ।"

"क्यों?"

"क्यों क्या, अब इस चक्की में ऐसा ही पिसना है। जनम-भर का रोग है; जनम-भर का रोना है।"

"नहीं; मुझे अकल सीखने का—" रघुनाथ ने व्यंग्य से आरंभ किया था, पर इतने में एक कहार चिलम में तमाखू डालने आ गया। भूमिका की सफाई बिना कहे और बिना हुए ही रह गई।

[७]

हिंदू-घरों में, कुछ दिनों तक, दंपत्ती चोरों की तरह मिलते हैं। यह संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली का वर या शाप है। रघुनाथ ने ऐसे चोरी के अवसर आगरे आकर ढूंढ़ने आरंभ किए, पर भागवन्ती टल जाती थी ! उसने रघुनाथ को एक भी बात कहने का, या सुनने का मौका न दिया।

जुलाई में रघुनाथ इलाहाबाद जाकर थर्ड इयर में भरती हो गया। दशहरे और बड़े दिन की छुट्टियों में आकर उसने बहुतेरा चाहा कि दो बातें कर सके, पर भागवन्ती उसके सामने ही नहीं होती थी। हां, कई बार उसे यह संदेह हुआ कि वह मेरी आहट पर ध्यान रखती है और छिप-छिपकर मुझे देखती है; पर ज्योंही वह इस सूत पर आगे बढ़ता कि भागवन्ती लोप हो जाती।

पढ़ने की चिंता में विघ्न डालनेवाली अब उसको यह नयी चिंता लगी। यह बात उसके जी में जम गई कि मैंने अमानुष निर्दयता से और बोली-ठोली से उसके सीधे हृदय को दुखा दिया है। परंतु कभी-कभी यह सोचता कि क्या दोष मेरा ही है ? उसने क्या कम ज्यादती की थी ? जो ताने-तिश्ने उस समय उसके हृदय को बहुत ही चीरते हुए जान पड़े थे, वे अब उसको स्मृति में बहुत प्यारे लगने लगे। सोचता था कि मैं ही जाकर क्षमा मांगूंगा। जिन जांघों ने उसका पीछा किया था उन्हें बांधकर उसके सामने पड़कर कहूंगा कि उस दिनवाली चाल से मुझे कुचलती हुई चली जा। अथवा यह कहूंगा कि उसी नदी में मुझे ढकेल दे। यों तरह-तरह के तर्क-वितर्कों में उसका समय कटने लगा। न 'हॉकी' में अब उसकी कदर रही और न प्रोफेसर की आंखें वैसी रहीं। उसी कीचड़ लगे हुए पतलून को मेज पर रखकर सोचता, सोचता, सोचता रहता।

होली की छुट्टियां आईं। पहले सलाह हुई कि घर न जाऊं, काशी में एक मित्र के पास ही छुट्टियां बिताऊं। उस मित्र ने प्रसंग चलने पर कहा, "हां भाई, ब्याह के पीछे पहली होली है, तुम काहे को चलते हो !" वह रघुनाथ के हृदय के भार को क्या समझ सकता था ? रघुनाथ ने हँसकर बात टाल दी। रात को सोचा कि चलो छुट्टियों में बोर्डिंग में ही रहूं, पास ही पब्लिक-लाइब्रेरी है, दिन कट जाएंगे। रात को जब सोया तो पिघलती हुई आंखें, वही नाक से बहता हुआ खून और वह आंसुओं से न ढकनेवाली हँसी ! नींद न आ सकी। जैसे कोई सपने में चलता है, वैसे बेहोशी में ही सवेरे टिकट लेकर गाड़ी में बैठ गया। पता नहीं कि मैं किधर जा रहा हूं। चेत तब हुआ जब कुली 'टुंडला', 'टुंडला' चिल्लाए। रघुनाथ चौंका। अच्छा, जो हो, अब की दफा फिर उद्योग करूंगा। यों कहकर हृदय को दृढ़ करके घर पहुंचा।

होली का दिन था ! जैसे कोजागर पूर्णिमा[1] को चोरों के लिए घर के दर-

१. शरत्पूर्णिमा को होने वाला एक त्योहार; शरत्पूर्णिमा

वाजे खुले छोड़कर हिंदू सोते हैं, वैसे माता-पिता टल गए थे। मां पकवान पका रही थी और बाप—खैर, बाप भी कहीं थे। रघुनाथ भीतर पहुंचा। भागवन्ती सिर पर हाथ धरे हुए कोने में बैठी थी। उसे देखते ही खड़ी हो गई। वह दरवाजे की तरफ बढ़ने न पाई थी कि रघुनाथ बोला, "ठहरो, बाहर मत जाना।"

वह ठहर गई। घूंघट खींचकर कोने की पीढ़ी के बान को देखने लगी।

"कहो, कैसी हो? आज तुमसे बातें करनी हैं।"

चुप।

"प्रसन्न रहती हो? कभी मेरी भी याद करती हो?"

चुप।

"मेरी छुट्टियां तीन ही दिन की हैं।"

चुप।

"तुम्हें मेरी कसम है, चुप मत रहो, कुछ बोलो तो, जवाब दो—पहले की तरह ताने ही से बोलो, मेरी शपथ है—सुनती हो?"

"मेरे कानों में पानी थोड़ा ही भर गया है।"

"हां, बस, यों ठीक है; कुछ ही कहो, पर कहती जाओ। अच्छा होता यदि तुम मुझे उस दिन न निकालतीं और डूब जाने देतीं।"

"अच्छा होता यदि मेरा कांटा न निकालते और पैर गलकर मैं मर जाती।"

"तुमने कहा था कि कोई एहसान थोड़ा है, कांटा गड़ जाए, तो मैं भी निकाल दूंगी।"

"हां, निकाल दूंगी।"

"कैसे!"

"उसी कांटे से।"

"उसी कांटे से! वह है कहां?"

"मेरे पास।"

"क्यों?—कब से।"

"जब से पतलून ट्रंक में बंद होकर आगरे गई तब से।"

न मालूम पीढ़ी का बान कैसा अच्छा था, निगाह उस पर से नहीं हटी। शायद तांत गिनी जा रही थी।

"अनाड़ी की बात की नकल करती हो?"

गिनती पूरी हो गई। अब अपने नखों की बारी आई।

"क्यों, फिर चुप?"

"हां!"—नखों पर से ध्यान नहीं हटा।

रघुनाथ ने छत की ओर देखकर कहा, "अनाड़ियों की पीठ नख आजमाने

के लिए अच्छी होती है।"

नख छिपा लिए गए।

"कांटा निकालोगी ?"

"हां !"

"कांटा छत में थोड़ा ही है।"

"तो कहां है ?"

"मैं तो अनाड़ी हूं, मुझे लल्लो-पत्तो करना नहीं आता, साफ कहना जानता हूं, सुनो !" यह कहकर रघुनाथ बढ़ा और उसने उसके दोनों हाथ पकड़ लिए।

उसने हाथ न हटाए।

"उस समय मैं जंगली था, वहशी था, अधूरा था। मनुष्य जब तक स्त्री की परछाईं नहीं पा लेता है तब तक पूरा नहीं होता।[1] मेरे बुद्धूपन को क्षमा करो। मेरे हृदय में तुम्हारे प्रेम का एक भयंकर कांटा गड़ गया है। जिस दिन तुम्हें पहले-पहल देखा उस दिन से वह गड़ रहा है और अब तक गड़ा जा रहा है। तुम्हारी प्रेम की दृष्टि से मेरा यह शूल हटेगा।"

घूंघट के भीतर, जहां आंखें होनी चाहिए, वहां कुछ गीलापन दिखा।

"देखो, मैं तुम्हारे प्रेम के बिना जी नहीं सकता। मेरा उस दिन का रूखापन और जंगलीपन भूल जाओ। तुम मेरी प्राण हो, मेरा कांटा निकाल दो।"

रघुनाथ ने एक हाथ उसकी कमर पर डालकर उसे अपनी ओर खींचना चाहा। मालूम पड़ा कि नदी के किनारे का किला, नींव के गल जाने से, धीरे-धीरे धंस रहा है। भागवन्ती का बलवान् शरीर, निस्सार होकर, रघुनाथ के कंधे पर झूल गया। कंधा आंसुओं से गीला हो गया।

"मेरा कसूर—मेरा गँवारपन—मैं उजड्ड—मेरा अपराध—मेरा पाप—मैंने क्या कह डा···डा···डा···आ···" घिग्घी बंध चली।

उसका मुंह बंद करने का एक ही उपाय था। रघुनाथ ने वही किया।

[प्रथम प्रकाशन : अज्ञात; रचनाकाल : सन् १९११-१५ के मध्य]

१. (क) 'यावज्जाया न विन्दते असर्वो हि तावद्भवति' अर्थात् जब तक पत्नी प्राप्त नहीं करता, मनुष्य अपूर्ण ही रहता है। (शतपथ ब्राह्मण) —सम्पादक

(ख) गुलेरी जी ने अपने 'वाजपेय' लेख में लिखा है—"जाया अपना अध है, जब तक मनुष्य उसे नहीं पाता तब तक फिर नहीं उपज सकता, अधूरा रहता है, उसे पाकर पूरा हो जाता है, फिर उत्पन्न हो सकता है।" देखें : गुलेरी-ग्रंथ-१, पृ० ४६, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २००० वि०। —सम्पादक

उसने कहा था

[१]

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ी वालों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गये हैं उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर में बम्बूकार्ट वालों की बोली का मरहम लगायें। जब बड़े-बड़े शहरों[1] की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्के वाले कभी घोड़े की नाभि से अपना निकट[2] संबंध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आंखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अंगुलियों के पोरों को चींथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले, तंग चक्करदार गलियों में, हरएक लड्ढी वाले के लिए ठहरकर, सब्र का समुद्र उमड़ाकर, 'बचो खालसा जी', 'हटो भाई जी', 'ठहरना माई', 'आने दो लालाजी', 'हटो बाछा'[3] कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बतकों, गन्ने और खोमचे और भारे वालों के जंगल में से राह[4] खेते हैं। क्या मजाल है कि जी और साहब बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा, जीणे जोगिए; हट जा, करमा वालिए; हट जा, पुत्तां प्यारिए; बच जा, लंबी वालिए। समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, पुत्रों को प्यारी है,

१. जबकि बड़े शहरों—गुलेरी
२. निकट यौन सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी उसके गुप्त-गुह्य अंगों से डाक्टरों को लजाने वाला परिचय दिखाते हैं।—गुलेरी
३. बादशाह
४. राह-किनारा—गुलेरी

लंबी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है? बच जा।

ऐसे वम्बूकार्ट वालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दुकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियां। दुकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने विना हटता न था।

'तेरे घर कहां हैं?'

'मगरे में,—और तेरे?'

'मांझे में,—यहां कहां रहती है?'

'अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।'

'मैं भी मामा के आया हूं, उनका घर गुरु-बजार में है।'

इतने में दुकानदार निबटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुसकरा कर पूछा—'तेरी कुड़माई[1] हो गई?' इस पर लड़की कुछ आंखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्ज़ी वाले के यहां, या दूध वाले के यहां, अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध बोली—'हां, हो गई।'

'कब?'

'कल,—देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू[2]!' लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छाबड़ी वाले की दिन भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभी वाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अंधे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुंचा।

[२]

'राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है। दिन-रात ख़न्दकों में बैठे हड्डियां अकड़ गईं।

१. मँगनी
२. (क) ओढ़नी
(ख) देखें गुलेरी ग्रंथ-१, पृ० २११, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सं० २००० वि०
—सम्पादक

लुधियाने से दस गुना जाड़ा, और मेह और बरफ़ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। ग़नीम कहीं दिखता नहीं,—घण्टे दो घण्टे में कान के पड़दे फाड़ने वाले धमाके के साथ सारी ख़न्दक हिल जाती है और सौ-सौ गज़ धरती उछल पड़ती है। इस ग़ैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का ज़लज़ला सुना था, यहां दिन में पचीस जलज़ले होते हैं। जो कहीं ख़न्दक से बाहर साफ़ा या कुहनी निकल गई तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।'

'लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो ख़न्दक में बिता ही दिये। परसों 'रिलीफ़' आ जायगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका[1] करेंगे और पेट भर खाकर सो रहेंगे। उसी फ़रंगी[2] मेम के बाग़ में—मख़मल का सा हरा घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है—'तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।'

'चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ा कर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जरमनों को अकेला मार कर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फैंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—'

'नहीं तो सीधे बर्लिन पहुंच जाते। क्यों?' सूबेदार हजारासिंह ने मुसकरा कर कहा, 'लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। वड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गये तो क्या होगा?'

'सूबेदारजी, सच है' लहनासिंह बोला, 'पर करें क्या? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ से चम्बे की बावलियों के से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गरमी आ जाय।'

'उदमी[3], उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वज़ीरा, तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको।[4] महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाज़े का पहरा बदला दे।' यह कहते हुए सूबेदार सारी ख़न्दक में चक्कर लगाने लगे।

१. बकरा मारना (काटना)
२. फ्रेंच
३. उद्यमी
४. फैंको—गुलेरी

वज़ीरासिंह पलटन[1] का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भर कर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—'मैं पाधा बन गया हूं। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण !' इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भर कर उसके हाथ में देकर कहा—'अपनी बाड़ी के ख़रबूज़ों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पञ्जाब भर में नहीं मिलेगा।'

'हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा[2] जमीन यहाँ माँग लूँगा और फलों के बूटे[3] लगाऊँगा।'

'लाड़ी होरां[4] को भी यहां बुला लोगे ? या वही दूध पिलाने वाली फरंगी मेम—'

'चुपकर। यहाँ वालों को शरम नहीं।'

'देस-देस की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तमाकू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिए लड़ेगा[5] नहीं।'

'अच्छा, अब बोधसिंह कैसा है ?'

'अच्छा है।'

'जैसे मैं जानता ही न होऊँ। रात भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुज़र करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो। आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न मांदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है और 'निमोनिया' से मरने वालों को मुरब्बे[6] नहीं मिला करते।'

'मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरत-सिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।'

वज़ीरासिंह ने त्यौरी चढ़ा कर कहा—'क्या मरने-मराने की बात लगाई है ? मरें जर्मनी और तुरक ! हाँ भाइयो कैसे—

१, पल्टन—गुलेरी
२. जमीन की नाप
३. पेड़
४. स्त्री होराँ=आदरवाचक
५. लड़ेगा—गुलेरी
६. नई नहरों के पास वर्ग-भूमि

दिल्ली शहर तें पिशौर नुं जांदिए,
कर लेणा लौगां दा बपार मडिए;
कर लेणा नाड़ेदा सौदा अड़िए—
(ओय) लाणा चटाका कदुए नुं।
कद्दू बणया वे मजेदार गोरिए
हुण लाणा चटाका कदुए नुं ।।[1]

कौन जानता था कि दाढ़ियों वाले, घरबारी सिख ऐसा लुच्चों का गीत गायँगे, पर सारी ख़न्दक इस गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताज़े हो गये, मानो चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

[३]

दो पहर रात गई है। अँधेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधासिंह ख़ाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर और लहनासिंह के दो कम्बल और एक बरानकोट[2] ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुँह पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर। बोधासिंह कराहा।

'क्यों बोधा भाई, क्या है?'

'पानी पिला दो।'

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—'कहो कैसे हो?' पानी पीकर बोधा बोला—'कँपनी[3] छुट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।'

'अच्छा, मेरी जरसी पहन लो।'

'और तुम?'

'मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है; पसीना आ रहा है।'

'ना, मैं नहीं पहनता; चार दिन से तुम मेरे लिए—'

'हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सबेरे ही आई है। विलायत से मैमें बुन-बुन कर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करें।' यों कह कर लहना अपना कोट उतार कर जरसी उतारने लगा।

'सच कहते हो?'

१. अरी दिल्ली शहर से पेशावर को जाने वाली, लौंगों का व्यापार कर ले और इज़ारबन्द का सौदा कर ले। जीभ चटचटा कर कद्दू खाना है। गोरी! कद्दू मजेदार बना है। अब चटचटा कर उसे खाना है।
२. ओवरकोट
३. कँपकँपी

'और नहीं झूँठ ?' यों कह कर नाँही करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप ख़ाकी कोट और ज़ीन का कुरता भर पहन कर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घंटा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज़ आई—'सूबेदार हज़ारासिंह !'

'कौन ? लपटन साहब ? हुकुम हुज़ूर' कह कर सूबेदार तनकर फ़ौजी सलाम करके सामने हुआ।

'देखो, इसी दम धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज़ियादह[1] जर्मन नहीं है। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काट कर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहां मोड़ है वहां पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहां दस आदमी छोड़ कर सबको साथ ले उनसे जा मिलो। ख़न्दक छीन कर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहां रहेगा।'

'जो हुक्म।'

चुपचाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कम्बल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझ कर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेर कर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकाल कर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—

'लो तुम भी पियो'

आँख मारते-मारते[2] लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपाकर बोला—'लाओ, साहब'। हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह क़ैदियों के से कटे हुए बाल कहाँ से आ गये ?

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है ? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमंट में थे।

'क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायेंगे ?'

१. ज्यादा—गुलेरी
२. आँख पलकते-पलकते—गुलेरी

'लड़ाई ख़त्म होने पर। क्यों, क्या यह देश पसन्द नहीं ?'

"नहीं साहब, शिकार के वे मज़े यहाँ कहाँ ?[1] याद है, पारसाल नक़ली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी के ज़िले में शिकार करने गये थे—'हाँ, हाँ'—वही जब आप खोते[2] पर सवार थे और आपका ख़ानसामा अबदुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था ? 'बेशक, पाजी कहीं का'—सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी।[3] और आपकी एक गोली कन्धे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफ़सर के साथ शिकार खेलने में मज़ा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न ? आपने कहा था कि रजमंट की मैस में लगायँगे। 'हाँ, पर मैंने वह विलायत भेज दिया'—ऐसे बड़े-बड़े सींग ! दो-दो फुट के तो होंगे ?"

'हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया ?"

"पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ"—कह कर लहनासिंह ख़न्दक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।[4]

अँधेरे में किसी सोने वाले से वह टकराया।

'कौन ? वज़ीरासिंह ?'

'हाँ, क्यों लहना ? क्या, क़यामत आ गई ? ज़रा तो आँख लगने दी होती' ?

[४]

'होश में आओ। क़यामत आई है और लपटन साहब की वर्दी पहन कर आई है।'

'क्या ?'

'लपटन साहब या तो मारे गये हैं या क़ैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहन कर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा है और बातें की हैं। सोहरा[5] साफ़ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है ?'

'तो अब ?'

'अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार होरां कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे

१. वह शिकार के मज़े यहां कहां ?—गुलेरी
२. गधे
३. कि ऐसी बड़ी मैंने कभी नहीं देखी।—गुलेरी
४. उसने झटपट विचार लिया कि क्या करना चाहिए।—गुलेरी
५. सुसरा (गाली)

और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ।[1] अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। ख़न्दक की बात झूठ है। चले जाओ, ख़न्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।'

'हुकुम तो यह है कि यहीं—'

'ऐसी तैसी हुकुम की! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफसर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की ख़बर लेता हूँ।' 'पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।'

'आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।'

लौट कर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया।[2] उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले।[3] तीनों को जगह-जगह ख़न्दक की दीवारों[4] में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रक्खा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जला कर गुत्थी पर रखने—

बिजली[5] की तरह दोनों हाथों से उलटी बन्दूक को उठा कर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तान कर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुन्दा[6] साहब की गर्दन पर मारा और साहब "आँख! मीन गौट्ट"[7] कहते हुए चित्त हो गये। लहनासिंह ने तीनों गोले बीन कर खन्दक के बाहर फेंके[8] और साहब को घसीट कर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकाल कर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँस कर बोला—'क्यों लपटन साहब? मिज़ाज कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरट

१. पल्टन के पैरों के खोज देखते-देखते दौड़ जाओ।—गुलेरी
२. लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दिवाल से चिपक गया।—गुलेरी
३. उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से तीन बेल के बराबर गोले निकाले।—गुलेरी
४. दीवालों—गुलेरी
५. इतने में बिजली की तरह।—गुलेरी
६. कुन्द—गुलेरी
७. हाय! मेरे राम! (जर्मन)
८. फैंके—गुलेरी

पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के ज़िले में नीलगायें[1] होती हैं और उनके दो फ़ुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान ख़ानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ़ उर्दू कहाँ से सीख आये? हमारे लपटन साहब तो विना 'डैम' के पाँच लफ्ज़ भी नहीं बोला करते थे।'

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने, मानो जाड़े से बचाने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—'चालाक तो बड़े हो पर मांझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिए। तीन महीने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने के तावीज़ बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा[2] बिछा कर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनी वाले बड़े पण्डित हैं। वेद पढ़-पढ़कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायँगे तो गोहत्या बन्द कर देंगे। मण्डी के बनियों को बहकाता था कि डाकख़ाने से रुपये निकाल लो; सरकार का राज्य जाने वाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूँड दी थी और गाँव से बाहर निकाल कर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो—'

साहब की जेब में से पिस्तौल चला[3] और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फ़ायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया—"क्या है?"

लहनासिंह ने उसे तो यह कहकर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया' और औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफ़ा फाड़कर घाव के दोनों तरफ़ पट्टियाँ कस कर बाँधीं। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूक़ों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर वहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तककर मार रहा था—वह खड़ा था, और, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनिटों में वे—

१. नीलगाएं—गुलेरी
२. खटिया
३. साहब की जेब में से पिस्तौल चली—गुलेरी

अचानक आवाज़ आई—"वाह गुरुजी की फ़तह ! वाह गुरुजी का ख़ालसा !!" और धड़ाधड़ बन्दूकों के फ़ायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौक़े पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हज़ारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—"अकाल सिक्खां दी फ़ौज आई ! वाह गुरुजी दी फ़तह ! वाह गुरुजी दा ख़ालसा ! सत श्रीअकालपुरुख !!!" और लड़ाई ख़तम हो गई। तिरेसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहने[1] कन्धे में से गोली आरपार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को ख़न्दक़ की गीली मट्टी से पूर लिया और बाक़ी का साफ़ा कसकर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को ख़बर न हुई कि लहना के दूसरा घाव—भारी घाव—लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य्यं'[2] कहलाती। वज़ीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और काग़ज़ात पाकर वे उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज़ तीन मील दाहनी[3] ओर की खाई वालों ने सुन ली थी। उन्होंने[4] पीछे टेलीफ़ोन[5] कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियां चलीं, जो कोई डेढ़ घण्टे के अन्दर-अन्दर आ पहुँचीं। फील्ड अस्पताल नजदीक था।[6] सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायेंगे, इस लिए मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही।[7] पर उसने यह

१. दहने—गुलेरी
२. 'दांतों को वीणा का उपदेश देने वाली' इतनी ठण्डी कि दांत आपस में टकराकर टक्-टक् बजने लगें। (कादम्बरी) —सम्पादक
३. दहनी—गुलेरी
४. उनने—गुलेरी
५. टेलीफोन—गुलेरी
६. वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमारों की ढोने की गाड़ियां चलीं जो एक डेढ़ घंटे में अन्दर-अन्दर आ पहुंची। फीलु असपताल नजदीक था।—गुलेरी
७. सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवाना चाही।—गुलेरी

कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है, सबेरे देखा जाएगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा[1] रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे।[2] यह देख लहना ने कहा[3]—

"तुम्हें बोधा की क़सम है और सूबेदारनीजी की सौगन्द है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।"

"और तुम ?"

"मेरे लिए वहाँ पहुँच कर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुरदों के लिए भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं मैं खड़ा हूं ?[4] वज़ीरासिंह मेरे पास है ही।"

"अच्छा, पर—"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया ? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होरां को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उनने कहा था वह मैंने कर दिया !"

गाड़ियां चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा—"तैंने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा ? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था ?'

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा, वह लिख देना और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया। 'वज़ीरा, पानी पिला दे और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर हो रहा है'।

[५]

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म भर की घटनायें एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं; समय की धुन्ध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

× × ×

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहां आया है। दही वाले के यहां, सब्जीवाले के यहां, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है कि तेरी कुड़माई हो गई ? तब 'धत्' कहकर वह

१. वर्रा—गुलेरी
२. सूबेदार लहना को छोड़कर जाते नहीं थे।—गुलेरी
३. उसने कहा—गुलेरी
४. देखते नहीं में खड़ा हुआ हूं ?—गुलेरी

भग जाती है ।[1] एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा—"हां, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू?" सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ । क्रोध हुआ । क्यों हुआ ?

"वज़ीरासिंह, पानी पिला दे" ।

× × ×

पच्चीस[2] वर्ष बीत गये । अब लहनासिंह नं० ७७ रैफल्स में जमादार हो गया है । उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा । न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं । सात दिन की छुट्टी लेकर ज़मीन के मुक़द्दमे की पैरवी करने वह अपने घर गया । वहां रेजिमेंट के अफ़सर की चिट्ठी मिली कि फ़ौज लाम पर जाती है । फ़ौरन चले आओ । साथ ही सूबेदार हज़ारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं । लौटते हुए हमारे घर होते जाना । साथ चलेंगे । सूबेदार का गांव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था । लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा ।

जब चलने लगे, तब सूबेदार बेढे[3] में से निकलकर आया । बोला – लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं। बुलाती हैं । जा मिल आ। लहनासिंह भीतर पहुँचा । सूबेदारनी मुझे जानती है ? कब से ? रेजिमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं । दरवाज़े पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा । असीस सुनी । लहनासिंह चुप ।

'मुझे पहचाना ?'

'नहीं' ।

"तेरी कुड़माई हो गई ?—धत्—कल हो गई…देखते नहीं रेशमी बूटों वाला सालू—अमृतसर में—"

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली । करवट बदली । पसली का घाव बह निकला ।

'वज़ीरा, पानी पिला'—'उसने कहा था' ।

× × ×

स्वप्न चल रहा है । सूबेदारनी कह रही है—"मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया । एक काम कहती हूँ । मेरे तो भाग फूट गये । सरकार ने बहादुरी

१. वो 'धत्' कहकर भग जाती है ।—गुलेरी
२. पचीस—गुलेरी
३. जनाने

का ख़िताब दिया है, लायलपुर में ज़मीन दी है, आज नमकहलाली का मौक़ा आया है। पर सरकार ने हम तीमियों[1] की एक घँघरिया[2] पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदार जी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फ़ौज में भरती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार हुए, पर एक भी नहीं जिया"। सूबेदारनी रोने लगी। "अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगे वाले का घोड़ा दही वाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़ों की लातों में चले गये थे और मुझे उठाकर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना[3]। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।"

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी[4] में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

'वज़ीरासिंह, पानी पिला'—'उसने कहा था'

× × ×

लहना का सिर अपनी गोदी तर रक्खे वजीरसिंह बैठा है।[5] जब मांगता है, तब पानी पिला देता है। आध घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—

"कौन? कीरतसिंह?'

वज़ीरा ने कुछ समझकर कहा, 'हां'।

'भाइया, मुझे और ऊंचा कर ले। अपने पट्ट[6] पर मेरा सिर रख ले।'

वज़ीर ने वैसा ही किया।

'हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस। अब के हाड़[7] में यह आम खूब फलेगा। चाचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।'

वज़ीरासिंह के आंसू टप-टप टपक रहे थे।[8]

१. स्त्रियों
२. घघरिया—गुलेरी
३. ऐसे इन दोनों को बचाना।—गुलेरी
४. अन्दर का घर
५. लहना का सिर अपनी गोदी पर लिटाए वजीरसिंह बैठा है।—गुलेरी
६. जाँघ
७. आषाढ़
८. वजीरा सिंह के आँसू टप-टप् पड़ रहे थे।—गुलेरी

× × ×

कुछ दिन पीछे लोगों ने अख़बारों में पढ़ा—

फ्रांस और बेलजियम[1]—६८वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : जून, १९१५ ई०]

१. बेल्जियम—गुलेरी

निबंध

कछुआ-धरम

'मनुस्मृति' में कहा गया है कि जहां गुरु की निन्दा या असत्कथा हो रही हो वहां पर भले आदमी को चाहिए कि कान बंद कर ले या कहीं उठकर चला जाए। यह हिन्दुओं के या हिन्दुस्थानी सभ्यता के कछुआ-धरम का आदर्श है। ध्यान रहे कि मनु महाराज ने न सुनने जोग गुरु की कलंक-कथा के सुनने के पाप से बचने के दो ही उपाय बताए हैं। या तो कान ढककर बैठ जाओ या दुम दबाकर चल दो। तीसरा उपाय, जो और देशों के सौ में नव्वे आदमियों को ऐसे अवसर पर पहले सूझेगा, वह मनु ने नहीं बताया कि जूता लेकर, या मुक्का तानकर सामने खड़े हो जाओ और निन्दा करने वाले का जबड़ा तोड़ दो या मुँह पिचका दो कि फिर ऐसी हरकत न करे। यह हमारी सभ्यता के भाव के विरुद्ध है। कछुआ ढाल में घुस जाता है, आगे बढ़कर मार नहीं करता। अश्वघोष महाकवि ने बुद्ध के साथ-साथ चले जाते हुए साधु पुरुषों को यह उपमा दी है—

देशादनार्यैरभिभूयमानान्महर्षयो धर्ममिवापयान्तम्।[1]

अनार्य लोग देश पर चढ़ाई कर रहे हैं। धर्म भागा जा रहा है। महर्षि भी उसके पीछे-पीछे चले जा रहे हैं। यह कर लेंगे कि दक्षिण के अप्रकाश देश को कोई अत्रि या अगस्त्य यज्ञों और वेदों के योग्य बना लें···तब तक ही जब तक कि दूसरे कोई राक्षस या अनार्य उसे भी रहने के अयोग्य न कर दें···पर यह नहीं कि डटकर सामने खड़े हो जावें और अनार्यों की बाढ़ को रोकें। पुराने से पुराने आर्यों की अपने भाई असुरों से अनबन हुई। असुर असुरिया में रहना चाहते थे, आर्य सप्तसिन्धुओं को आर्यावर्त बनाना चाहते थे। आगे चल दिए। पीछे वे दबाते आए। विष्णु ने अग्नि और यज्ञपात्र और अरणि रखने के लिए तीन गाड़ियां बनाईं, उसकी पत्नी ने उनके पहियों की चूल को घी से आंज दिया।

१. अनार्यों द्वारा अपमानित महर्षि देश से उसी तरह चले जा रहे थे मानो धर्म ही चला जा रहा हो।

ऊखल, मूसल और सोम कूटने के पत्थरों तक को साथ लिए हुए यह 'कारवां' मूजवत् हिन्दुकुश के एकमात्र दर्रे ख़ैबर में होकर सिन्धु की घाटी में उतरा। पीछे से श्वान, भ्राज, अम्भारि, बम्भारि, हस्त, सुहस्त, कृशन, शण्ड, मर्क मारते चले आते थे, वज्र की मार से पिछली गाड़ी भी आधी टूट गई, पर तीन लम्बी डग भरने वाले विष्णु ने पीछे फिर कर नहीं देखा और न जमकर मैदान लिया। पितृभूमि अपने भ्रातृव्यों के पास छोड़ आए और यहां 'भ्रातृव्यस्य वधाय', 'सजातानां मध्यमेष्ठ्याय' देवताओं को आहुति देने लगे। चलो, जम गए। जहां जहां रास्ते में टिके थे वहाँ वहाँ यूप खड़े हो गए। यहां की सुजला सुफला शस्यश्यामला भूमि में ये बुलबुलें चहकने लगीं। पर ईरान के अँगूरों और गुलों का, यानी मूजवत् पहाड़ की सोमलता का, चसका पड़ा हुआ था। लेने जाते तो वे पुराने गन्धर्व मारने दौड़ते। हां, उनमें से कोई-कोई उस समय का चिलकौआ नक़द नारायण लेकर बदले में सोमलता वेचने को राजी हो जाते थे। उस समय का सिक्का गौएं थीं। जैसे आजकल लखपति, करोड़पति, कहलाते हैं वैसे तब 'शतगु', 'सहस्रगु' कहलाते थे। ये दमड़ीमल के पोते करोड़ीचन्द अपने 'नवग्वा:', 'दशग्वा:' पितरों से शरमाते न थे, आदर से उन्हें याद करते थे। आजकल के मेवा वेचने वाले पेशावरियों की तरह कोई-कोई सरहदी यहां पर भी सोम बेचने चले आते थे। कोई आर्य सीमाप्रान्त पर जाकर भी ले आया करते थे। मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुंजड़िनों से हुआ करती है। ये कहते कि गौ की एक कला में सोम वेच दो। वह कहता कि वाह! सोमराजा का दाम इससे कहीं बढ़कर है। इधर ये गौ के गुण बखानते। जैसे बुड्ढे चौबेजी ने अपने कंधे पर चढ़ी बालवधू के लिए कहा था कि याही में बेटी और याही में बेटा, ऐसे ये भी कहते कि इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है, दही होता है, यह होता है, वह होता है। पर काबुली काहे को मानता, उसके पास सोम की मानोपली थी और इन्हें बिना लिए सरता नहीं। अन्त को गौ का एक पाद, अर्ध, होते-होते दाम तै हो जाते। भूरी आँखों वाली एक बरस की बछिया में सोमराजा ख़रीद लिए जाते। गाड़ी में रखकर शान से लाए जाते। जैसे मुसलमानों के यहां सूद लेना तो हराम है, पर हिन्दू साहूकारों को सूद देना हराम होने पर भी देना ही पड़ता है वैसे यह तो फतवा दिया गया कि 'पापो हि सोमविक्रयी' पर सोम क्रय करना—उन्हीं गन्धर्वों के हाथ गौ वेचकर सोम लेना—पाप नहीं कहला सका। तो भी सोम मिलने में कठिनाई होने लगी। गन्धर्वों ने दाम बढ़ा दिए या सफर दूर का हो गया, या रास्ते में डाके मारने वाले 'वाहीक' आ बसे, कुछ न कुछ हुआ। तब यह तो हो गया कि सोम के बदले में पूतिक लकड़ी का ही रस निचोड़ लिया जाय, पर यह किसी को न सूझी कि सब प्रकार के जलवायु की इस उर्वरा भूमि में कहीं सोम की खेती कर ली जाय

'जिस से जितना चाहे उतना सोम घर बैठे मिले। उपमन्यु को उसकी मा ने और अश्वत्थामा को उसके बाप ने जैसे जल में आटा घोलकर दूध कहकर पतिया लिया था, वैसे पूतिक की सीखों से देवता पतियाए जाने लगे।

अच्छा, अब उसी पंचनद में वाहीक आकर बसे। अश्वघोष की फड़कती उपमा के अनुसार धर्म भागा और दंड-कमंडल लेकर ऋषि भी भागे। अब ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश और आर्यावर्त की महिमा हो गई और वह पुराना देश—न तत्र दिवसं वसेत्! युगन्धरे पयः पीत्वा कथं स्वर्गं गमिष्यति!!!

बहुत वर्ष पीछे की बात है। समुद्र पार के देशों में और धर्म पक्के हो चले। वे लूटते-मारते तो सही, बेधर्म भी कर देते। बस, समुद्रयात्रा बन्द! कहां तो राम के बनाए सेतु का दर्शन करके ब्रह्महत्या मिटती थी और और कहां नाव में जाने वाले द्विज का प्रायश्चित्त कराकर भी संग्रह बन्द। वही कछुआ धर्म! ढाल के अन्दर बैठे रहो।

पुर्तगाली यहां व्यापार करने आए। अपना धर्म फैलाने की भी सूझी। 'विपृत-जघनां को विहातुं समर्थः'? कुएं पर सैकड़ों नर-नारी पानी भर रहे और नहा रहे थे। एक पादरी ने कह दिया कि मैंने इसमें तुम्हारा अभक्ष्य डाल दिया है। फिर क्या था? कछुए को ढाल बल उलट दिया गया। अब वह चल नहीं सकता। किसी ने यह नहीं सोचा कि अज्ञात पाप पाप नहीं होता। किसी ने यह नहीं सोचा कि कुल्ले कर लें, घड़े फोड़ दें या क़ै ही कर डालें। गांव के गांव ईसाई हो गए। और दूर-दूर के गांवों के कछुओं को यह ख़बर लगी तो बम्बई जाने में भी प्रायश्चित्त कर दिया गया।

हिंदू से कह दीजिए कि विलायती खांड खाने में अधर्म है। उस में अभक्ष्य चीज़ें पड़ती हैं। चाहे आप वस्तुगति से कहें, चाहे राजनैतिक चालबाजी से कहें, चाहे अपने देश की आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए उसकी सहानुभूति उपजाने को कहें। उसका उत्तर यह नहीं होगा कि राजनैतिक दशा सुधरनी चाहिए। उसका उत्तर यह नहीं होगा कि गन्ने की खेती बढ़े। उसका केवल एक ही कछुआ उत्तर होगा—वह खांड खाना छोड़ देगा, बनी-बनाई मिठाई गौओं को डाल देगा, या बोरियां गंगाजी में बहा देगा। कुछ दिन पीछे कहिए कि देसी खांड के बेचनेवाले भी सफेद बूरा बनाने के लिए वही उपाय करते है। वह मैली खांड खाने लगेगा। कुछ दिन ठहरकर कहिए कि सस्ती जावा या मोरस की खांड मैली करके बिक रही है। वह गुड़ पर उतर आवेगा। फिर कहिए कि गुड़ के शीरे में भी सस्ती मोरिस की मैल का मेल है। वह गुड़ छोड़कर पितरों की तरह शहद (मधु) खाने लगेगा, या मीठा ही खाना छोड़ देगा। वह सिर निकालकर यह न देखेगा कि सात सेर की खांड छोड़कर डेढ़ सेर की कब तक खाई जायगी, यह न सोचेगा कि बिना मीठे कब तक रहा जाएगा। यह नहीं देखेगा कि उसकी

सी मति वाले शरबत न पीने वालों की संख्या घटती-घटती दहाइयों और इका-इयों पर आ जा रही है, वह यह नहीं विचारेगा कि बन्नू से कलकत्ते तक डाक-गाड़ी में यात्रा करनेवाला जून के महीने में झुलसते हुए कंठ को बरफ से ठंडा बिना किए नहीं रह सकता। उसका कछुआपन कछुआ-भगवान् की तरह पीठ पर मंदराचल की मथनी चलाकर समुद्र से नए-नए रत्न निकालने के लिए नहीं है। उसका कछुआपन ढाल के भीतर और भी सिकुड़कर घुस जाने के लिए है।

किसी बात का टोटा होने पर उसे पूरा करने की इच्छा होती है, दुःख होने पर उसे मिटाना चाहते हैं। यह स्वभाव है। अपनी-अपनी समझ है। संसार में त्रिविध दुःख दिखाई पड़ने लगे। उन्हें मिटाने के लिए उपाय भी किए जाने लगे। 'दृष्ट' उपाय हुए। उनसे संतोष न हुआ तो सुने सुनाए (आनुश्रविक) उपाय किए। उनसे भी मन न भरा। सांख्यों ने काठ कड़ी गिन-गिनकर उपाय निकाला, बुद्ध ने योग में पककर उपाय खोजा, किसी ने कहा कि बहस, बकझक, वाक्छल, बोली की चूक पकड़ने और कच्ची दलीलों की सीवन उधेड़ने में ही परम पुरुषार्थ है। यही शग़ल सही। किसी न किसी तरह कोई न कोई उपाय मिलता गया। कछुओं ने सोचा, चोर को क्या मारें, चोर की मा को ही न मारें। न रहे बांस न बजे बांसरी। यह जीवन ही तो सारे दुःखों की जड़ है। लगीं प्रार्थनाएं होने—

"मा देहि राम! जननीजठरे निवासम्" "ज्ञात्वेत्थं न पुनः स्पृशन्ति जननी-गर्भेऽर्भकत्वं जनाः"[1] और यह उस देश में जहां कि सूर्य का उदय होना इतना मनोहर था कि ऋषियों का यह कहते-कहते तालू सूखता था कि सौ बरस इसे हम उगता देखें, सौ बरस सुनें, सौ बरस बढ़-बढ़कर बोलें, सौ बरस अदीन होकर रहें—सौ बरस ही क्यों, सौ बरस से भी अधिक। भला जिस देश में बरस में दो ही महीने घूम-फिर सकते हों और समुद्र की मछलियां मारकर नमक लगाकर सुखाकर रखना पड़े कि दस महीने के शीत और अँधियारे में क्या खाएंगे, वहां जीवन से इतनी ग्लानि हो तो समझ में आ सकती है पर जहां राम के राज में 'अकृष्ट-पच्या पृथिवी पुटके पुटके मधु'[2] बिना खेती के फसलें पक जायँ और पत्ते-पत्ते में शहद मिले, वहां इतना वैराग्य क्यों?

हयग्रीव या हिरण्याक्ष दोनों में से किसी एक दैत्य से देव बहुत तंग थे। कवि कहता है—

१. "हे राम! जननी के गर्भ में निवास मत देना।"
"ऐसा ज्ञान होने पर जननी के गर्भ का स्पर्श मनुष्यों को नहीं करना पड़ता।"
२. बिना जोते-बोए धरती अन्न देती थी और पत्ते-पत्ते में शहद मिलता था।—सम्पादक

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती ॥

महाशय यों ही मौज से घूमने निकले हैं। सुरपुर में अफवाह पहुंची। बस, इंद्र ने झटपट किवाड़ वंद कर दिए, आगल डाल दी। मानो अमरावती ने आँखें वंद कर लीं।

यह कछुआ-धरम का भाई शुतुर्मुर्ग-धरम है। कहते हैं कि शुतुर्मुर्ग का पीछा कीजिए तो वह बालू में सिर छिपा लेता है। समझता है कि मेरी आंखों से पीछा करनेवाला नहीं दीखता तो उसे भी मैं नहीं दीखता। लंवा-चौड़ा शरीर चाहे बाहर रहे, आँखें और सिर तो छिपा लिया। कछुए ने हाथ-पांव-सिर भीतर डाल लिया।

इस लड़ाई में कम-से-कम पांच लाख हिन्दू आगे-पीछे समुद्र पर जा आए हैं। पर आज कोई पढ़ने के लिए विलायत जाने लगे तो हनोज़ रोज़ अव्वल अस्त! अभी पहिला ही दिन है! सिर रेत में छिपा है!!

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : दिसम्बर, १९१९ ई०]

मारेसि मोहिं कुठाऊँ

जब केकयी[1] ने दशरथ से यह वर मांगा कि राम को वनवास दे दो तब दशरथ तलमला उठे, कहने लगे कि चाहे मेरा सिर मांग ले, अभी दे दूंगा किन्तु मुझे राम के विरह से मत मार। गोसाईं तुलसीदास जी के भाव भरे शब्दों में राजा ने सिर धुनकर, लंबी सांस भरकर कहा कि 'मारेसि मोहि कुठाऊँ'—मुझे बुरी जगह पर घात किया। ठीक यही शिकायत हमारी आर्य समाज से है। आर्य समाज ने भी हमें कुठावँ मारा है, कुश्ती में बुरे पेच से चित पटका है।

हमारे यहां पूंजी शब्दों की है, जिससे हमें काम पड़ा, चाहे और बातों में हम ठगे गये पर हमारी शब्दों की गांठ नहीं कतरी गई। राज के और धन के गठकटे यहां कई आये पर शब्दों की चोरी (महाभारत के ऋषियों की कमल नाल की तांत की चोरी की तरह) किसी ने न की, यही नहीं, जो आया उससे हमने कुछ ले लिया।

पहले हमें काम असुरों से पड़ा, असीरिया वालों से। उनके यहां असुर शब्द बड़ी शान का था। असुर माने प्राण वाला, ज़बरदस्त। हमारे इन्द्र की भी यही उपाधि हुई, पीछे चाहे शब्द का अर्थ बुरा हो गया। फिर काम पड़ा पणियों से फिनीशियन व्यापारियों से। उनसे हमने पण् धातु पाया जिसका अर्थ लेन-देन करना, व्यापार करना है। एक पणि उनमें से ऋषि भी हो गया जो विश्वामित्र के दादा गाधि या गाधि की कुर्सी के बराबर जा बैठा। कहते हैं कि उसी का पोता पाणिनि था जो दुनिया को चकराने वाला सर्वांग-सुन्दर व्याकरण हमारे यहां बना गया। पारस के पर्श्वों या पारसियों से काम पड़ा तो वे अपने सूबेदारों की उपाधि क्षत्रप या क्षत्रपावन् या महाक्षत्रप हमारे यहां रख गये और गुस्तास्प, विस्तास्प के वज़न के कृश्वाश्व, श्यावाश्व, वृहदश्व आदि ऋषियों और राजाओं के नाम दे गये। यूनानी यवनों से काम पड़ा तो वे यवन की लिपि यवनानी शब्द हमारे व्याकरण के भेंट कर गये। साथ ही बाहर राशियां मेष, वृष, मिथुन आदि भी

१. कैकेयी

यहां पहुंचा गये। इन राशियों के ये नाम तो उनकी असली ग्रीक शकलों के नामों के संस्कृत तक में हैं, पुराने ग्रंथकार तो शुद्ध यूनानी नाम आर, तार, जितुम आदि काम में लेते थे। ज्योतिष में यवनसिद्धांत को आदर से स्थान मिला। वराहमिहिर की स्त्री रवना यवनी रही हो या न रही हो, उसने आदर से कहा है कि म्लेच्छ यवन भी ज्योतिःशास्त्र जानने से ऋषियों की तरह पूजे जाते हैं। अव चाहे वेल्यूपेवल सिस्टम भी वेद में निकाला जाय पर पुराने हिन्दू कृतघ्न और गुरुमार नहीं थे। सेल्यूकस निकेटर की कन्या चन्द्रगुप्त मौर्य के ज़नाने में आई, यवन राजदूतों ने विष्णु के मंदिरों में गरुड़ध्वज वनाये और यवन राजाओं की उपाधि सोटर त्रातार का रूप लेकर हमारे राजाओं के यहां आ लगी। गन्धार से न केवल दुर्योधन की मा गान्धारी आई, वालवाली भेड़ों का नाम आया। वल्ख़ से केसर और हींग का नाम वाल्हीक आया। घोड़ों के नाम पारसीक, काम्वोज, वनायुज, वाल्हीक आये। शक़ों के हमले हुए तो 'शाकपार्थिव' वैयाकरणों के हाथ लगा और शक संवत् या शाका सर्व साधारण के। हूण वंक्षु (Oxus) नदी के किनारे पर से यहां चढ़ आये तो कवियों को नारंगी की उपमा मिली कि ताजा मुड़े हुए हूण की ठुड्डी की-सी नारंगी। कलचुरि राजाओं को हूणों की कन्या मिली। पंजाव में वाहीक नामक जंगली जाति आ जमी तो वेवकूफ, वौड़म के अर्थ में (गौर्वाहीकः) महाविरा चल गया। हां, रोमवालों से कोरा व्यापार ही रहा पर रोमक सिद्धान्त ज्योतिष के कोश में आ गया। पारसी राज्य राज्य न रहा पर सोने के सिक्के निष्क और द्रम्म (दिरहम) और दीनार (डिनारियल) हमारे भंडार में आ गये। अरवों ने हमारे 'हिंद से' लिये तो ताजिक, मुथहा, इत्थशाल आदि दे भी गये। कश्मीरी कवियों को प्रेम के अर्थ में हेवाक दे गये। मुसलमान आये तो सुलतान का सुरत्राण, अमीर का हम्मीर मुगल का मुङ्गल मसजिद का मसीतिः कई शब्द आ गये। लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तान अब एक हो रहा है, हम कहते हैं कि पहले एक था अव विखर रहा है। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा वैज्ञानिक परिभाषा का कोष बनाती है उसी की नाक के नीचे वाबू लक्ष्मीचन्द वैज्ञानिक पुस्तकों में नई परिभाषा काम में लाते हैं, पिछवाड़े में प्रयाग की विज्ञान परिषद् और ही शब्द गढ़ती है। मुसलमान आये तो कौन सी वावू श्यामसुन्दर की कमिटी बैठी थी कि सुलतान को सुरत्राण कहो और मुग़ल को मुङ्गल ? तो भी कश्मीरी कवि या गुजराती कवि या राजपूताने के पण्डित सव सुरत्राण कहने लग गये। एकता तब थी कि अव ?

बौद्ध हमारे यहीं से निकले थे, उस समय के वे आर्यसमाजी ही थे, उन्होंने भी हमारे भंडार को भरा, हम तो देवानां प्रिय मूर्ख को कहा करते थे, उन्होंने पुण्यश्लोक धर्माशोक के साथ यह उपाधि लगाकर इसे पवित्र कर दिया हम

निर्वाण के माने दिये का बिना हवा के बुझना ही जानते थे, उन्होंने मोक्ष का अर्थ कर दिया, अवदान का अर्थ परम सात्विक दान भी उन्होंने किया।

वक़ौल शेक्सपीयर के जो मेरा धन छीनता है वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है, आर्यसमाज ने वह मर्मस्थल पर मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता, हमारी ऐसी चोटी पकड़ी है कि सिर नीचा कर दिया, औरों ने तो गांठ का कुछ न दिया, इन्होंने अच्छे-अच्छे शब्द छीन लिये इसीसे कहते हैं कि मारेसि मोहि कुठाऊँ, अच्छे-अच्छे पद तो यों सफाई से ले लिये हैं कि इस पुरानी जमी हुई दुकान का दिवाला निकल गया !! लेने के देने पड़ गये !!!

हम अपने आपको 'आर्य' नहीं कहते, 'हिंदू' कहते हैं, जैसे परशुराम के भय से क्षत्रियकुमार माता के लहँगों में छिपाये जाते थे वैसे विदेशी शब्द हिन्दू की शरण लेना पड़ती है और आर्यसमाज पुकार-पुकारकर जले पर नमक छिड़कता है कि हैं ! क्या करते हो ? हिन्दू माने काला, चोर, काफ़िर !! अरे भाई ! कहीं बसने भी दोगे ? हमारी मंडलियां भले 'सभा' कहलावें, 'समाज' नहीं कहला सकतीं ? न आर्य रहे न समाज रहा तो क्या अनार्य कहें और समज कहें (समज पशुओं का टोला होता है) ? हमारी सभाओं के पति या उपपति (गुस्ताख़ी माफ़, उपसभापति से मुराद है) हो जावें किंतु प्रधान या उपप्रधान नहीं कहा सकते ? हमारा धर्म वैदिकधर्म नहीं कहलायेगा, उसका नाम रह गया है — सनातन धर्म, हम हवन नहीं कर सकते, होम करते हैं, हमारे संस्कारों की विधि संस्कार विधि नहीं रही वह पद्धति (पैर पीटना) रह गई उनके समाज-मंदिर होते हैं, हमारे सभाभवन होते हैं। और तो क्या, 'नमस्ते' का वैदिक फ़िक़रा हाथ से गया— चाहे जय रामजी कह लो, चाहे, जय श्रीकृष्ण, नमस्ते मत कह बैठना। ओंकार बड़ा मांगलिक शब्द है, कहते हैं कि यह पहले पहल ब्रह्मा का कंठ फाड़कर निकला था। (प्रत्येक मंगल कार्य के आरंभ में हिंदू श्रीगणेशाय नमः कहते हैं। अभी इस बात का श्रीगणेश हुआ है—इस महावरे का अर्थ है कि अभी आरंभ हुआ है। एक वैश्य यजमान के यहां मृत्यु हो जाने पर पंडित जी गरुड़पुराण की कथा कहने गये। आरम्भ किया श्रीगणेशाय नमः। सेठ जी चिल्ला उठे—वाह महाराज हमारे यहां तो यह बीत रहा है और आप कहते हैं कि श्रीगणेशाय, नमः माफ़ करो। जब से चाल चल गई है कि गरुड़पुराण की कथा में श्रीगणेशायः नमः नहीं कहते श्रीकृष्णाय नमः कहते हैं) उसी तरह अब सनातनी हिंदुओं न बोल सकते हैं, न लिख सकते हैं, सन्ध्या या यज्ञ करने पर ज़ोर नहीं देते, श्रीमद्-भागवत की कथा या ब्राह्मण-भोजन पर संतोष करते हैं।

और तो और, आर्यसमाज ने तो हमें झूंठ बोलने पर लाचार किया, यों हम लिल्लाही झूंठ न बोलते पर क्या करें। इश्कबाज़ी और लड़ाई में सब कुछ

जायज़ है। हिरण्यगर्भ के माने सोने की कौंधनी पहने हुए कृष्णचंद्र करना पड़ता है, चत्वारि शृंगावाले मंत्र का अर्थ मुरली करना पड़ता है, 'अष्टवर्षोऽष्टवर्षो वा' में अष्ट च अष्ट च एक शेष करना पड़ता है, शतपथ ब्राह्मण के महावीर नामक कपालों को मूर्तियां बनाना पड़ता है। नाम तो रह गया हिंदू। तुम चिढ़ाते हो कि इसके माने होते हैं काला, चोर या काफ़िर। अब क्या करें? कभी तो इसकी व्युत्पत्ति करते हैं कि हि × इन्दु। कभी मेरु तंत्र का सहारा लेते हैं कि हीनं च दूषयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये।[1] यह उमामहेश्वर संवाद है, कभी सुभाषित के श्लोक 'हिंदवो विन्ध्यमाविशन्'[2] को पुराना कहते हैं और यह उड़ा जाते हैं कि उसी के पहले 'यवनैरवनिः कान्ता'[3] भी कहा है, कभी महाराज कश्मीर के पुस्तकालय में कालिदासरचित विक्रम महाकाव्य में 'हिन्दपति. पाल्यताम्' पद प्रथम श्लोक में मानना पड़ता है इसके लिए महाराज कश्मीर के पुस्तकालय की कल्पना कि जिसका सूचीपत्र डाक्टर स्टाइन ने बनाया हो, वहां पर कालिदास के कल्पित काव्य की कल्पना, कालिदास के विक्रम संवत् चलाने वाले विक्रम के यहां होने की कल्पना तथा यवनों से अस्पृष्ट (यवन माने मुसलमान! भला, यूनानी नहीं) समय में हिंदूपद के प्रयोग की कल्पना कितना दुःख तुम्हारे कारण उठाना पड़ता है!!

बाबा दयानंद ने चरक के एक प्रसिद्ध श्लोक का हवाला दिया कि सोलह वर्ष से कम अवस्था की स्त्री में पचीस वर्ष से कम पुरुष का गर्भ रहे तो या तो वह गर्भ में ही मर जाय, या चिरजीवी न हो, या दुर्बलेन्द्रिय होकर जीवे। हम समझ गये कि यह हमारे बालिका-विवाह की जड़ कटी—नहीं, बालिकारभस पर कुठार चला। अब क्या करें। चरक कोई धर्मग्रंथ तो है नहीं कि जोड़ की दूसरी स्मृति में से दूसरा वाक्य तुर्की-बतुर्की जवाब में दे दिया जाय। धर्मग्रंथ नहीं है, आयुर्वेद का ग्रंथ है इसलिए उसके चिरकाल न जीने या दुर्बलेन्द्रिय होकर जीने की बात का मान भी कुछ अधिक हुआ। यों चाहे मान भी लेते—और व्यवहार में मानते ही हैं—पर बाबा दयानन्द ने कहा तो उसकी तरदीद होनी चाहिए। एक मुरादावादी पंडित जी लिखते हैं कि हमारे पड़दादा के पुस्तकालय में जो चरक की पोथी है उसमें पाठ है—

ऊन द्वादशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।[4]

लीजिए चरक तो बारह वर्ष पर ही 'एज ऑफ कन्सेंट बिल' देता है, बाबा

१. हे प्रिये! जो हीनता-नीचता से द्वेष करे, वही हिन्दू है।
२. हिन्दू विंध्य पर्वत में घुस आए।
३. यवनों द्वारा पृथ्वी आक्रांत हुई।
४. बारह वर्ष से कम की कन्या और पच्चीस से कम का वर। —सम्पादक

जी क्यों सोलह कहते हैं ? चरक की छपी पोथियों में कहीं यह पाठ न मूल में है, न पाठान्तरों में । न हुआ करे—हमारे पड़दादा की पोथी में तो है !

इसीलिए आर्यसमाज से कहते हैं कि 'मारेसि मोहि कुठाऊँ' ।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : सितम्बर, १६२० ई०]

देवकुल

'हर्षचरित' के आरंभ में महाकवि बाण ने भास के विषय में यह श्लोक लिखा है—

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥

अर्थात् जैसे कोई पुण्यात्मा देवकुल (देवालय) बनाकर यश पाता है वैसे भास ने नाटकों से यश पाया। देवकुलों का आरंभ सूत्रधार (राजमिस्त्री) करते हैं, भास के नाटकों में भी नांदी रंगमंच पर नहीं होती, पर्दे की ओट में ही हो जाती है।

नाटक का आरंभ 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्राधारः', नांदी के पीछे सूत्रधार ही आकर करता है। मंदिरों में कई भूमिकाएं (खंड या चौक) होते हैं, भास के नाटकों में भी कई भूमिकाएं (पार्ट) हैं। मंदिरों पर पताकाएं (ध्वजाएं) होती हैं, इन नाटकों में भी पताका (नाटक का एक अंग) होती हैं। यों देवकुल सदृश नाटकों से भास ने यश पाया था। किंतु आधुनिक ऐतिहासिक खोज में यह एक बात और निकली कि भास ने 'देवकुल' से ही यश पाया।

महामहोपाध्याय पंडित गणपति शास्त्री के अध्यवसाय से ट्रावंकोर में भास के कई नाटक उपलब्ध हुए हैं। वे त्रिवेंद्रम संस्कृत ग्रंथमाला में छपे हैं। उनमें एक प्रतिमानाटक भी है। उसका नाम ही प्रतिमा यों रखा गया है कि कथानक का विकास प्रतिमाओं से होता है। नाटक रामचरित के बारे में है। भरत ननिहाल केकय देश में गया है। शत्रुघ्न साथ नहीं गया है, इधर अयोध्या में ही है। भरत को वर्षों से अयोध्या का परिचय नहीं। पीछे केकयी ने वर मांगे, राम वन चले गए, दशरथ ने प्राण दे दिए। मंत्रियों के बुलाने पर भरत अयोध्या को लौटा आ रहा है। इधर अयोध्या के बाहर एक दशरथ का प्रतिमागृह, देवकुल, बना हुआ

है। इतना ऊंचा है कि महलों में भी इतनी ऊंचाई नहीं पाई जाती।[1] यहां राम वनवास के शोक से स्वर्गगत दशरथ की नई स्थापित प्रतिमा को देखने के लिए रानियां अभी आने वाली हैं। आर्य संभव की आज्ञा से वहां पर एक सुधाकर (सफेदी करनेवाला) सफाई कर रहा है। कबूतरों के घोंसले और बीट, जो तब से अब तक मंदिरों को सिंगारते आए हैं, गर्भगृह (जगमोहन) में से हटा दिए गए हैं। दीवालों पर सफेदी और चंदन के हाथों के छापे (पंचांगुल) दे दिए गए हैं।[2] दरवाजों पर मालाएं चढ़ा दी गई हैं। नई रेत बिछा दी गई है। तो भी सुधाकर काम से निबटकर सो जाने के कारण सिपाही के हाथ से पिट जाता है। अस्तु। भरत अयोध्या के पास आ पहुंचा। उसे पिता की मृत्यु, माता के षड्यंत्र और भाई के बनवास का पता नहीं। एक सिपाही ने सामने आकर कहा कि अभी कृत्तिका एक घड़ी बाकी है, रोहिणी में पुरप्रवेश कीजिएगा। ऐसी उपाध्यायों की आज्ञा है। भरत ने घोड़े खुलवा दिए और वृक्षों में दिखाई देते हुए देवकुल में विश्राम के लिए प्रवेश किया। वहां की सजावट देखकर भरत सोचता है कि किसी विशेष पर्व के कारण यह आयोजन किया गया है या प्रतिदिन की आस्तिकता है? यह किस देवता का मंदिर है? कोई आयुध, ध्वज या घंटा आदि बाहरी चिह्न तो नहीं दिखाई देता। भीतर जाकर प्रतिमाओं के शिल्प की उत्त्तष्टता देखकर भरत चकित हो जाता है। वाह, पत्थरों में कैसा क्रियामाधुर्य है। आकृतियों में कैसे भाव झलकाए गए हैं। प्रतिमाएं बनाई तो देवताओं के लिए हैं, किंतु मनुष्य को धोखा देती हैं। क्या यह कोई चार देवताओं का संघ है?[3] यों सोचकर भरत प्रमाण करना चाहता है, किंतु सोचता है, कि देवता हैं, चाहे जो हों, सिर झुकाना तो उचित है किंतु बिना मंत्र और पूजाविधि के प्रमाण करना शूद्रों का-सा प्रणाम होगा। इतने ही में देवकुलिक (पुजारी) चौंककर आता है कि मैं नित्यकर्म से निबटकर प्राणिधर्म कर रहा था कि इतने में यह कौन घुस आया कि जिसमें और प्रतिमाओं में बहुत कम अंतर है? वह भरत को प्रणाम करने से रोकता है। इस देवकुल में आने-जाने की रुकावट न थी, न कोई

१. इदं गृहं तत्प्रतिमा नृपस्य नः समुच्छ्रयो यस्य स हर्म्यदुर्लभः।
२. आजकल भी चंदन के पूरे पंजे के चिह्न मांगलिक माने जाते हैं और त्योहारों तथा उत्सवों पर दरवाजों और दीवारों पर लगाए जाते हैं। जब सतियां सहमरण के लिए निकलती थीं तब अपने किले के द्वार पर अपने हाथ का छापा लगा जाया करती थीं। वह छापा खोदकर पत्थर पर उसका चिह्न बनाया जाता था। बीकानेर के किले के द्वार पर ऐसे कई हस्तचिह्न हैं। मुगल बादशाहों के परवानों और खास रुक्कों पर बादशाह के हाथ का पंजा होता था जो अंगूठे के निशान की तरह स्वीकार का बोधक था।
३. अहो क्रियामाधुर्यं पाषाणानाम्। अहो भावगतिराकृतिनाम्। दैवतोद्दिष्टानामपि मानुषविश्वासतासां प्रतिमानाम्। किन्नु खलु चतुर्दैवतोऽयं स्तोमः?

पहरा था। पथिक बिना प्रणाम किए ही यहां सिर झुका जाते थे।[1] भरत चौंक-कर पूछता है कि क्या मुझसे कुछ कहना है? या किसी अपने से बड़े की प्रतीक्षा कर रहे हो, जिससे मुझे रोकते हो? या नियम से परवश हो? मुझे क्यों कर्त्तव्य-धर्म से रोकते हो? वह उत्तर देता है कि आप शायद ब्राह्मण हैं, इन्हें देवता जान-कर प्रणाम मत कर बैठना, ये क्षत्रिय हैं, इक्ष्वाकु हैं। भरत के पूछने पर पुजारी परिचय देने लगता है और भरत प्रणाम करता जाता है। यह विश्वजित् यज्ञ का करने वाला दिलीप है जिसने धर्म का दीपक जलाया था।[2] यह रघु है जिसके उठते-बैठते हजारों ब्राह्मण पुण्याह शब्द से दिशाओं को गुंजा देते थे। यह अज है जिसने प्रियावियोग से राज्य छोड़ दिया था और जिसके रजोगुणोद्भव दोष नित्य अवभृथ स्नान से शांत होते थे। अब भरत का माथा ठनका। इस ढंग से चौथी प्रतिमा उसीके पिता की होनी चाहिए। निश्चय के लिये वह फिर तीनों प्रतिमाओं के नाम पूछता है। वही उत्तर मिलता है। देवकुलिक से कहता है कि क्या जीते हुओं की भी प्रतिमा बनाई जाती है? वह उत्तर देता है कि नहीं, केवल मरे हुए राजाओं की। भरत सत्य को जानकर अपने हृदय की वेदना छिपाने के लिए देवकुलिक से विदा होकर बाहर जाने लगता है किंतु वह रोक-कर पूछता है कि जिसने स्त्रीशुल्क के लिये प्राण और राज्य छोड़ दिए उस दशरथ की प्रतिमा का हाल तू क्यों नहीं पूछता? भरत को मूर्च्छा आ जाती है। देव-कुलिक उसका परिचय पाकर सारी कथा कहता है। भरत फिर मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है। इतने में रानियां आ जाती हैं। हटो बचो की आवाज होती है। सुमंत्र किसी अनजाने बटोही को वहां पड़ा समझकर रानियों को भीतर जाने से रोकता है। देवकुलिक कहता है कि बेखटके चली आओ, यह तो भरत है।[3] प्रतिमाएं इतनी अच्छी बनी हुई थीं कि भरत की आवाज सुनकर सुमंत्र के मुंह

१. अयंत्वितैरप्रतिहारकागतैर्विना प्रणामं पथिकैरुपास्यते।

२. विश्वजित् यज्ञ का विशेषण 'सन्निहितसर्वरत्न' दिया है। इसका सीधा अर्थ तो यह है कि जहां ऋत्विजों को दक्षिणा देने के लिए सब रत्न उपस्थित थे (कालिदास का 'सर्वस्वदक्षिणम्')। दूसरा अर्थ यह भी है कि राजा के रत्न—प्रजा प्रतिनिधि—सब वहां उपस्थित थे अर्थात् सारी प्रजा की प्रतिनिधिलब्ध सहानुभूति से यज्ञ हुआ था। राजसूय प्रकरण में उन प्रजा के प्रधान रत्नों का उल्लेख है जिनके यहां राजा जाकर यज्ञ करता और तुहफे देता। यह राजसूय का पूर्वांग है। (दे० : गुलेरी ग्रंथ में पृष्ठ ५४-८३, —संपा०)

३. भास के समय में पर्दा कुछ था, आजकल के राजपूतों का-सा नहीं। प्रतिमानाटक में जब सीता राम के साथ वन को चलती हैं तब लक्ष्मण तो रीति के अनुसार हटाओ, हटाओ की आवाज लगाता है किंतु राम उसे रोककर सीता को घूंघट अलग करने की आज्ञा देता है और पुरवासियों को सुनाता है—

सर्वे हि पश्यन्तु कलत्रमेतद् वाष्पाकुलाक्षैर्वदनैर्भवन्तः।
निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च॥

से निकल जाता है कि मानो महाराज (दशरथ) ही प्रतिमा में से बोल रहे हैं। और उसे मूर्च्छित पड़ा हुआ देखकर सुमंत्र वयःस्थ पार्थिव (जवानी के दिनों का दशरथ) समझता है। आगे भरत, सुमंत्र और विधवा रानियों की बातचीत होती है। बड़ा ही अद्भुत तथा करुण दृश्य है।

इससे पता चलता है कि भास के समय में देवमंदिरों (देवकुलों) के अतिरिक्त राजाओं के देवकुल भी होते थे जहां मरे हुए राजाओं की जीवित-सदृश प्रतिमाएं रखी जाती थीं। एक वंश या राजकुल का एक ही देवकुल होता था जहां राजाओं की मूर्तियां पीढ़ीवार रखी होती थीं। ये देवकुल नगर के बाहर वृक्षों से घिरे हुए होते थे। देवमंदिरों से विपरीत इनमें झंडे, आयुध, ध्वजाएं या कोई बाहरी चिह्न न होता था, न दरवाजे पर रुकावट या पहरा होता था। आने वाले बिना प्रणाम किए इन प्रतिमाओं की ओर आदर दिखाते थे। कभी-कभी वहां सफाई और सजावट होती थी तथा एक देवकुलिक रहता था। देवकुलिक के वर्णन से संदेह होता है कि प्रतिमाओं पर लेख नहीं होते थे, किंतु लेख होने पर भी पुजारी और मुजाविर वर्णन करते ही हैं। अथवा कवि ने राजाओं के नाम और यश कहलवाने का यही उपाय सोचा हो।

भास के इक्ष्वाकुवंश के देवकुल के वर्णन में एक शंका होती है। क्या चारों प्रतिमाएं दशरथ के मरने पर बनाई गई थीं, या दशरथ के पहले के राजाओं की प्रतिमाएं वहां यथासमय विद्यमान थीं, दशरथ की ही नई पधराई गई थी? चाहिए तो ऐसा कि तीन प्रतिमाएं पहले थीं, दशरथ की अभी बनकर रखी गई थी, किंतु सुमंत्र के यह कहने से कि 'इदं गृहं तत् प्रतिमानृपस्य नः' और भट के इस कथन से कि 'भट्टिणो दसरहस्स पडिमागेहं देट्ठुं' यह धोखा होता है कि प्रतिमागृह दशरथ ही के लिए बनवाया गया था, और प्रतिमाएं वहां उसके अनुषंग से रखी गई थीं। माना कि भरत बहुत समय से केकय देश में था, वह अपनी अनुपस्थिति में स्थापित दशरथ की प्रतिमा को देखकर अचरज करता, किंतु वह तो इक्ष्वाकुओं के देवकुल, उसकी तीन प्रतिमा, उसके स्थान, चिह्न और उपचार व्यवहार तक से अपरिचित था। क्या उसने कभी इस इक्ष्वाकु-कुल समाधि-मंदिर के दर्शन नहीं किए थे, या इसका होना ही उसे विदित न था? बातचीत से वह इस मंदिर से अनभिज्ञ, उसकी रीतियों से अनजान दिखाई पड़ता है। सारा दृश्य ही उसके लिए नया है। क्या ही अच्छा संविधानक होता यदि परिचित देवकुल में भरत अपने 'पितुः प्रपितामहान्' का दर्शन करने जाता, वहां पर चिरदृष्ट तीन की जगह चार प्रतिमाओं को देखकर अपनी अनुपस्थिति की घटनाओं को जान लेता। इसका समाधान यह हो सकता है कि भास का भरत बहुत ही छोटी अवस्था में अयोध्या से चला गया हो और वहां के दर्शनीय स्थानों से अपरिचित हो। या कोई ऐसा संप्रदाय होगा कि पिता के जीते जी राजकुमार देवकुल में

नहीं जाया करते हों। राजपूताने में अब भी कई जीवत्पितृक मनुष्य श्मशान में अथवा शोक-सहानुभूति (मातमपुर्सी) में नहीं जाते। राजवंश के लोग नई प्रतिमा के आने पर ही देवकुल में आवें ऐसी कोई रूढ़ि भी हो सकती है। अस्तु।

भास का समय अभी निश्चित नहीं हुआ। पंडित गणपति शास्त्री उसे ईसवी पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी का, अर्थात् कौटिल्य चाणक्य से पहले का, मानते हैं।[1] जायसवाल महाशय उसे ईसवी पूर्व पहली शताब्दी का मानते हैं। प्रतिमानाटक में भास यह देवकुल का प्लॉट कहां से लाया? सुबंधु ने वासवदत्ता में पाटलिपुत्र को अदिति के पेट की तरह 'अनेक देवकुलों से पूरित' लिखा है[2] यहां देवकुल में देवताओं के परिवार और देवमंदिर का श्लेष है। क्या यह संभव है कि भास ने पाटलिपुत्र का शैशुनाक देवकुल देखा हो और वहां की सजीव सदृश प्रतिमाओं से प्रतिमानाटक का नाम तथा कथावस्तु चुना हो! इक्ष्वाकुओं के देवकुल के चतु-

१. पं० गणपति शास्त्री ने पाणिनि-विरुद्ध बहुतसे प्रयोगों को देखकर भास को पाणिनि के पहले का भी माना था। कौटिल्य से पहले का मानने में मान एक श्लोक है जो 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटक तथा 'अर्थशास्त्र' दोनों में हैं। अर्थशास्त्र में भास के नाटक से उसे उद्धृत मानने के लिए उतना ही प्रमाण है जितना भास के नाटक में उसके अर्थशास्त्र से उद्धृत होने का। दूसरा मान प्रतिमानाटक में बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र का उल्लेख है, कौटिल्य का नहीं। किंतु यह कवि की अपने पात्रों की प्राचीनता दिखाने की कुशलता हो सकती है। मैंने इंडियन एंटिक्वेरी (जिल्द ४२, सन् १९१३, पृ० ५२) में दिखाया था कि पृथ्वीराज विजय के कर्त्ता जयानक और उसके टीकाकार जोनराज के समय तक यह साहित्यिक प्रवाद था कि भास और व्यास समकालीन थे। उनकी काव्यविषयक स्पर्धा की परीक्षा के लिए भास का ग्रंथ विष्णुधर्म व्यास के किसी काव्य के साथ-साथ अग्नि में डाला गया तो अग्नि ने उसे उत्कृष्ट समझकर नहीं जलाया। पंडित गणपति शास्त्री ने विना मेरा नाम उल्लेख किए पृथ्वीराजविजय तथा उसकी टीका के अवतरण के भाव को यों कहकर उड़ाना चाहा है कि 'विष्णुधर्मान्' कर्म का बहुवचन काव्य का नाम नहीं, किंतु 'विष्णुधर्मात्' हेतु की पंचमी का एकवचन है कि अग्नि मध्यस्थ था, परीक्षक था, विष्णु के स्थानापन्न था, उसने विष्णुधर्म से भास के काव्य को नहीं जलाया। विष्णु को यहां घुसेड़ने की क्या आवश्यकता थी? मैं अब भी मानता हूं कि भास-कृत विष्णुधर्म नामक ग्रंथ व्यास (?) कृत विष्णुधर्मोत्तर पुराण के जोड़ का हो सकता है तथा भास-व्यास की समकालिकता का प्रवाद अधिक विचार चाहता है। महाभारत के टीकाकार नीलकंठ ने आरंभ ही में 'जय' शब्द का अर्थ करते हुए पुराणों से 'विष्णुधर्माः' को अलग ग्रंथ गिना है। यहां भी बहुवचन प्रयोग ध्यान देने योग्य है। नीलकंठ के श्लोक ये हैं—

अष्टादश पुराणानि रामस्य चरितं तथा।
कार्ष्णं वेदं पञ्चमं च यन्महाभारतं विदुः॥
तथैव विष्णुधर्माश्च शिवधर्माश्च शाश्वताः।
जयेति नाम तेषां च प्रवदन्ति मनीषिणः॥

२. अदितिजठरमिवानेकदेवकुलाध्यासितम्।

दैंवत स्तोम[1] की ओर लक्ष्य दीजिए। पाटलिपुत्र के स्थापन से नवनंदों द्वारा शैशुनाकों का उच्छेद होने तक पांच शैशुनाक राजा हुए। उनमें से अंतिम राजा की तो राज्यापहारी नंद (महापद्म) ने काहे को प्रतिमा खड़ी की होगी। अतएव शैशुनाक देवकुल में भी चार ही प्रतिमाएं होंगी। इस चतुर्दैवत स्तोम में से अज, उदयिन् तथा नंदिवर्धन की प्रतिमाएं तो इंडियन म्यूजियम में हैं। तीसरी को हाकिंस ले गया। चौथी अगम कुएं के पास पुजती हुई कनिंगहम ने देखी थी। संभव है कि इनका भी पता चल जाय।

परखम की मूर्ति भी संभव है कि राजगृह के शैशुनाकों के राजकुल की हो। यह हो सकता है कि वह किसी बड़ी भारी विजय या अवदान के[2] स्मरण में परखम में ही खड़ी की गई हो। किंतु यह भी असंभव नहीं कि राजगृह से वहां पहुंची हो। मूर्तियों के बहुत दूर-दूर तक चले जाने के प्रमाण मिले हैं। जीतकर मूर्तियों का ले आना विजय की प्रशस्तियों में बड़े गौरव से उल्लिखित किया गया मिलता है। दिल्ली तथा प्रयाग के अशोकस्तंभ भी जहां आजकल हैं, वहां पहले न थे। वड़े परिश्रम से तथा युक्तियों से उठवाकर पहुंचाए गए हैं।

१. यह ध्यान देने की बात है कि इक्ष्वाकु-कुल में दिलीप, रघु, अज और दशरथ—ये चार नाम लगातार या तो भास में मिले हैं या कालिदास के रघुवंश में। दशरथ को अज का पुत्र तो वायु, विष्णु और भागवत पुराण तथा रामायण, सब मानते हैं। कुमारदास के जानकीहरण और अश्वघोष के बुद्धचरित में भी ऐसा है। वायुपुराण की वंशावली में दिलीप और रघु के बीच में एक राजा और है, फिर रघु, अज, दशरथ हैं। भागवत में दिलीप और रघु के बीच में १५ राजाओं और रघु और अज के बीच में पृथुश्रवा का नाम है। विष्णुपुराण में दिलीप और रघु के बीच में १७ नाम हैं, फिर रघु, अज, दशरथ हैं। वाल्मीकि रामायण में दिलीप और रघु के बीच में दो पुरुष हैं, रघु और अज के बीच में १२ नाम हैं। भास और कालिदास दोनों किसी और नाराशंसी या पौणाणिक गाथा पर चले हैं। चमत्कार यह है कि दोनों महाकवि एक ही वंशावली को मानते हैं।

२. लोकोत्तर सात्त्विक दान को अवदान कहते हैं। बुद्ध के अवदान प्रसिद्ध हैं। अवदान का संस्कृत रूप अपदान है। काश्मीरी कवि इसका प्रयोग करते हैं। आबू में प्रसिद्ध वस्तुपाल तेजपाल के मंदिर के सामने दोनों भाइयों तथा उनकी स्त्रियों की प्रतिमाएं हैं। विमलशाह के मंदिर में भी स्थापक की प्रतिमा है। राजपूताना म्यूजियम, अजमेर में राजपूत-दंपति की मूर्तियां हैं जो उनके संस्थापित मंदिर के द्वार थीं। पृथ्वीराजविजय में लिखा है कि सोमेश्वर (पृथ्वीराज के पिता) ने वैद्यनाथ का मंदिर बनाया और वहां पर अपने पिता (अर्णोराज) की घोड़े-चढ़ी मूर्ति रीति धातु की बनवाई। इससे आगे का श्लोक नष्ट हो गया है किंतु टीका से उसका अर्थ जाना जाता है कि पिता के सामने उसने अपनी मूर्ति भी उसी धातु की बनवाई थी (दत्तेहरिहयेनेव शुद्धरीतिमये हरौ। प्रकृतिं लम्भितस्तत्र शुद्धरीतिमयः पिता ॥८।६६॥ पितुः रीतिमयस्य रीतिवाहारूढस्य प्रतिष्ठापितस्याग्रे रीतिमयं स्वात्मानं प्रतिष्ठाप्य राजा स सर्गं द्विधा रीतिमयं कविरिवाकरोत् ॥)। यों वैद्यनाथ का मंदिर चौहानों का देवकुल हुआ।

नानाघाट की गुफा में पहले सातवाहनवंशी राजाओं की कई पीढ़ियों की मूर्तियां हैं। वह सातवाहनों का देवकुल है। मथुरा के पास शक (कुशन) वंशी राजाओं के देवकुल का पता चला है। कनिष्क की मूर्ति खड़ी और बहुत बड़ी है। उसके पिता वेम कैडफेसस की प्रतिमा बैठी हुई है। इसपर के लेख में 'देवकुल' शब्द इसी रूढ़ अर्थ में आया है। इस राजा को लेख में 'कुशनपुत्र' कहा है। वहीं पर एक और प्रतिमा के खंड मिले हैं। यह कनिष्क के पुत्र की होगी। तीसरी मूर्ति पर के लेख को फोजल ने 'मस्टन' पढ़ा था, किंतु बाबू विनयतोष भट्टाचार्य ने उसे 'शस्तन' पढ़कर सिद्ध किया है कि यह 'चश्तन' नामक राजा की मूर्ति है। यह टालमी नामक ग्रीक भूगोलवेत्ता का समसामयिक था, क्योंकि उसने 'टियांतनीस' की राजधानी उज्जैन का उल्लेख किया है। चश्तन भी शक होना चाहिए, वह कनिष्क का पुत्र हो, या निकट संबंधी हो। अतएव कनिष्क का समय ईसवी सन् ७० से सन् १३० के बीच होना चाहिए, ईसवी पूर्व की पहली शताब्दी नहीं।

भास के लेख तथा शैशुनाक, सातवाहन और कुशन राजाओं के देवकुलों के मिलने से प्रतीत होता है कि राजवंशों में मृत राजाओं की मूर्तियों को एक देवकुल में रखने की रीति थी।

देवपूजा का पितृपूजा से बड़ा संबंध है। देवपूजा पितृपूजा से ही चली है। मंदिर के लिए सबसे पुराना नाम चैत्य है, जिसका अर्थ चिता (दाहस्थान) पर बना हुआ स्मारक है। 'शतपथ ब्राह्मण' में उल्लेख है कि शरीर को भस्म करके धातुओं में हिरण्य का टुकड़ा मिलाकर उन पर स्तूप का चयन (चुनना) किया जाता था। बुद्ध के शरीर-धातुओं के विभाग तथा उन पर स्थान-स्थान पर स्तूप बनने की कथा प्रसिद्ध ही है। बौद्धों तथा जैनों के स्तूप और चैत्य पहले स्मारक-चिह्न थे, फिर पूज्य हो गए।

देवकुल शब्द का बड़ा इतिहास है। मंदिर को राजपूताने में 'देवल' कहते हैं, छोटी मढ़ी को 'देवली' कहते हैं। समाधि-स्तंभों को भी 'देवली', 'देउली' या 'देवल' कहते हैं। शिलालेखों में मंदिरों को 'देवकुल' कहा है, सतियों तथा वीरों के स्मारक-चिह्नों को भी 'देवल' या 'देवली' कहा है। देवली का संस्कृत देवकुली या देवकुलिका लेखों में मिलता है। पुजारी को 'देवलक' कहते हैं, लेखों में 'देवकुलिक' मिलता है। सती माता का देवल, सती की देउली यह अब तक यहां व्यवहार है। बंगाल में ऊंचे शिखर के छोटे मंदिर को 'देवली' कहते हैं। राजपूताने में मंदिर के अंदर छोटे मंदिर को भी 'देवली' कहते हैं। पंजाबी में वह लकड़ी का सिंहासन जिसमें गृहस्थों के ठाकुर जी रखे जाते हैं, 'देहरा' कहलाता है। ग्राम तथा नगरों के नाम में देहरा पद भी उनके देवस्थान होने का सूचक है। जैसे प्राकृत देवल का संस्कृत रूप देवकुल लेखों में आता था, वैसे राजाओं की उपाधि रावल का संस्कृत रूप राजकुल मिलता है। राजकुल का अर्थ 'राज-

वंश्य' है। मेवाड़ के राजाओं की रावल शाखा प्रसिद्ध है। उनके लेखों में 'महाराजकुल अमुक' ऐसा मिलता है। पंजाबी पहाड़ी में सती के स्मारक-चिह्न को देहरी तथा सतियों को समष्टि में 'देहरी' कहते हैं।[1] यों देवकुल पद देवमंदिर का वाचक भी है, तथा मनुष्यों के स्मारक चिह्न का भी।[2]

सतियों तथा वीरों की देउलियां वहीं पर बनती हैं जहां उन्होंने देहत्याग किया हो। साँभर के पास देवयानी के तालाब पर एक घोड़े की देवली है जो लड़ाई में काम आया था।[3]

रजवाड़ों में राजाओं की छतरियां या समाधि-स्मारक बनते हैं। उनमें सुंदर विशाल चारों ओर से खुले मकान बनाए जाते हैं। कहीं-कहीं उनमें शिवलिंग स्थापन कर दिया जाता है, कहीं अखंड दीपक जलता है, कहीं चरण-पादुका होती हैं, कहीं मूर्ति तथा लेख होते हैं, परंतु कई योंही छोड़ दी जाती हैं। जोधपुर के राजाओं की छतरियां शहर से बाहर मंडोर के किले के पास हैं। जयपुर के राजाओं में जितने आमेर में थे उनके श्मशानों पर उनकी छतरियां आमेर में हैं, जो जयपुर बसने के पीछे प्रयात हुए उनकी गेटोर में शहर के बाहर हैं। महाराजा ईश्वरीसिंह जी का दाहकर्म महलों में ही हुआ था, इसलिए उनकी छतरी महलों के भीतर ही है। डूंगरपुर में वर्तमान महारावल के पितामह की छतरी में

१. सतियों के लिए 'महासती' पद का व्यवहार सारे देश में मिलने से देश की एकता का अद्भुत प्रमाण मिलता है। मेवाड़ के महाराणाओं की सतियों के समाधिस्थान को 'महासती' कहते हैं, जैसे, 'दरबार महासत्यां दरसण करण ने पधार्या है'। मैसूर के पुरातत्त्वविभाग की रिपोर्ट से जाना जाता है कि वहां पर सतीस्तंभ 'महासतीकल' कहे जाते हैं। विपरीतलक्षणा से पंजाबी पहाड़ी में 'महासती' या 'म्हास्ती' दुराचारिणी स्त्री के लिए गाली का पद हो गया है। पति के लिए सहमरण करने वाली स्त्रियों को ही 'सती' कहते हैं, किंतु कई देवलियां पोतासतियों की भी मिली हैं जो दादियां अपने पोते के दुःख से सती हुईं।

२. कोयम्बतूर जिले (मद्रास) में कुछ पुरानी समाधियां हैं। वे 'पांडुकुल' कहलाती हैं। यह भी देवकुल का स्मरण है। ऐतिहासिक अंधकार के दिनों में जो पुरानी तथा विशाल चीज दिखाई दी वही पांडवों के नाम थोप दी जाती थी, कहीं भीमसेन की कूंडी, कहीं पांडवों की रसोई। दिल्ली के पास विष्णुगिरि पर विष्णुपद का चिह्न (बहुत बड़ा चरण) है। उसे कई साहसी लोग भीमसेन के पाँव की नाप मानते ही नहीं, सिद्ध भी करना चाहते हैं। बहुत से विष्णुपद मिले हैं, सभी इस हिसाब से भीमसेन के पैर के चिह्न होने चाहिएं।

३. लेख के ऊपर कमल और सजे हुए घोड़े की मूर्ति है। नीचे यह लेख है—॥१ श्रीराम जी (१) राजश्री नवाब मुकतार दौला बहादुरजी के मैं सन् १२२७; (२) संवत् १८६८ मिती वैसाख वदि ७ सोमवार के रोज जो बने; (३) र पै झगरा भयो तामैं पं० श्रीलाला जवाहर सींघजी को; (४) घोड़ा सुरंग काम आयो ताकी देवली सांभर मैं श्रीदेउदा; (५) तीजी के ऊपर बनाई कारीगर बुआजबपस गजधर नै बना; (६) ई ॥

उनकी प्रतिमा सजीव सदृश है। बीकानेर के पहले दो-तीन राजाओं की छतरियां तो शहर के मध्य में लक्ष्मीनारायण के मंदिर के पास हैं, कुछ पुराने राजाओं की छतरियाँ लाल पत्थर के एक छोटे अहाते में हैं, बाकी राजाओं की छतरियां एक विशाल दीवाल से घिरे अहाते में क्रम से बनी हुई हैं। प्रत्येक पर चरणपादुका हैं जहां प्रतिदिन पूजा होती है। प्रत्येक पर मूर्ति है जिसमें राजा घोड़े पर सवार बनाया हुआ है। जितनी रानियां उसके साथ सती हुईं उनकी भी मूर्तियां उसी पत्थर पर बनी हुई हैं। शिलालेख प्रत्येक पर है जिसमें विक्रम संवत्, शक संवत्, मास, तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण, सूर्योदय घटी आदि प्रयाण के दिन का पूरा पंचांग दिया है। वहीं सहमरण करनेवाली रानियों, दासियों आदि की संख्या लिखी है। किसी में पाचक, पुरोहित, सेवक या घोड़े के सहमरण का भी उल्लेख है। पास में देवीकुंड होने से यह स्थान भी 'देवीकुंड' कहलाता है।[1] यहां के पुजारी शाकद्वीपी ब्राह्मण (सेवग, भोजक, या मग) हैं। ऐसे ही धर्माचार्यों, ठाकुरों, धनियों आदि के भी समाधि-स्मारक स्थान होते हैं।

इन देउलियों और छतरियों तथा भास-वर्णित इक्ष्वाकुओं के या शैशुनाक और कुशनों के देवकुलों में यह भेद है कि देउली या छतरी सती या राजा के दाहस्थल पर बनती तथा एक ही की स्मारक होती; देवकुल श्मशान में नहीं होते थे। उनमें एक ही भवन में एक वंश के कई राजाओं की मूर्तियां वंशक्रम के अनुसार रखी जाती थीं। छतरियों के शिल्प और निवेश में मुसलमानी रोजों और मकबरों का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है, देवकुल की चाल प्राचीन थी।

पंजाब के कांगड़ा जिले के पहाड़ी प्रांत में, जो राजमार्गों से विदूर तथा मुसलमानी विजेताओं तथा प्रभावों से तटस्थ रहा, अब तक देवकुल की रीति चली जाती है। वहां प्रत्येक ग्राम के पास जलाशय पर मरे हुओं की मूर्तियां रखी जाती हैं। मेरे ग्राम गुलेर के देवकुल का वर्णन सुन लीजिए। गुलेर बहुत ही पुराना ग्राम है। कटोचवंश की बड़ी शाखा की राजधानी वह हुआ, छोटा वंश कांगड़े में राज्य करता रहा। श्मशान तो नदी के तीर पर हैं जहां पर कई कुलों की सतियों की 'देहरियां' हैं। गांव के बाहर, श्मशान से पौन मील इधर, बछूहा (वत्स+खूहा=वत्सकूप) नामक जलाशय है जिस पर वत्सेश्वर महादेव हैं। उसके पुजारी रौलु (रावल) नामक ब्राह्मण (?) होते हैं जो मृतक के वस्त्रों के अधिकारी हैं। वत्सकूप तथा महादेव के मंदिर के पूर्व एक तिबारा-सा है। छत गिर गई है। खंभे और कुछ दीवालें बची हैं। वहां पर सैकड़ों प्रतिमाएं हैं जिन्हें मूहरे (मोहरे) कहते हैं। मृत्यु होने के पीछे ग्यारहवें दिन जब महाब्राह्मणों को

१. पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने भ्रमवश देवगढ़ लिखा है। (बि० उ० रि० सो० ज०, दिसंबर, १९१९)।

शय्यादान करते हैं उस समय लगभग एक फुट ऊंचे पत्थर पर मृतक की मूर्ति कुराई जाती है। मूर्ति बनानेवाले गांव के पुश्तैनी पत्थर गढ़नेवाले हैं जो पन-चक्कियों के घरट बनाते हैं। मूर्ति सिंदूर लगाकर शय्या के पास रख दी जाती है। दान के पीछे शय्या और उपकरण महाब्राह्मण ले जाता है। मूर्ति इस देवकुल में पहुंचा दी जाती है। उस कुल के आदमी जलाशय पर स्नान-संध्या करने आते हैं तब मूर्ति पर कुछ दिनों तक जल चढ़ाते रहते हैं। मकान तो खंडहर हो गया है, पर उसके आसपास वत्सेश्वर के नंदि के पास, जलाशय पर, जगह-जगह मूहरे बिखरे पड़े हैं। कई जलाशय की मेंड, सीढ़ियों तथा फर्श की चुनाई में लग गए हैं। कई निर्भय मनुष्य इन पत्थरों को मकानों की चुनाई के लिए ले भी जाते हैं। सभी उच्च जातियों के मृतक, मूर्तिरूप में, इस देवकुल में गांव बसाकर रहते हैं। गुलेर के राजाओं तथा रानियों के मूहरे भी यहीं हैं। वे दो-ढाई फुट ऊंचे हैं। उनके नीचे 'राजा'-'राणी' अक्षर भी लड़कपन में हम लोग पढ़ा करते थे। गांव के बुड्ढे पहचान लेते हैं कि यह अमुक का मूहरा है। कई वर्षों तक हम अपने पितामह की प्रतिमा को पहिचानते तथा उस पर जल चढ़ाते थे। पिछले वर्षों में खेलते हुए लड़कों ने या किसी और ने निवेश बदल दिया है। पत्थर रेतीला दर-याई बालू का है, इसलिए कुछ ही वर्षों की धूप और वर्षा से खुदाई बेमालूम हो जाती है।[1] पुरुष की मूर्ति बैठी बनाई जाती है, स्त्री की खड़ी। पुरुषमूर्ति के दोनों ओर कहीं-कहीं चामरग्राहिणियां भी बनी होती हैं। राजाओं की मूर्ति घोड़े पर होती है। वस्त्र-शस्त्र भी दिखाए जाते हैं। उस प्रांत में जहां-जहां बां, नोण, तला आदि हैं[2] वहां सब जगह मूहरे रखे जाते हैं। सड़क के किनारे जो जलाशय मिलता है वहां गांव पास हो तो ८-१० प्रतिमाएं रखी मिलेंगी। कुल्लू, मंडी तथा शिमले के कुछ पहाड़ी राज्यों में भी यही चाल है। यह प्राचीन देवकुल की रीति अब तक उन प्रांतों में है जहां परिवर्तन बहुत कम हुए हैं।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : सन् १९२० ई०]

१. पत्थर का यह हाल है कि वहीं जवाली ग्राम में गुलेर के एक राजा का बनाया हुआ एक मंदिर है जिसकी छाया की ओर की खुदाई की मूर्तियां ज्यों की त्यों हैं किंतु बौछाड़वाले पखवाड़े पर सब मूर्तियां साफ हो गई हैं। उसी की रानी के बनवाए हुए जवाली के नोण पर शिलालेख था जिसके कुछ पंक्तियों की आदि के अक्षर आठ वर्ष हुए पढ़े जाते थे, किंतु दो वर्ष बीते जब मैं वहां गया तो उतने अक्षर भी नहीं पढ़े जा सकते थे, सब के सब खिर गए थे। इस समय इतना ही पढ़ा जाता था—ओं स्वस्ति श्रीगणेशा···(१) वदंति परं पु (प्र)···(२) मीश्वरं...(३) पा (श)···(४) (५) (६) (७) (८)या · (९) नाधि (थि)···(१०) भूयो भूयो···(११) राजराजः··· ······(१२) लेपालनोदो···(१३) कृतोयम्।···(१४)। ये अंक पंक्तियों के अंत के सूचक हैं।

२. बां=(संस्कृत) वापी, (बिहारी कवि) बाय, (मारवाड़ी) बाव। नोण=(संस्कृत) निपान (पाणिनि का निपानमाहावः), (मारवाड़ी) निवाण। तला=(संस्कृत) तड़ाग या तटाक (हिंदी) तालाब।

भाषा

पुरानी हिंदी

हिंदुस्तान का पुराने से पुराना साहित्य जिस भाषा में मिलता है उसे 'संस्कृत' कहते हैं, परंतु जैसा कि उसका नाम ही दिखाता है, वह आर्यों की मूल भाषा नहीं है। वह मँजी, छँटी, सुधरी भाषा है। कितने हजार वर्ष के उपयोग से उसका यह रूप बना, किस 'कृत' से वह 'संस्कृत' हुई, यह जानने का कोई साधन नहीं बच रहा है। वह मानो गंगा की नहर है, नरोने के बाँध से उसमें सारा जल खैंच लिया गया है, उसके किनारे सम हैं, किनारों पर हरियाली और वृक्ष हैं, प्रवाह नियमित हैं। किन टेढ़े-मेढ़े किनारों वाली, छोटी-बड़ी, पथरीली, रेतीली नदियों का पानी मोड़कर यह अच्छोद नहर बनाई गई और उस समय के सनातन-भाषा-प्रेमियों ने पुरानी नदियों का प्रवाह 'अविच्छिन्न' रखने के लिए कैसा कुछ आंदोलन मचाया या नहीं मचाया, यह हम जान नहीं सकते। सदा इस **संस्कृत** नहर को देखते-देखते हम **असंस्कृत** या स्वाभाविक, प्राकृतिक नदियों को भूल गए और फिर जब नहर का पानी आगे स्वच्छंद होकर समतल और सूत से नपे हुए किनारों को छोड़कर जल-स्वभाव से कहीं टेढ़ा, कहीं सीधा, कहीं गंदला, कहीं निखरा, कहीं पथरीली, कहीं रेतीली भूमि पर और कहीं पुराने सूखे मार्गों पर प्राकृतिक रीति से बहने लगा तब हम यह कहने लगे कि नहर से नदी बनी है, नहर प्रकृति है और नदी विकृति—[हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण का आरंभ ही यों किया है कि संस्कृत प्रकृति है, उससे आया इसलिए प्राकृत कहलाया] यह नहीं कि नदी अब सुधारकों के पंजे से छूटकर फिर सनातन मार्ग पर आई है।

इस रूपक को बहुत बढ़ा सकते हैं। संभव है कि हमें इसका फिर भी काम पड़े। वेद या छंदस् की भाषा का जितना सात्म्य पुरानी प्राकृत से है उतना संस्कृत से नहीं। संस्कृत में छाना हुआ पानी ही लिया गया है। प्राकृतिक प्रवाह का मार्गक्रम यह है—

१. मूल भाषा २. छंदस् की भाषा→ | ३. प्राकृत→५.अपभ्रंश
| ४. संस्कृत

संस्कृत अजर-अमर तो हो गई किंतु उसका वंश नहीं चला, वह कलमी पेड़ था। हां, उसकी संपत्ति से प्राकृत और अपभ्रंश और पीछे हिंदी आदि भाषाएं पुष्ट होती गई और उसने भी समय-समय पर इनकी भेंट स्वीकार की।

वैदिक (छंदस् की) भाषा का प्रवाह प्राकृत में बहता गया और संस्कृत में बंध गया। इसके कई उदाहरण हैं—(१) वेद में देवाः और देवासः दोनों हैं, संस्कृत में केवल 'देवाः' रह गया और प्राकृत आदि में 'आसस्' (दुहरे 'जस्') का वंश 'आओ' आदि में चला, (२) देवैः की जगह देवेभिः (अधरेहिं) कहने की स्वतंत्रता प्राकृत को रिक्थक्रम (विरासत) में मिली, संस्कृत को नहीं, (३) संस्कृत में तो अधिकरण का 'स्मिन्' सर्वनाम में ही बंध गया, किन्तु प्राकृत में 'म्मि', 'म्हि', होता हुआ हिंदी में 'में' तक पहुंचा, (४) वैदिक भाषा में षष्ठी या चतुर्थी के यथेच्छ् प्रयोग की स्वतंत्रता थी वह प्राकृत में आकर चतुर्थी विभक्ति को ही उड़ा गई, किंतु संस्कृत में दोनों, पानी उतर जाने पर चट्टानों पर चिपटी हुई काई की तरह, जहां की तहां रह गई, (५) वैदिक भाषा का 'व्यत्यय' और 'बाहुलक' प्राकृत में जीवित रहा और परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश में एक विभक्ति 'ह', 'हँ', 'ही; बहुत से कारकों का काम देने लगी, संस्कृत की तरह लकीर ही नहीं पिटती गई, (६) संस्कृत में पूर्वकालिक का एक 'त्वा' ही रह गया और 'य' भिंच गया, इधर 'त्वान' और 'त्वाय' और 'य' स्वतंत्रता से आगे बढ़ आए (देखो, आगे)। (७) क्रियार्था क्रिया (Infinitive of Purpose) के कई रूपों में से (जो धातुज शब्दों के द्वितीया, षष्ठी या चतुर्थी के रूप हैं) संस्कृत के हिस्से में 'तुम्' ही आया और इधर कई, (८) कृ धातु का अनुप्रयोग संस्कृत में केवल कुछ लम्बे धातुओं के परोक्ष भूत में रहा, छंदस् की भाषा में और जगह भी था, किंतु अनुप्रयोग का सिद्धान्त अपभ्रंश और हिंदी तक पहुंचा। यह विषय बहुत ही बढ़ाकर उदाहरणों के साथ लिखा जाना चाहिए, इस समय केवल प्रसंग से इसका उल्लेख ही कर दिया गया है।

अस्तु। अकृत्रिम भाषाप्रवाह में (१) छंदस् की भाषा, (२) अशोक की धर्मलिपियों की भाषा, (३) बौद्ध ग्रंथों की पाली, (४) जैन सूत्रों की मागधी, (५) ललितविस्तर की गाथा या गड़बड़ संस्कृत और (६) खरोष्ठी और प्राकृत शिलालेखों और सिक्कों की अनिर्दिष्ट प्राकृत ये ही पुराने नमूने हैं। जैन सूत्रों की भाषा मागधी या अर्द्धमागधी कही गई है। उसे 'आर्ष प्राकृत' भी कहते हैं। पीछे से प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि देश-भेद के अनुसार प्राकृत भाषाओं की छांट की, किंतु मागधीवाले कहते हैं कि मागधी ही मूल भाषा है जिसे प्रथम कल्प के मनुष्य, देव और ब्राह्मण

बोलते थे।[1] जिन पुराने नमूनों का हम उल्लेख कर चुके हैं वे देश-भेद के अनुसार इस नामकरण में किसी एक में ही अंतर्भूत नहीं हो सकते। बौद्ध भाषा संस्कृत पर अधिक सहारा लिये हुए है, सिक्कों तथा लेखों की भाषा भी वैसी है। शुद्ध प्राकृत के नमूने जैन सूत्रों में मिलते हैं। यहां दो बातें और देख लेनी चाहिए। एक तो जिस किसी ने प्राकृत का व्याकरण बनाया, उसने प्राकृत को भाषा समझ-कर व्याकरण नहीं लिखा। ऐसी साधारण बातों को छोड़कर कि प्राकृत में द्विवचन और चतुर्थी विभक्ति नहीं है, सारे प्राकृत व्याकरण केवल संस्कृत-शब्दों के उच्चारण में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं इनकी परिसंख्या-सूची मात्र हैं। दूसरी यह कि संस्कृत नाटकों की प्राकृत को शुद्ध प्राकृत का नमूना नहीं मानना चाहिए। वह पंडिताऊ या नकली या गढ़ी हुई प्राकृत है, जो संस्कृत में मसविदा बनाकर, प्राकृत व्याकरण के नियमों से—'त' की जगह 'य' और 'क्ष' की जगह 'ख' रखकर, सांचे पर जमाकर, गढ़ी गई है। वह संस्कृत मुहाविरों का नियमा-नुसार किया हुआ रूपांतर है, प्राकृत भाषा नहीं। हां, भास के नाटकों की प्राकृत शुद्ध मागधी है। पुराने काल की प्राकृत रचना, देश-भेद के नियत हो जाने पर, या तो मागधी में हुई या महाराष्ट्री प्राकृत में, शौरसेनी पैशाची आदि केवल भाषा में विरल देश-भेद मात्र रह गईं, जैसा कि प्राकृत व्याकरणों में उन पर कितना ध्यान दिया गया है, इससे स्पष्ट है। मागधी, अर्धमागधी तो आर्ष प्राकृत रहकर जैन सूत्रों में ही बंद हो गई, वह भी एक तरह की छंदस् की भाषा बन गई। प्राकृत व्याकरणों ने महाराष्ट्री का पूरी तरह विवेचन कर, उसीको आधार मानकर शौरसेनी आदि के अंतर को उसीके अपवादों की तरह लिखा है। या यों कह दो कि देश-भेद से कई प्राकृत होने पर भी प्राकृत-साहित्य की प्राकृत एक ही थी। जो पद पहले मागधी का था वह महाराष्ट्री को मिला। वह परम प्राकृत और सूक्ति-रत्नों का सागर कहलाई। राजाओं ने उसकी कदर की। हाल (सात-वाहन) ने उसके कवियों की चुनी हुई रचना की 'सतसई' बनाई, प्रवरसेन ने सेतुबंध से अपनी कीर्ति उसके द्वारा सागर के पार पहुंचाई, वाक्पति ने उसी में गौड़वध किया, किंतु यह पांडिताऊ प्राकृत हुई, व्यवहार की नहीं। जैनों ने धर्म-भाषा मानकर उसका स्वतंत्र अनुशीलन किया और मागधी की तरह महाराष्ट्री भी जैन-रचनाओं में ही शुद्ध मिलती है। और छंदों के होने पर भी जैसे संस्कृत का 'श्लोक' अनुष्टुप् छंदों का राजा है, वैसे प्राकृत की रानी 'गाथा' है, लंबे छंद प्राकृत में आए कि संस्कृत की परछाईं स्पष्ट देख पड़ी। प्राकृत-कविता का आसन

१. हेमचंद्र ने 'जिणिंदाण वाणी' को देशीनाममाला के आरंभ में 'असेसम सपरिणामिणी' कहकर वंदना करते हुए क्या अच्छा अवतरण दिया है—

देवा दैवीं नरा नारीं शबराश्चापि शाबरीम्।
तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं मेनिरे भगवद्गिरम्॥

ऊंचा हुआ। यह कहा गया है कि देशी शब्दों से भरी प्राकृत-कविता के सामने संस्कृत की कौन सुनता है[1] और राजशेखर ने, जिसकी प्राकृत उसकी संस्कृत के समान ही स्वतंत्र और उद्भट है, प्राकृत को मीठी और संस्कृत को कठोर कह डाला।[2]

शौरसेनी और पैशाची (भूतभाषा)

इन प्राकृतों के भेदों[3] में से हमें शौरसेनी और पैशाची का देशनिर्णय करना है। यद्यपि ये दोनों भाषाएं मागधी और महाराष्ट्री से दब गई थीं और इनका विवेचन व्याकरणों में गौण या अपवाद रूप से ही किया गया है तथापि हिंदी से इनका बड़ा संबंध है। शौरसेनी तो मथुरा ब्रजमंडल आदि की भाषा है। इसमें कोई बड़ा स्वतंत्र-ग्रंथ नहीं मिलता, किंतु इसका वही क्षेत्र है जो ब्रजभाषा, खड़ीबोली और रेखते की प्रकृत भूमि है। पैशाची का दूसरा नाम 'भूतभाषा' है। यह गुणाढ्य की अद्भुतार्था बृहत्कथा से अमर हो गई है। वह 'बड्डकथा' अभी नहीं मिलती। दो कश्मीरी पंडितों (क्षेमेंद्र और सोमदेव) के किए उसके संस्कृत अनुवाद मिलते हैं (बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर) कश्मीर का उत्तरी प्रांत पिशाच (पिश् - कच्चा मांस, अश् —खाना) या 'पिशाश देश' कहलाता था और कश्मीर ही में बृहत्कथा का अनुवाद मिलने से पैशाची वहां की भाषा मानी जाती थी। किंतु वास्तव में पैशाची या भूतभाषा का स्थान राजपूताना और मध्यभारत है। मार्कंडेय ने प्राकृत व्याकरण में बृहत्कथा को केकय पैशाची में गिना है। केकय तो कश्मीर का पश्चिमोत्तर प्रांत है। संभव है कि मध्यभारत की भूतभाषा की मूल बृहत्कथा का कोई रूपांतर उधर हुआ हो जिसके आधार पर कश्मीरियों

१. ललिए महुरक्खरए जुवईजणवल्लहे ससिंगारे।
सन्ते पाइयकव्वे को सक्कइ सक्कयं पढिउं॥—(वज्जालग्ग, २९)
[ललितं, मधुराक्षर, युवतीजनवल्लभ, सश्रृंगार प्राकृत कविता के होते हुए संस्कृत कौन पढ़ सकता है ?]

२. परुसा सक्कअबन्धा पाउअबन्धो वि होइ सुउमारो।
पुरुप महिलाणं जेन्तिअमिहन्तरं तेत्तियमिमाणं॥ (कर्पूरमंजरी)
[संस्कृत की रचना परुष और प्राकृतरचना सुकुमार होती है, जितना पुरुष और स्त्रियों में अंतर होता है उतना इन दोनों में है।]

३. अगले लेखों में इस विषय पर कुछ और आता जाएगा।

के संस्कृतानुवाद हुए हैं।[1] राजशेखर ने, जो विक्रम संवत् की दशवीं शताब्दी के मध्यभाग में था, अपनी काव्यमीमांसा में एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें उस समय के भाषानिवेश की चर्चा है—"गौड़ (बंगाल) आदि संस्कृत में स्थित हैं, लाटदेशियों की रुचि प्राकृत में परिचित है, मरुभूमि, टक्क (टांक, दक्षिण-पश्चिमी पंजाब) और भादानक[2] के वासी अपभ्रंश प्रयोग करते हैं, अवंती (उज्जैन), पारियात्र (बेतवा और चंबल का निकास) और दशपुर (मंदसोर) के निवासी भूतभाषा की सेवा करते हैं, जो कवि मध्यदेश में (कन्नौज, अंतर्वेद पंचाल आदि) रहता है वह सर्व भाषाओं में स्थित है। राजशेखर को भूगोल विद्या में बड़ी दिलचस्पी थी। काव्यमीमांसा का एक अध्याय का अध्याय भूगोल-वर्णन को देकर वह कहता है कि विस्तार देखना हो तो मेरा बनाया भुवनकोश देखो। अपने आश्रयदाता की राजधानी महोदय (कन्नौज) का उसे बड़ा प्रेम था। कन्नौज और पांचाल की उसने जगह-जगह पर बहुत बड़ाई की है। महोदय (कन्नौज) को मानो भूगोल का केंद्र माना है, कहा है दूरी की नाप महोदय से ही की जानी चाहिए, पुराने आचार्यों के अनुसार अंतर्वेदी से[3] नहीं। इस महोदय की केन्द्रता को ध्यान में रखकर उसका बताया हुआ राजा के कवि-समाज का निवेश बड़ा चमत्कार दिखाता है। वह कहता है कि राजा कवि-समाज के मध्य में बैठे, उत्तर को संस्कृत के कवि (कश्मीर पांचाल), पूर्व को प्राकृत (मागधी की भूमि मगध), पश्चिम को अपभ्रंश (दक्षिणी पंजाब और मरुदेश) और दक्षिण को भूतभाषा (उज्जैन, मालवा आदि) के कवि बैठे।[4] मानो राजा का कवि-समाज भौगोलिक भाषानिवेश का मानचित्र हुआ। यों कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक अंतर्वेद, पांचाल और शूरसेन, और इधर मरु, अवंती, पारियात्र और दशपुर—शौरसेनी और भूतभाषा के स्थान थे।

१. लाकोटे, वियना ओरिएंटल सोसाइटी का जर्नल, जिल्द ६४, पृ० ९५ आदि।
२. बीजोल्याँ के लेख में भी भादानक का उल्लेख है, यह प्रांत राजपूताने में ही होना चाहिए।
३. विनशनप्रयागयोर्गङ्गायमुनयोश्चान्तरमन्तर्वेदी। तदपेक्षया दिशो विभजेत इत्याचार्याः। तत्रापि महोदयं मूलमवधीकृत्य इति यायावरः। (काव्यमीमांसा, पृ० ९४)
४. वही, पृ० ५४-५५

अपभ्रंश

बांध से बचे हुए पानी की धाराएं मिलकर अब नदी का रूप धारण कर रही थीं। उनमें देशी की धाराएं भी आकर मिलती गईं। देशी और कुछ नहीं, बांध से बचा हुआ पानी है या वह जो नदी मार्ग पर चला आया, बांधा न गया। उसे भी कभी-कभी छानकर नहर में ले लिया जाता था। बांध का जल भी रिसता-रिसता इधर मिलता आ रहा था। पानी बढ़ने से नदी की गति वेग से निम्नाभिमुखी हुई, उसका 'अपभ्रंश' (नीचे को बिखरना) होने लगा। अब सूत से नपे किनारे और नियत गहराई नहीं रही। राजशेखर ने संस्कृत वाणी को सुनने योग्य प्राकृत को स्वभावमधुर, अपभ्रंश को सुभव्य और भूतभाषा को सरस कहा है।[1] इन विशेषणों की साभिप्रायता विचारने योग्य है। वह यह भी कहता है कि कोई बात एक भाषा में कहने से अच्छी लगती है, कोई दूसरी में, कोई दो-तीन में[2]। उसने काव्यपुरुष का शरीर शब्द और अर्थ का बनाया है जिसमें संस्कृत को 'मुख', प्राकृत को 'बाहु', अपभ्रंश को 'जघनस्थल', पैशाच को 'पैर' और मिश्र को 'उरु' कहा है। विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिंदी में परिणत हो गई। इसमें देशी की प्रधानता है। विभक्तियां घिस गई हैं, खिर गई हैं, एक ही विभक्ति 'हं', या 'आहं' कई काम देने लगी है। एक कारक की विभक्ति से दूसरे का भी काम चलने लगा है। वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी इसे मिली। विभक्तियों के खिर जाने से कई अध्याय या पद लुप्तविभक्तिक पद के आगे रखे जाने लगे, जो विभक्ति ां नहीं हैं। क्रियापदों में मार्जन हुआ। हां, इसने केवल प्राकृत ही के तद्भव और तत्सम पद नहीं लिए, किंतु धनवती अपुत्रा मौसी से भी कई तत्सम पद लिए[3]। साहित्य की प्राकृत साहित्य की भाषा ही हो चली थी, वहां गत भी गय और गज भी गय; काच, काक, काय=(शरीर) कार्य सबके लिए काय। इसमें भाषा के प्रधान लक्षण - सुनने से अर्थबोध—का व्याघात होता था। जैसे शौरसेनी, पैशाची, मागधी आदि भेदों के होते हुए भी प्राकृत एक ही थी वैसे शौरसेनी अपभ्रंश, पैशाची अपभ्रंश, अपभ्रंश में दोनों प्रकार के शब्द मिलते हैं।

१. बालरामायण

२. काव्यमीमांसा पृ० ४८

३. तद्भव प्रयोगों के अधिक घिस जाने पर भाषाओं में एक अवस्था आती है जब शुद्ध तत्समों का प्रयोग करने की टेव पड़ जाती है। हिंदी में अब कोई जस या गुनवंत नहीं लिखता यश और गुणवान् लिखते हैं। बोलें चाहे तरों, परसोतम् और हर्किसुन, लिखेंगे तरह, पुरुषोत्तम और हरकृष्ण।

महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि होकर एक ही अपभ्रंश प्रबल हुई। हेमचन्द्र ने जिस अपभ्रंश का वर्णन किया है वह शौरसेनी के आधार पर है। मार्कण्डेय ने एक 'नागर' अपभ्रंश की चर्चा की है जिसका अर्थ नगरवासी (चतुर, शिक्षित, गंवई से विपरीत) लोगों की भाषा या गुजरात के नागर ब्राह्मणों या नगर (वडनगर, वृद्ध नगर) के प्रांत की भाषा हो सकती है। गुजरात की अपभ्रंश-प्रधानता की चर्चा आगे है। किंतु उसके उस नगर का वडनगर या नगर-नाम प्राचीन नहीं है। इसलिए 'नगर की भाषा' अर्थ मानने पर मार्कंडेय के व्याकरण की प्राचीनता में शंका होती है।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में कई श्लोक दिए हैं जिनमें वर्णन किया है कि किस देश के मनुष्य किस तरह संस्कृत और प्राकृत पढ़ सकते हैं। यहां एक पाठ-शैली के वर्णन की चर्चा कर देनी चाहिए। यह वर्णन रोचक भी है और कई अंशों में अब तक सत्य भी। उच्चारण का ढंग भी कोई चीज है। वह कहता है कि काशी से पूर्व की ओर जो मगध आदि देशों के वासी हैं वे संस्कृत ठीक पढ़ते हैं किंतु प्राकृत भाषा में कुंठित हैं। बंगालियों की हँसी में उसने एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें सरस्वती ब्रह्मा से प्रार्थना करती है कि मैं बाज आई, मैं इस्तीफा पेश करती हूं, या तो गौड़ लोग गाथा पढ़ना छोड़ दें, या कोई दूसरी ही सरस्वती बनाई जाए।[1]

गौड़ देश में ब्राह्मण न अतिस्पष्ट, न अश्लिष्ट, न रुक्ष न अतिकोमल, न मंद और न अतिसार स्वर से पढ़ते हैं। चाहे कोई रस हो, कोई गुण हो, कर्णाट लोग घमंड से अंत में टंकारा देकर पढ़ते हैं। गद्य, पद्य, मिश्र कैसा ही काव्य हो द्रविड़ कवि गाकर ही पढ़ेगा। संस्कृत के द्वेषी लाट प्राकृत को ललित मुद्रा से सुन्दर पढ़ते हैं। सुराष्ट्र[2], त्रवण[3] आदि संस्कृत में अपभ्रंश के अंश मिलाकर एक ही तरह पढ़ते हैं। शारदा के प्रसाद से कश्मीरी सुकवि होते हैं किंतु उनका पाठ-क्रम क्या है मानो कान में गिलोय की पिचकारी है। उत्तरापथ के कवि बहुत संस्कार होने पर भी गुन्ना (नाक में) पढ़ते हैं। पांचाल देश वालों का पाठ तो

१. ब्रह्मन् विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया।
गौड़स्त्यजतु वा गाथामन्या वास्तु सरस्वती॥
२. सौरठ—गुजरात काठियावाड़।
३. पश्चिमी राजपूताना। जोधपुर के राजा बाउक के वि० सं० ८९४ के शिलालेख में उसके चौथे पूर्वपुरुष शिलुक का त्रवणी और वल्ल देश तक अपने राज्य की सीमा नियत करना कहा गया है। वल्ल देश भाटियों का जैसलमेर है, त्रवणी उसके दक्षिण में होना चाहिए।

कानों में शहद बरसाता है, उनका कहना ही क्या ।[1]

पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली पुरानी हिंदी से। हम ऊपर दिखा चुके हैं कि शौरसेनी और भूतभाषा की भूमि ही अपभ्रंश की भूमि हुई और वही पुरानी हिंदी की भूमि है। अंतर्वेद, व्रज, दक्षिणी पंजाब, टक्क, भादानक, मरु, त्रवण, राजपूताना, अवंती, पारियात्र, दशपुर और सुराष्ट्र— यहीं की यह भाषा एक ही मुख्य अपभ्रंश थी जैसे पहले देशभेद होने पर भी एक ही प्राकृत थी। अभी अपभ्रंश के साहित्य के अधिक उदाहरण नहीं मिले हैं, न उस भाषा के व्याकरण आदि की ओर पूरा ध्यान दिया गया है। अपभ्रंश कहां समाप्त होती है और पुरानी हिंदी कहाँ आरंभ होती है इसका निर्णय करना कठिन, किंतु रोचक और बड़े महत्त्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं, पुरानी हिंदी भी। संस्कृत-ग्रंथों में लिखे रहने के कारण अपभ्रंश और पुरानी हिंदी की लेखशैली की रक्षा हो गई जो मुखसुखार्थ लेखन-शैली में बदलती-बदलती ऐसी हो जाती कि उसे प्राचीन समझने का कोई उपाय नहीं रह जाता। उसी प्राचीन लेखशैली को हिंदी की उच्चारणानुसारिणी शैली पर लिख दें (जिस प्रकार कि वह अवश्य ही बोली जाती होगी) तो अपभ्रंश कविता केवल 'पुरानी-हिंदी' हो जाती है और दुर्बोध नहीं रहती। इसलिए यह नहीं कह सकते कि 'पुरानी हिंदी' का काल कितना पीछे हटाया जाए। हिंदी उपमावाचक 'जिमि' या 'जिम' ऐसी पुरानी कविता में 'जिम्वँ' लिखा मिलता है। उसके उच्चारण में प्रथम स्वर संयुक्ताक्षर के पहले होने से गुरु नहीं हो सकता (जिम्म्व) क्योंकि जिस छंद में वह आया है उसका भंग होता है। इसलिए चाहे वह 'जिम्वँ' लिखा हो उसका उच्चारण 'जिँव' था जो 'जिम' ही है। संस्कृत 'उत्पद्यते' का प्राकृत रूप 'उप्पज्जइ' है जो छंट-खिरकर 'उप्पजइ' के रूप में है। अब यह 'उप्पजइ' अपभ्रंश माना जाए या पुरानी हिंदी? 'जइ' का उच्चारणा-नुसार लेख करने से 'उपजै' हो जाता है (संयुक्त पकार के कारण उ की मात्रा की गुरुता मानकर ऊपजै सही) जिसे हम हिंदी पहचानते हैं। संभव है कि जैसे आज-कल हिंदी के विद्वानों में 'गये, गए' पर दलादली है वैसे ही 'उपज्जइ, उपजइ, उपजै, ऊपजै' पर कई शताब्दियों तक चली हो, यद्यपि उसे अरुंतुद बनाने के लिए छापाखाना न था।

१. मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानाम्,
संपूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः।
पाञ्चालमण्डलभुवां सुभगः कवीनां
श्रोत्रे मधु क्षरति किञ्चन काव्यपाठः॥

इन पोथियों के लिखनेवाले संस्कृत के पंडित या जैन साधु थे। संस्कृत-शब्दों को तो उन्होंने शुद्धि से लिखा, प्राकृत को भी, किंतु इन कविताओं की लेखशैली पर ध्यान नहीं दिया। कभी पुराना रूप रहने दिया, कभी व्यवहार में परिचित नया रूप धर दिया। यह आगे के पाठांतरों से जान पड़ेगा।

ऐसी कविता के लिए 'पुरानी हिंदी' शब्द जान-बूझकर काम में लिया गया है। पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी आदि नाम कृत्रिम हैं और वर्तमान भेद को पीछे की ओर ढकेलकर बनाए गए हैं। भेदबुद्धि दृढ़ करने के अतिरिक्त इनका कोई फल भी नहीं है। कविता की भाषा प्रायः सब जगह एकही सी थी। जैसे नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता 'व्रजभाखा' कहलाती थी वैसे अपभ्रंश को 'पुरानी हिंदी' कहना अनुचित नहीं, चाहे कवि के देशकाल के अनुसार उसमें कुछ रचना प्रादेशिक हो।

पिछले समय में भी हिंदी कवि संत लोग विनोद के लिए एकाध पद गुजराती या पंजाबी में लिखकर अपनी वाणियाँ भाखा में लिखते रहे जैसे कि कुछ शौरसेनी, पैशाची का छींटा देकर कविता महाराष्ट्री प्राकृत में ही होती थी। मीरावाई के पद पुरानी हिंदी कहे जाएं या गुजराती या मारवाड़ी? डिंगल कविता गुजराती है या मारवाड़ी या हिंदी? कवि की प्रादेशिकता आने पर भी साधारण भाषा 'भाखा' ही थी। जैसे अपभ्रंश में कहीं-कहीं संस्कृत का पुट है वैसे तुलसीदास जी रामायण को पूरबी भाषा में लिखते-लिखते संस्कृत में चले जाते हैं।[1] यदि छापाखाना, प्रांतीय अभिमान, मुसलमानों का फारसी अक्षरों का आग्रह और नया प्रांतिक उद्बोधन न होता तो हिंदी अनायास ही देशभाषा बनी जा रही थी। अधिक छपने छापने, लिखने और झगड़ों ने भी इस गति को रोका।

आजकल लोग पृथ्वीराजरासे की भाषा को हिंदी का प्राचीनतम रूप मानते हैं, उसका विचार हम अपभ्रंश के अवतरणों के विचार के पीछे करेंगे किंतु इतना कहे देते हैं कि यदि इन कविताओं को पुरानी हिंदी नहीं कहा जाए तो रासे की भाषा को राजस्थानी या 'मेवाड़ी-गुजराती-मारवाड़ी-चारणी-भाटी' कहना चाहिए, हिंदी नहीं। ब्रजभाषा भी हिंदी नहीं और तुलसीदास जी की मधुर उक्तियां भी हिंदी नहीं।

यह पुरानी कविता बिखरी हुई मिलती है कोई मुक्तक शृंगार रस की कविता, कोई वीरता की प्रशंसा, कोई ऐतिहासिक बात, कोई नीति का उपदेश, कोई लोकोक्ति और वह भी व्याकरण के उदाहरणों में या कथाप्रसंग में उद्धृत।

१. जैसे—कविहिं अगम जिमि ब्रह्मसुख अहममलिनजनेषु।
रन जीति रिपुदलमध्यगत पस्यामि राममनामयं॥ इत्यादि।

मालूम होता है कि इस भाषा का साहित्य बड़ा था। उसमें महाभारत और रामायण की पूरी, या उनके आश्रय पर बनी हुई छोटी-छोटी कथाएं थीं। ब्रह्म और मुंज नाम के कवियों का पता चलता है। जैसे प्राकृत के पुराने रूप भी शृंगार की चटकीली मुक्तक गाथाओं में (सातवाहन की सप्तशती) या जैन धर्म-ग्रंथों में हैं, वैसे पुरानी हिंदी के नमूने भी या तो शृंगार वा वीर रस के अथवा कहानियों के चुटकुले हैं या जैन-धार्मिक रचनाएं। हेमचंद्र की बड़ी बड़ाई कीजिए कि उसने प्राकृत उदाहरणों में तो पद वा वाक्यों के टुकड़े ही दिए, पर ऐसी कविताओं के पूरे छंद उद्धृत किए। इसका कारण यही जान पड़ता है कि जिन पंडितों के लिए उसने व्याकरण बनाया वे साधारण मनुष्यों की 'भाखा' कविता को वैसे प्रेम से नहीं कंठस्थ क़रते थे जैसे संस्कृत और प्राकृत को।

संस्कृत के श्लोक और गाथा की तरह इस कविता का राजा दोहा है। सोरठा, छप्पय, गीत आदि और छंद भी हैं, पर इधर दोहा और उधर गाथा ही पुरानी हिंदी और प्राकृत का भेदक है। 'दोहा' का नाम कई संस्कृताभिमानियों ने 'दोधक'[1] बनाया है किंतु शाब्दिक समानता को छोड़कर इसमें कोई सार नहीं है और संस्कृत में दोधक छंद दूसरा होने से इसमें धोखे की सामग्री भी है। दोहा पद की निरुक्ति दो की संख्या से है, जैसे चौपाई और छप्पय की— दो + पद, दो + पथ, या दो + गाथा। प्रबंधचिंतामणि में एक जगह एक प्राकृत का 'दोधक' भी दिया है जो दोहा छंद में है। पूर्वार्ध सपादलक्ष (अजमेर-साँभर) के राजा ने समस्या की तरह भेजा था और उत्तरार्द्ध की पूर्ति हेमचंद्र ने की थी[2]। यह ऐसा ही विरल विनोद जान पड़ता है जैसा कि आजकल हमारे मित्र भट्ट मथुरानाथ जी के संस्कृत के मनहर दंडक और सवैये। प्रबंधचिंतामणि में ही एक जगह दो चारणों को 'दोहाविद्यया स्पर्धमानौ' अर्थात् दोहा विद्या से होड़ाहोड़ी करते हुए कहा गया है। उनकी कविताओं में एक दोहा है, एक सोरठा, किंतु रचना 'दोहाविद्या' कही गई है यह बात ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार रेखता छंद से रेखते की बोली कहला गई थी (रेखते के उस्ताद तुम ही नहीं हो गालिब!)।

पुरानी हिंदी का गद्य बहुत कम लिखा हुआ मिलता है। पद्य दो तरह रक्षित हुआ है, मुख से और लेख से। दोनों तरह की रक्षा में लेखक के हस्तमुख और वक्ता के मुखसुख से इतने परिवर्तन हो गए हैं कि मूल शैली की विरूपता हो गई है। लिखनेवाला प्रचलित भाषा के ग्रंथों या लोकप्रिय काव्यों में 'मक्खी के लिए मक्खी' नहीं लिखता। उसके बिना जाने ही कलम नये रूपों पर चल जाती है।

१. प्रबंधचिंतामणि, पृ० ५६, १५७
२. पइली ताव न अनुहरइ गोरीमुहकमलस्स।
अदिट्ठी पुनि उन्नमइ पडिपयली चंदस्स ॥ : प्र० चिं०, पृ० १५७

गुसाईं जी के 'तइसइ' 'जुगुति' 'कालसुभाउ', 'अउरउ' अब क्रम से 'तैसेहि', 'युक्ति', 'कालस्वभाव' और 'औरो' हो गए हैं। जो कविता मुख से कान, मुख से कान, चलती है उसमें तो बहुत ही परिवर्तन हो जाते हैं। हेमचंद्र के प्राकृत व्याकरण (आठवें अध्याय) के उदाहरणों में एक 'अपभ्रंश' या पुरानी हिंदी के दोहे को लीजिए। अपभ्रंश और पुरानी हिंदी में सीमारेखा बहुत ही अस्पष्ट है और, जैसा कि आगे स्पष्ट हो जाएगा, पुरानी हिंदी का समय बहुत ऊपर चढ़ जाता है। वह दोहा यह है—

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति ।।

(वियोगिनी कौआ उड़ाने लगी कि मेरा पिया आता हो तो उड़ जा। इतने में उसने अचानक पिया को देख लिया। कहां तो वह वियोग में ऐसी दुबली थी कि हाथ बढ़ाते ही आधी चूड़ियां जमीन पर गिर पड़ीं और कहां हर्ष से इतनी मोटी हो गई कि बाकी चूड़ियां तड़-तड़कर चटक गईं।)

चारणों के मुख से कई पीढ़ियों तक निकलते-निकलते राजपूताने में इस दोहे का यह मंजा हुआ रूप प्रचलित है—

काग उड़ावन जाँवती पिय दीठो सहसत्ति।
आधी चूड़ी कागगल आधी टूट तडित्ति ।।

निशाना ठीक लग गया, चूड़ियां जमीन पर न गिर कर कोए के गले में पहुंच गईं और चूड़ी टूटने का अशकुन भी मिट गया।

उसी व्याकरण में से एक दोहा और लीजिए—

पुत्तें जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पीकी भुहडी चम्पिज्जइ अवरेण ।।

(उस बेटे के जन्म लेने से क्या लाभ और मर जाने से क्या हानि कि जिसके होते बाप की धारती पर दूसरा अधिकार कर ले।)

इस दोहे का परिवर्तन होते-होते यह रूप हो गया है—

बेटा जायाँ कवण गुण अवगुण कवण धियेण[1]।
जो ऊभां[2] घर[3] आपणी गंजीजै[4] अवरेण[5] ।।

१. धी से, पुत्री से।
२. खड़े-खड़े।
३. पृथ्वी, धरा।
४. गंजन की जाए, जीती जाए।
५. मलसीसर के ठाकुर श्री भूरसिंह जी का विविध संग्रह, पृ० ४८। इस संग्रह में यह दोहा तथा 'एहि ति घोड़ा एहि थल०—' वाला दोहा ठाकुर साहब ने कविवर हेमचंद्र के नाम से दिया है, किंतु ये हेमचंद्र की रचना नहीं है, उससे पहले के हैं, उसने अपने व्याकरण में उदाहरण की तरह और बहुत सी कविता के साथ दिए हैं। 'एहि ति घोड़ा ०' की चर्चा यथास्थान होगी।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मूल दोहे में 'मुये पुत्र से क्या अवगुण' कहा गया है किंतु पीछे, स्त्री जाति की ओर अपमान बुद्धि बढ़ जाने और उसका उत्तराधिकार न होने से 'धी (=पुत्री, संस्कृत दुहितृ, पंजाबी धी) से क्या अवगुण, हो गया है। अस्तु। ऐसी दशा में जो पुरानी कविता या गद्य संस्कृत और प्राकृत के व्याकरण और छंद आदि के ग्रंथों में, बच गया है, वह पुराने वर्णविन्यास की रक्षा के साथ उस समय की भाषा का वास्तविक रूप दिखाता है।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : सन् १९२१ ई०]

डिंगल

डिंगल शब्द के अर्थ में कई मतभेद हैं। राजपूताने की प्राचीन कविता जिसमें देशी अपभ्रंश अधिक आते हैं और कर्कश शब्दों का अधिक प्रयोग होता है, 'डिंगल' कहलाती है। डिंगल कविता का समय हो नहीं चुका, अब भी चारण वैसी कविता करते हैं। राजपूताने के कवि और कविता जानने वाले ब्रजभाषा की सुकुमार कविता को तो 'पिंगल' कहते हैं और कर्कश शब्द प्रचुर देशी कविता को 'डिंगल'। 'पिंगल' तो छंद के आचार्य हैं, यह नहीं कि 'डिंगल' कविता के छंद कोई दूसरे हैं, किंतु 'डिंगल' के छंद 'पिंगल' सूत्रों में लिखे छंदों में अन्तर्भूत हो जाते हैं, किंतु व्यवहार में शृंगार का दोहा जिसकी भाषा सुकुमार हो 'पिंगल' कहलाएगा। (लक्षण-शास्त्र का लक्ष्य पर उपचार) और दानस्तुति, निंदा (भूंडा) या वीरता का देशी दोहा डिंगल।

एक महाशय ने तो 'डिंगल' को प्राचीन राजस्थानी भाषा का नाम मान लिया है और राजपूताने की चटशालाओं की अखरावट को 'डिंगल' की वर्णमाला कह दिया है। इसका अत्यासक्ति को छोड़कर कोई प्रमाण नहीं। कुछ लोग 'डिंगल' का अर्थ 'डगर की बोली' करते हैं पर 'डगर' क्या है और कहां है, इसका कुछ पता नहीं। पहाड़ी या रेतली भूमि अर्थ करने से भी डिंगल कविता के क्षेत्र का यह नाम होना सिद्ध नहीं होता। एक चारण महाशय इसकी व्युत्पत्ति में कहते हैं कि 'म्हैं डगल बेड़ा करां हाँ' अर्थात् ब्रजभाषा के कवि तो कटे-छंटे-तराशे पत्थरों से मकान बनाते हैं, हम मिट्टी के टेढ़े-मेढ़े डगल या ढेले दो-दो जोड़ कर झोंपड़ा चुनते हैं, इस 'डगल' से डिंगल बन गया। इस निर्वचन में भी 'डगल' डिंगल के श्रुतिसाम्य के अतिरिक्त कुछ तत्त्व नहीं।

मेरे मत में 'डिंगल' केवल अनुकरण शब्द है, 'काफ़िया न मिलेगा तो बोझों

तो मरेगा' की कहावत के अनुसार पिंगल के भेद दिखाने के लिए बना लिया गया है। जैसे 'वासवदत्ता' के विषय में (अधिकृत्य) बनाई गई कहानी 'वासवदत्ता' कहलाती है वैसे ही लक्षण-शास्त्र और लक्ष्य रचना के अभेदोपकार से हिंदी कविता पिंगल कहलाई। उससे भेद करने के लिए, श्रुति कटु टवर्ग बहुल भाषा की कविता के लिए 'डिंगल' एक यदृच्छा शब्द है, डित्थ आदि की पहचान की तरह इसका कोई अर्थ नहीं है।

निश्चित अर्थ के वाचक किसी शब्द से, उससे भेद दिखाने के लिए उसी की छाया पर दूसरा अनर्थक शब्द बनने और उसके दूसरे अर्थ के वाचक हो जाने के कई उदाहरण मिलते हैं।

१. कर्म का अर्थ सब जानते हैं। कुछ धातु द्विकर्मक होते हैं, जिनके साथ एक कर्म गौण या अनुक्त होता है और दूसरा प्रधान या उक्त। इस अनुक्त या 'अकीर्तित' कर्म के लिए वैयाकरणों के यहां 'कल्म' संज्ञा है। यह संज्ञा भाष्यकार पतंजलि ने बनाई या परोक्षा, भवन्ती आदि की तरह पुराने आचार्यों की बनाई है इसका कोई पता नहीं, किंतु इसका अर्थ कुछ नहीं है, केवल 'कर्म' से भेद करने के लिए उससे मिलता-जुलता नाम बना लिया है। स्वामी दयानंद ने केवल परिष्कार जानने वाले नवीन वैयाकरणों को चकराने के लिए इसका उपयोग किया किंतु 'कल्म, कर्म' ऐसे ही हैं जैसे डिंगल-पिंगल।

२. 'कुमार' का अर्थ बालक है। उसके तद्भव 'कुंवर' का अर्थ उस मनुष्य में रूढ़ हो गया है जिसका पिता जीता हो। किसी राजपूत को पिता के जीते 'कंवर' न कहकर 'ठाकुर' कहना बाप की गाली समझा जाता है। 'कंवर रामसिंह' का अर्थ हुआ — रामसिंह जिसका पिता जीता है, पिता के मरने पर वह ठाकुर हो जाएगा। अब यदि रामसिंह के पुत्र हो जाए तो वह क्या कहलावेगा ? उसका पिता स्वयं कंवर है। इसलिए दादा के मामने पोते के लिए सांकेतिक नाम बनाया गया—भंवर। भंवर का कोई अर्थ नहीं है, न भ्रमर से संबंध है, यह केवल कंवर से भेद करने के लिए मिलता-जुलता शब्द है। वैसे ही पड़दादा के जीते दुर्लभ पड़-पोते को 'तंवर' या 'टंवर' कहते हैं।

३. जातियों के विभाग में दस्सा और बीसा पद आते हैं। दस्सा का अर्थ 'दासी का पुत्र' या मातृपक्ष से हीन है। दासी से 'दस्सा' बना है। इस शब्द के प्रचलित होने पर असल या शुद्ध जाति वालों ने 'दस्सा' की संख्या समझकर और बीस विस्वे की पूर्णता के उपचार से अपना नाम 'बीसा' रख लिया। दस्सा का दस से कुछ संबंध नहीं है, न बीसा का बीस से; किंतु दास से बनने वाले दस्सा को हीन पक्ष पर रूढ़ देखकर उसका दस की संख्या से श्रुतिसाम्य मानकर उससे भेद करने के लिए और अपने को बीसों विस्वा 'असल' बनाने के लिए बीसा नाम गढ़ लिया गया।

४. 'रुक्का' का अर्थ पत्र है। सांकेतिक व्यवहार में एक रियासत में पत्रों के क्रमानुसार दर्जे हैं जैसे कैफियत, परवाना, रूबकार आदि। रुक्का नीचे के अधिकारी के नाम ऊंचे अधिकारी की लिखावट के अर्थ में रूढ़ हो गया है। 'रुक्के' से नीचे दर्जे की लिखावट के लिए 'सुक्का' नाम बनाया गया है। सुक्का का कोई अपना अर्थ नहीं, न इसका सूखे से कोई संबंध है, केवल रुक्के से भेद बताने के लिए यह सुक्के का तुक्का चलाया गया है।

५. पंजाबी 'अढ़ाई घर' सारस्वतों की 'पंचजाति', कुमड़िये, जैतली, झिंगण, तिक्खे और मोहलों से भेद दिखाने के लिए ही 'चार घर' की जातियों के नाम कुछ विकृत करके लुमड़िये, पेतली, पिंगण, पिक्खे और बोहले रक्खे गए। (सारस्वत सर्वस्व, पृ० २३२-३) इन पदों का कोई अर्थ नहीं है पहले नामों से भेदमात्र दिखाने को परिवर्तन किया है।

[**प्रथम प्रकाशन, नागरी प्रचारिणी पत्रिका : सन् १९२२ ई०**]

अमंगल के स्थान में मंगल शब्द

साधारण बोलचाल में अमंगल या अश्लील शब्दों की जगह अच्छे शब्दों का प्रयोग बहुत उदाहरणों में पाया जाता है। ऐसे शब्द या तो बिल्कुल उल्टा अर्थ बताने वाले होते हैं और विपरीत लक्षण से उस शब्द के अर्थ को बताते हैं जो अमंगल समझकर छिपाया जाता है, अथवा उसी भाव को हल्के रूप में प्रकट करते हैं।

'दिया बुझ गया'—कहना अमंगल समझा जाता है। क्योंकि 'बुझना' मृत्यु का भाव सूचित करता है। इसलिए 'दिया बुत गया'—'दिया नंद गया'—'दिया बड़ा हो गया'—'दिया ठण्डा हो गया'—'दिया बढ़ गया' आदि प्रयोग काम में लाये जाते हैं। बिहारी लिख गया है—

दिया बढ़ाये हू रहत, बड़ो उजेरो गेह।[1]

'होली जल गई' की जगह राजपूताने में 'होली मंगल गई' कहते हैं। 'जलना'

१. पाठांतर : (क) दिया बढ़ाये हू रहै, बड़ो उजेरो गेह।
—बिहारी बोधिनी : लाला भगवानदीन 'दीन' छंद : १४७.
(ख) दिया बढ़ाऐं हूँ रहै, बड़ो उज्यारो गेह।
—बिहारी-रत्नाकर : जगन्नाथदास रत्नाकर, छंद, ६९.
(ग) दिया बढ़ाएँ हूँ रहै, बड़ो उजारो गेह।
—बिहारी : विश्वनाथप्रसाद मिश्र, छंद, २.—सम्पादक

और उसके उपकरणों का सम्पर्क शवदाह से होने के कारण चूल्हा 'जलाते' या 'बालते' नहीं, उसे 'चिताते' हैं, और 'चिताने में' भी 'चिता' शब्द के आ जाने से उसे 'जगाते' हैं। 'मरने' के बदले 'शान्त होना' या 'चल बसना' कहा जाता है। 'लकड़ी' या 'काठ' को लोग 'समिध' या 'ईंधन' या 'मुंगधणा' (राजपूताने में) कहते हैं। चिता के लिए 'लकड़ी की काठी' जाती है और रसोई के लिए 'ईंधन का भारा'। 'पानी देना'—या 'जल देना'—तर्पण का सूचक होने से—'पानी पिलाना'—ही व्यवहार में आता है। चूल्हे में—'आग देना' कहने से नई बहू डांटी जाती है। 'आग' को भी 'बैसांदर (वैश्वानर)' या 'वासदे' या 'बास्ती' (वैश्वदेव, बलि के लिए पाक होने से ?) कहते हैं। इसीसे यह कहावत प्रसिद्ध है—

'दूसरे के घर लगे तो वैसांदर, अपने घर लगे तो आग।'

'दुकान बन्द' करने से दिवाला निकलने या कारोबार बन्द होने की ध्वनि निकलती है। इससे दुकान या किवाड़ 'वढ़ा' कर साहजी रात को घर जाते हैं।

'घड़ा फूट गया' अमंगल बचन है। इसलिए घड़ा 'उतर' जाता है या 'बिखर' जाता है। 'चूड़ी टूटना' वैधव्य का सूचक है। इसलिए चूड़ी 'मौल' जाती है, 'मुरक' जाती है, 'बध (बढ़)' जाती है या 'वड़ी' हो जाती है।

'चूड़ा' पहनना विधवा के 'नाते' या पुनर्विवाह का द्योतक होने से राजपूताने में चूड़ा 'धारण' किया जाता है। नहीं तो प्रश्न होता है—'चूड़ा पहनना ? किसका ?।' राजपूतों में 'घोड़ा छूट गया' या 'घोड़ा खुल गया' का अर्थ घोड़े का मरण होता है। इसलिए नौकर 'घोड़ा ढल गया' चिल्लाते फिरते हैं। घोड़ी के लिए ब्याना (बच्चा देना) नहीं कहते, 'ठाठा' (=स्थान, अर्थात् तबेला) देना कहते हैं। मृत्यु का समाचार देने वाले पत्र में 'चिट्ठी' शब्द रूढ़ हो जाने से और पत्र 'कागद' कहलाते हैं। 'तुम्हारे घर से चिट्ठी आई है' सुनकर मारवाड़ वाले बुरा मानते हैं। वे कह बैठते हैं, 'तुम्हारे ही घर से आई होगी, हमारे तो आज ही राजी-खुशी का 'कागद' आया है।

अशौच का अर्थ अशुद्धि है। जन्म और मरण दोनों ही अवसरों पर धार्मिक अशुद्धि मानने वाला हिन्दू 'जन्माशौच' को केवल 'सूतक' कहता है और 'अशौच' को 'मृताशौच' ही समझता है। खाने का ग्रास 'पिण्ड' नहीं कहा जाता और न 'कर्म, क्रिया, कृत्य' शब्द ही शुद्ध कार्यों के लिए कहे जाते हैं। मरण के पीछे के सोलह श्राद्ध 'षोडशी' कहकर बुरे नाम से बताये जाते हैं और न्हान (स्नान) की रूढ़ि अशौचान्त-स्नान में होने से सूतिकास्नान 'जल-पूजा' या 'जलुवा पूजना' ही कहाता है।' गरुड़पुराण का सम्बन्ध मृत्यु से होने से और अवसरों पर उसे 'तार्क्ष्य' कहते हैं।

बाल मुंडाने का सम्पर्क मरण के साथ होने के कारण बालक के शुभ प्रथम मुण्डन को 'चूड़ाकर्म' या 'चौल' ही कहते हैं। इसी अशुभ चर्चा से रात को क्षौर या नापित का नाम नहीं लिया जाता और संस्कृत-कोशों में नाई का नाम 'दिवाकीर्ति' हो गया है। साधारण क्षौर का पर्याय 'बाल बनवाना' या 'संवार (शृंगार) करवाना' जैसे लोकभाषा में है वैसे ही संस्कृत 'गृह्यसूत्रों में 'कुशली कर्म' या 'कुशलीकरण' और वात्स्यायन के कामसूत्र में 'आयुष्य' (आयु के लिए हित) है। इसी अर्थ में 'भद्राकरण' (भद्र = कुशल) भी है; परन्तु उपचार से भद्र होने (भद्दर कराने) का फिर भी अमंगल अर्थ हो जाने पर 'भद्राकरण' भले अर्थ में आने लगा, जिसका कि पाणिनी ने उल्लेख (५।४।६७) किया है।

यात्रा करते समय यह पूछना कि आप कहां जाते हैं, अपशकुन समझा जाता है। इसीलिए राजपूताने में पूछने का ढंग है 'सिध पधारते हो ?'। इसमें मंगल-वाचक सिद्ध शब्द भी आ गया और अमंगल जिज्ञासा-वाचक 'किम्' का प्रयोग भी न आने पाया। मृत्यु में सहानुभूति दिखाने के लिए जाने को 'फिरने जाना' कहते हैं और मैथिल लोग इसी भाव को 'जिज्ञासा' शब्द से प्रकट करते हैं। शवदाह के लिए बंगाली 'सत्कार' शब्द काम में लाते हैं।

अमंगल, कटु या दुर्भावसूचक शब्दों के लिए कोमल पदों के प्रयोग के विषय में भी कुछ कहना अनुचित न होगा। वेश्या को 'सदासुहागिन', व्यभिचारिणी को 'महासती', 'अमंगलमुखी' को 'भद्रमुखी', उल्लू[1] को 'रात का राजा' कहने की चाल पड़ गई है। महत् शब्द के प्रयोग से हड्डी को 'महाशंख', चर्बी को 'महातैल', मनुष्य-मांस (या गोमांस) को 'महामांस', यम को 'महावैद्य', कटिहा को 'महा-ब्राह्मण', श्मशान यात्रा को 'महायात्रा', यमलोक के मार्ग को 'महामार्ग' और मृत्यु को 'महानिद्रा' के नाम से उल्लेख किया जाता है। वल्लभ कुल की सेवा में ब्रजभाषा को छोड़कर दूसरी भाषा के व्यवहार न करने का नियम होने के कारण मुसलमान 'बड़ी जाति' कहाते हैं। चोरों की भाषा में जेल का नाम 'बड़ा घर' या 'सुसराल' है।

'हत्, तेरा भला हो', 'तेरा वंश बढ़े'—इन गालियों में भले का अर्थ बुरा और बढ़ने का अर्थ नष्ट होना है। सर्वत्र प्रचलित 'ऐसी की तैसी' वाक्य में दोनों सर्वनाम किसी सम्बन्धिनी स्त्री के विषय की गन्दी उक्ति को छिपाते हैं।

किसी मनुष्य को सामने खड़ा देखकर पहला प्रश्न होता है कि 'क्यों, क्या

१. तत्तथ्यमेव किमकारणकण्टकं त्वां
यद्धर्मराज इति काल ! जनाः स्तुवन्ति ।
लोका न किं जगदमंगलमूल कोषं
शंसन्ति मंगलविहगंम इ त्युलूकम् ? ॥ (जगद्धर, स्तुतिकुसुमांजलि ६।७१)

है ?' इसका साधारण उत्तर यही होना चाहिए कि 'कुछ नहीं'। पर ऐसे दुःशकुन-सूचक उत्तर से बचने के लिए कुछ पंजाबी गृहपति इसी अर्थ में 'सब कुछ' उत्तर चाहते हैं।

गृह्यसूत्रों में ब्रह्मचारियों के लिए, स्नातक होने के पीछे यह कड़ा नियम किया गया है कि वे शुक्त अर्थात् अमंगल या अश्लील शब्द न कहा करें। इसके कुछ उदाहरण भी देखे गए हैं।

गर्भिणी विजन्येति ब्रूयात् ॥ १० ॥
सकुलमिति नकुलम् ॥ ११ ॥
भगालमिति कपालम् ॥ १२ ॥
मणिधनुरितीन्द्रधनुः ॥ १३ ॥ (पारस्कर २।७)

गर्भिणी को विजन्या (जननेवाली) कहें, क्योंकि गर्भ शब्द का प्रयोग न करना चाहिए। नकुल (नेउले) को सकुल कहें, क्योंकि 'कुल नहीं' कहना अशुभ है। कपाल (खप्पर) को भगाल कहें क्योंकि स्नातक अब भीख मांगना छोड़ चुका है।[1] और खप्पर भीख का द्योतक है। 'प्रकृत्या भगालं' सूत्र (पाणिनि ६।२।१३७) के उदाहरणों में काशिका में भगाल, नदाल,—आदि शब्द कपाल के पर्याय माने गए हैं। इन्द्रधनु को मणिधनु कहें, क्योंकि इन्द्रधनुष देखने और दिखाने में पाप है।

इसी तरह उपनिषदों और गृह्यसूत्रों में स्त्री-सहवास के लिए 'उपहास' या अधोपहास[2] शब्द काम में लाया गया है और भाष्यकार पतंजलि ने 'काम' की जगह 'खेद' शब्द लिखकर नीचे उद्धृत किये हुए अंश में कितना ओज और सौन्दर्य भर दिया है—

'खेदात् स्त्रीषु प्रवृत्तिर्भवति। समानश्च खेदविरहोगम्यायां चागम्यायां च। तत्र नियमः क्रियते—इयं गम्या, इयमगम्येति।'

कुछ गांवों के नाम अशुभ माने जाते हैं। सुबह उठकर उनका नाम लेने से यह भय होता है कि भोजन न मिलेगा। उनके नाम बदलकर 'राजा का शहर', 'जववाला गांव,' 'डेढ़ कोस का गांव', 'मोटा गांव', 'तलाब वाला गांव', आदि रख दिए जाते हैं। कभी-कभी गांव का दुर्भाग्य नये नाम को भी नहीं छोड़ता, तब नये नाम की जगह और नाम गढ़ा जाता है। ऐसे नाम मेरी जानकारी में बहुत से हैं; परन्तु उनका यहां लिखना एकदेशी और उनके निवासियों के अकारण चिढ़ाने का कारण हो सकता है।

शहरों के नाम बदलने की चाल बहुत पुरानी है। पंतजलि ने महाभाष्य में

१. न ह वै स्नात्वा भिक्षेत, अप ह वै स्नात्वा भिक्षां जयतीति श्रुते : (पारस्कर २।७।६)
२. पारस्कर २।७।९ ; बृहदारण्यक ६।४।३ आदि।

जहां मणिवाचक वैदूर्य शब्द को सिद्ध करने वाले पाणिनि के सूत्र (४।३।८४) की व्याख्या की है वहां यह प्रश्न किया है कि यह मणि विदूर — नगर में तो निकलता है नहीं; उसके पास वालवाय पर्वत में निकलता है; विदूर में लाकर तराशा जाता है—तो इसका नाम वैदूर्य कैसे ? इसका समाधान आचार्य ने यों किया है कि 'वालवाय' शब्द की जगह विदूर आदेश हुआ मान लो, या उस पर्वत का विदूर ही नाम सही; नहीं तो जित्वरी की तरह उपचार मानो, जैसे व्यापारी लोग वाराणसी (बनारस) को जित्वरी (जीतने वाली) नगरी कहते हैं वैसे ही वालवाय का नाम विदूर समझो।

मांसाहारियों को अपने भक्ष्य के लिए, 'तरकारी' शब्द का प्रयोग करते देख निरामिषाशी तरकारी के बदले 'साग' या 'भाजी' ही शब्द काम में लाते हैं। जहां कहीं पहली श्रेणी के लोग अपने भक्ष्य को 'भाजी' कहते हैं, वहां दूसरी श्रेणी के लोग 'तरकारी' को अपना लेते हैं। उर्दू पढ़ी हुई दिल्ली की नई बहू यदि 'खाना तैयार है, खाना खा लो, खाना पकाऊं ?' कहने लगती है तो वैष्णव श्वसुर शब्दों के साहचर्य से डरकर कानों पर हाथ रखता है। शाक को काटना या चीरना नहीं कहा जाता; बनारना या बंदारना (विदारण) कहा जाता है। और जिस शस्त्र से यह क्रिया की जाती है उसे 'छुरी' न कहकर केवल 'चाकू' कहते हैं।

संस्कृत में 'सपत्राकरण' और 'निष्पत्राकरण'—ये दो मुहावरे हैं। ये अत्यन्त पीड़ा पहुँचाने के अर्थ में (अति व्यथने) आते हैं। पाणिनि ने इनके लिए एक निराला सूत्र (५।४।६१) बनाया है। तीर के पिछले हिस्से में पंख लगे रहते हैं, जो तीर के दूर जाने में सहायक होते हैं। यदि तीर शिकार के शरीर में इस जोर से धंस जायँ कि पर ही पर बाहर रह जायँ तो इस क्रिया को सपत्राकृ० कहते हैं। और यदि बाण इस वेग के चलाया जाय की परों सहित समूचा बाण पार निकल जाय' तो इस अर्थ में निष्पत्राकृ० धातु काम में आता है। टीकाकारों ने उदाहरणों में यही समझाया है। प्रत्युदाहरणों में यह भी दिखाया है कि सपत्र (पत्रों सहित) और निष्पत्र (पत्तों रहित) करने के अर्थ में सपत्राकर्० और निष्पत्राकर्० प्रयोग नहीं हो सकते, जैसे —

सपत्रं वृक्षं करोति जल सेचकः।
निष्पत्रं वृक्षतलं करोति भूमिशोधकः॥ (काशिका)

यह अप्रकरण-चर्चा नहीं है। तमाशा देखिए। भाष्यकार पतंजलि बड़े

१. ....पत्री
वन्यस्य नेत्र विवरे महिपस्य दत्तः।
निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुखस्तं पातयां प्रथममास, पपात पश्चात्॥ (रघुवंश)

मसख़रे थे। वे कहते हैं कि जैसे कुम्हार के यहां जाकर कह आते हो कि घड़े की जरूरत है, घड़ा बना दो, वैसे वैयाकरण के यहां जाकर कोई नहीं कहता कि शब्द गढ़ दो, हमें प्रयोग करना है। इसी तरह एक और स्थान पर व्यंग्य से वे यह झलकाते हैं कि वैयाकरणों के अनुबंधों को भी हाथ जोड़कर राजाओं की इच्छा के अधीन होकर नाचना पड़ता है। धन के लोभी मौर्य यदि सोने की अर्चायें (प्रतिमायें) चलाते हैं तो वहां 'जीविकार्थे चापण्ये' (५।३।९९) सूत्र का 'क' प्रत्यय मुंह देखता रह जाता है। प्रयोजन यह कि शब्दों का अर्थ और प्रयोग लोक-व्यवहार के अधीन है, वैयाकरणों के अधीन नहीं। व्याकरण को छोड़कर उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, सान्निध्य आदि भी तो शक्तिग्रह के कारण हैं।

राठौड़ राजा अमोघवर्ष प्रथम (ईसवी दसवीं शताब्दी) के समय में जैन शाक्टायन ने एक व्याकरण बनाया और उसकी अमोघ वृत्ति नामक टीका लिखी। इन दोनों मुहावरों पर जैन शाकटायन ठिठके। व्याकरण को भी तो हिंसा से बचाना चाहिए। रघुवंश आदि महाकाव्य कितने ही अच्छे हों पर उनमें 'मिथ्यात्व' भरा पड़ा है। इसलिए धर्मशर्माभ्युदय या चन्द्रप्रभचरित पढ़ना चाहिए, यह धारणा जैसे वर्तमान जैनों की है वैसे ही उस समय भी थी। क्या करें? पहले 'निष्पत्राकरण' को लिया। इसका अर्थ तो सीधा हो गया 'पत्त अलग करना'। पुराने वैयाकरणों के प्रत्युदाहरण की कौन चलाई, जिसमें इसी अर्थ का खंडन किया गया है। और जैन-धर्म के अनुसार पत्तों और वृक्षों में भी तो जीव है और हरे वृक्ष के पत्ते काटने में उतना ही 'अतिव्यथन' है जितना असली 'निष्पत्राकरण' में। बस, निष्पत्राकरण का अर्थ हुआ वृक्ष के पत्ते उखाड़ना। अब रहा सपत्राकरण। यहां क्या करें? यहां वह लोकरीति काम आई जिस पर यह लेख लिखा गया है—

'सपत्राकरोत्यपि मंगलाभिप्रायेण वृक्षस्य निष्पत्राकरणमेवाख्यायते। यथा दीपो नन्दतीति विध्वंसः। (३।४।५०)

सपत्राकरण का अर्थ भी वृक्ष के पत्ते नोचना ही है, केवल मंगल के लिए निष्पत्र को सपत्र कह दिया है। जैसे दीपक बुझने को 'नन्दना' कहते हैं!!

इस प्रसंग में प्रोफेसर के० बी० पाठक ने यह सूचित किया है कि कन्नड़ी भाषा में 'नन्दु' धातु का अर्थ बुझना भी होता है।

ऊपर के कई उदाहरणों में हम 'नकुल' के 'सकुल' होने और 'बुझने' के 'नंदना' होने को देख चुके हैं। अतएव हम जैन शाकटायन की युक्ति की प्रशंसा करते हैं। इस संबंध में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि मार्च सन् १९१५ की सरस्वती में 'प्राणैषणा' की समालोचना के उपान्त्यवाक्य में जो कुछ कहा गया है वह, और वृहदारण्यक उपनिषद् के 'काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेत्'

के आर्य्य समाजी भाष्यकार पर जो, कुछ समय हुआ, सरस्वती में कहा गया था वह किसी नई बात की चर्चा नहीं है—वह हमारे दार्शनिकों के एक परिचित उदाहरण पीलिया रोगवाले के रूपग्रहण—का स्मारक मात्र है।

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : मई, सन् १९१५ ई०]

विज्ञान

आँख

[१]

"य एषोक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति
होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म" —छान्दोग्य ४।१५।१[1]
"अक्षि चष्टेरनक्तेरित्याग्रायणस्तस्मादेत
व्यक्ततरे इव भवतः —निरुक्त १।३।४[2]

परमेश्वर की रचना में यों तो एक से एक अद्भुत, अनुपम और सुन्दर पदार्थ हैं; सारा विश्व ब्रह्माण्ड ही ऐसा है कि अपने गुणों से अपने कर्त्ता के लिए वह बारम्बार कहलाता है कि—

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह[3]

तथापि मनुष्यदेह से अधिक कोई पदार्थ अद्भुत नहीं। यही ईश्वर का प्रथम मन्दिर है, यही जगत् की सब लीलाओं का केन्द्र है। यदि किसी घर का

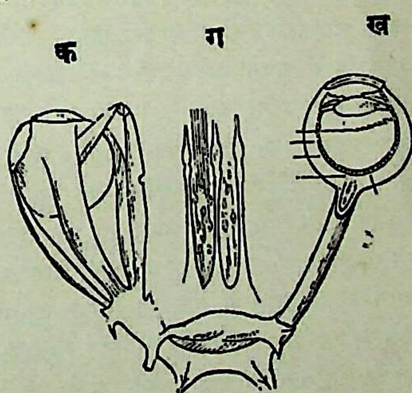
१. यह आँख में जो पुरुष दिखाई देता है, यही आत्मा है। यही अमृत है, यही अभय है और यही ब्रह्म है। —सम्पादक

२. 'अक्षि' शब्द 'चक्षु' धातु से निष्पन्न होगा। 'अञ्ज्' (प्रकाशित होना या करना) से ('अक्षि; शब्द) बनेगा ऐसा आग्रायण (आचार्य) मानते हैं। (ब्राह्मण ग्रंथों से) यह पता लगता है कि—"इस कारण यह (आँख) अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक व्यक्त-सी होती है।"

इस पर डॉ० वाचस्पति उपाध्याय की टिप्पणी इस प्रकार है—'अक्षि' शब्द की व्युत्पत्ति यास्क ने 'चक्ष्' देखना धातु से मानी है। यास्क से प्राचीन आचार्य आग्रायण ने 'अञ्ज्' (प्रकाशित होना या करना) धातु से 'अक्षि' शब्द की निष्पत्ति मानी थी। ब्राह्मण-ग्रंथकारों को भी 'अञ्ज्' धातु से ही 'अक्षि' शब्द बनाना अभीष्ट था। इसी दृष्टि से यास्क ने किसी ब्राह्मण का 'तस्माद् एते व्यक्ततरे इव भवतः' यह वाक्य उद्धृत किया, जिसमें यह कहा गया है कि आँखें अधिक व्यक्त-सी होती हैं। —सम्पादक

३. जहां न पहुंचकर वाणी मन के साथ लौट आती है। —सम्पादक

रहनेवाला अपने निवास का हाल न जाने तो वह हास्यास्पद होता है; किन्तु इस पवित्र घर में रहते भी हम इसका वृत्तान्त न जानने के अपराधी हैं। इस घर की प्रधान खिड़की आँख ऐसी विलक्षण है कि न्यूटन के कथनानुसार आँख की परीक्षा नास्तिकता की परम महौषधि है। ऊपर लिखी श्रुति का अभिप्राय यह है कि ज्ञानी लोग आँख ही के द्वारा सच्चिदानन्द का ज्ञान प्राप्त करते हैं। निरुक्तकार 'अक्षि' का अर्थ यह करते हैं कि वह स्वयं बहुत व्यक्त होती है अथवा सब चीजों को व्यक्त करती है। साधारण कहावत है कि आँख मूंदने पर कुछ भी नहीं रहता। सच है, आँख की आवश्यकता और उपयोगिता की महिमा तब तक कदापि कम नहीं हो सकती जब तक कि मनुष्य जाति और इन्द्रिय उत्पन्न न कर ले। दूरबीन प्रभृति विज्ञान के मुकुट स्वरूप यन्त्र आँख के परिशेष-पूरक हैं। आँख न होने से वे किसी काम के नहीं। विशेष करके चञ्चलता और त्वक् से सम्बन्ध होने के कारण आँख ने मानो जगत् के ज्ञान-साम्राज्य को ठोकर ही मार दी। ऐसी अनुपम इन्द्रिय का वृत्तान्त किसको न रुचेगा? नैयायिकों के अनुसार कृष्णतारा के अग्रभाग में स्थित चक्षु इन्द्रिय आलोक-संयोग, और उद्भुत रूप संयोग से, उद्भुत रूप, रूपवान् द्रव्य, पृथक्त्व, संख्या, विभाग, संयोग, परत्व, अपरत्व, स्नेह, द्रवत्व और परिमाण तथा क्रिया जाति और समवाय का ग्रहण करती है। गवेषणा के नायक पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने आँख पर क्या-क्या लिखा है उसका एकसाथ समावेश करना अति दुष्कर है। तथापि उसका सार देने का यत्न किया जाता है।

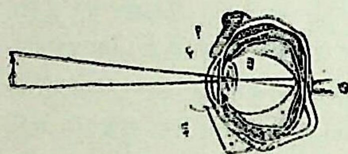


चित्र १

क बाईं आंख स्नायु दिखाती हुई ग शंकु, और छड़ियां
ख दाहनी आँख का असली रूप।

आँख बाहर से प्रायः गोलाकार होती है। सामने ही जो काँच की सी झिल्ली दिखाई देती है उसे 'कार्निया' कहते हैं। इसके पीछे थोड़ी दूर पर आइरिस नाम की झिल्ली है; यह वही रङ्गीन गोल पदार्थ है। जो आँख के सफ़ेदे के बीच में दिखाई देता है। इस झिल्ली के बीच में एक छिद्र होता है। यह मनुष्य की आँख में गोल होता है; बिल्ली की आँख में तङ्ग और लम्बा होता है। इसीके द्वारा किरण आँख के भीतर प्रवेश करते हैं। प्रकाश के प्रवेश को नियमित करने के लिए यह फैल और सिकुड़ सकता है। इसके पीछे,

बहुत पास ही, दोनों ओर से उन्नतोदर एक काँच वा उसके सदृश पदार्थ है। यह भी फैल और सिकुड़ सकता है। इस ताल को यथास्थान रखने के लिए 'सिलिएरी' स्नायु नामक एक मांस का छल्ला है, जो ऊपर के ढक्कन स्केलोरेटिक में ही लगा हुआ है। इसके पीछे का सब भाग, आँख के पिछवाड़े तक, अण्डे के रस के सदृश चिपचिपे पारदर्शक पदार्थ से भरा हुआ होता है, जिसे 'काचीय अर्क' कहना उचित होगा। आगे, 'काच' और कार्निया के बीच में भी ऐसा ही विमल रस है जिसे 'जलीय अर्क' कहते हैं। आँख के अन्दर का सब पिछला भाग रेटिना नामक मुलायम, श्वेत और विमल झिल्ली से मढ़ा हुआ है। यह मानो उस ज्ञानतन्तु का जाल की तरह फैला हुआ अग्रभाग है जो यहां से मस्तिष्क तक जाने तथा दर्शन का ज्ञान कराने के कारण चाक्षुष ज्ञानतन्तु कहलाती है। रेटिना ही दर्शनेन्द्रिय का प्रधान तथा दुर्बोध भाग है। ज्ञानतन्तु पीछे से आकर तन्तु-शिराओं के रूप में अन्दरी सतह पर फैले हुए हैं वहाँ से पीछे को मुड़कर मस्तिष्क के प्रथम स्वरूप गोल-गोल कणों की तरह वे व्याप्त हैं; वा छड़ी से अथवा शंकु, के से टुकड़ों का रूप धारण करके आड़े पड़े हुए हैं। मनुष्य की आँख में इन शंकुओं की संख्या ३२,६०,००० मानी गई है; छड़ियों की संख्या का पता नहीं। इन छड़ियों में एक प्रकार का रङ्ग है जो प्रकाश में उड़ जाता है और अन्धेरे में फिर व्याप्त हो जाता है। इन छड़ी शङ्कुओं का पूरा कर्तव्य क्या है सो तो मालूम नहीं, हां, आकारपरिज्ञान तथा रङ्गज्ञान में यह काम देते हैं। यदि आलोक ज्ञानतन्तु के एक ऐसे स्थान पर पड़े जहां कोई शंकु न हो, तो कुछ देख नहीं पड़ता; इस स्थान का नाम 'अन्धबिन्दु' है। इसके विरुद्ध एक दूसरे स्थान पर बहुत से शङ्कु रक्खे हुए हैं; वहां पर बहुत तीव्र दर्शन होता है। इस स्थान को 'पीतबिन्दु' कहते हैं। यह सब आँखों में एक स्थान पर नहीं होता; तथा मृत्यु के पीछे बहुत कम देर तक रहता है। बकरे की आँख में इस बिन्दु को मैंने स्वयं देखा है। रेटिना के पीछे एक ओर कोरोइड नामक झिल्ली है। उसमें कुछ काले गोल दानों के समान पदार्थ है जो उन किरणों को शोष लेता है जो दर्शन में काम नहीं दे सकतीं। अन्त में यही कहना है कि 'स्क्लेराटिक' नाम की झिल्ली आँख को घेरे हुए है और आगे आकर कार्निया में मिल गई है। यह सफ़ेद ढक्कन आँख को सुरक्षित रखता है। इसी में पतली ढकनी से ढका हुआ छिद्र काच की खिड़की का काम देता है।

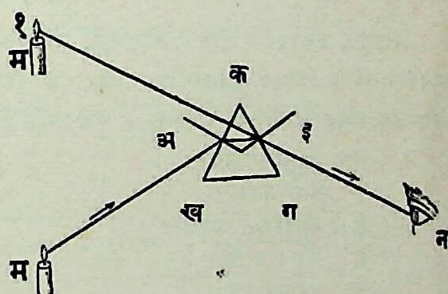


चित्र २

१. कार्निया। २. इरिस। ३. कांच।
४. रेटिना। ५. काली चद्दर।
६. स्केलेरोटिक। ७. ज्ञानतन्तु।

आँख की विशेष उपयोगिता इसी में है कि इसके प्रबन्ध के लिए कितने ही स्नायु हैं जो इसको समय-समय पर मोड़ वा बदल सकते हैं। अन्दर के सीलियरी छल्ले का हाल कह ही चुके हैं। यह समीपावलोकन के लिए काच को दबाकर अधिक उन्नतोदर कर देता है। बाहर की तरफ कपाल की हड्डी से लगे हुए स्नायु हैं। उनमें से चार तो खड़े हैं और डेले को ऊपर-नीचे घुमाने का काम देते हैं; और दो अगल-बगल में रहकर आंख को तिरछा घुमा सकते हैं। इनसे आँख की धुरी बदल सकती है और हम पदार्थों को ध्यानपूर्वक देख सकते हैं। यदि आँख का डेला स्थिर होता तो आँख से बहुत कम ज्ञान मिलता। इस चञ्चलता से पदार्थपरिज्ञान में बड़ा काम निकलता है।

नेत्र द्वारा ज्ञान का मुख्य करण दोनों ओर से उन्नतोदर इस काच को ही गिनना चाहिए; क्योंकि आलोक इसीके द्वारा भीतर जाकर ज्ञानतन्तु सम्बन्धी प्रकम्पन में परिणत होता है। अतएव, यहां पर ताल, काच और उन पर आलोक पड़ने के प्रभाव पर कुछ कहना अनुचित न होगा।



चित्र ३

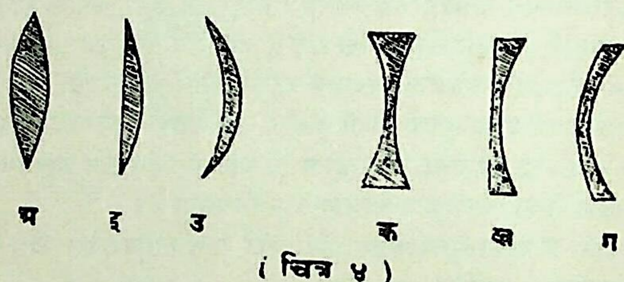
म मोमबत्ती, क ख ग ताल, अ इ प्रकाश की किरण के मुड़ने के स्थल 'न' आंख 'में'' मोमबत्ती का प्रतिबिम्ब।

यहां काच वा ताल से 'दर्पण' का अभिप्राय नहीं है, किन्तु ऐसे काच के टुकड़े से अभिप्राय है जिसके दोनों किनारे एक-दूसरे के समानान्तर न होकर किसी कोण को बनाते हुए झुके हों। सुप्रसिद्ध तिकोने काच में पदार्थों को उठा हुआ देखने के दृष्टान्त और इस चित्र से जान पड़ेगा कि आलोक की किरणें तरल पदार्थ से अधिक घने पदार्थ में घुसती बेर मुड़ जाती हैं।

[२]

आलोक की किरण जिस पदार्थ में प्रवेश कर रही है उसकी सतह पर लम्ब खींचा जाय तो तरल पदार्थ में उस किरण का लम्ब के साथ बना हुआ कोण, घने पदार्थ में बने हुए कोण से बड़ा होगा। 'क ख ग' ताल में 'म' मोमबत्ती की किरण जा रही है। वह 'अ' 'इ' स्थानों पर उपर्युक्त नियमानुसार दो बेर मुड़कर 'न' नेत्र में पहुंची। अतएव 'न' नेत्र को, 'म' अपने स्थान में नहीं किन्तु 'न इ'' सिलसिले में 'म' पर दिखाई देगी। अर्थात् विपर्यय में देखे जाने से,

पदार्थ, उसकी चोटी की तरफ़, किरणों के वक्रीभवन से, बदले हुए दिखाई देते हैं। प्रकाश को दो बेर मोड़ देने का यह गुण, तालों के विषय में जो कुछ कहा जायगा, उसका आधार है।



(चित्र ४)

ताल ६ प्रकार के होते हैं और उन्हें दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। इनके गुणों के विचार के लिए 'अ' और 'क' का ही विचार बस होगा, क्योंकि उस-उस समूह के और-और तालों के गुण उनके ही सदृश हैं।

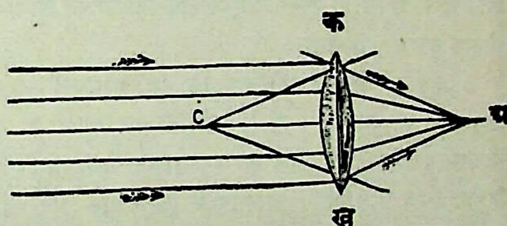
अ	उभयोन्नतोदर	केन्द्राकर्षक
इ	समोन्नतोदर	
उ	मध्यस्थूल अर्धचन्द्र	
क	उभय नतोदर	केन्द्रापसारक
ख	समनतोदर	
ग	मध्यकृश अर्धचन्द्र	

उन्नतोदर ताल—यदि दो वृत्त एक-दूसरे को काटें तो जो भूमि दोनों वृत्तों में समान होगी वही उभयोन्नतोदर ताल होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। इन दोनों वृत्तों के केन्द्र, गुलाई के केन्द्र, और उन दोनों केन्द्रों को जोड़नेवाली ताल में होकर जानेवाली रेखा प्रधान धुरी कहलाती है। काच के दोनों किनारों से समान दूरी पर, प्रधान धुरी पर जो बिन्दु हो उसे दर्शन केन्द्र कहना उचित होगा। ऐसी और कोई रेखा जो दर्शनकेन्द्र में होकर जाय, किन्तु गुलाई के केन्द्रों से दूर रहे, उसे गौण धुरी कहेंगे। प्रधान धुरी एक ही होती है; गौण धुरी अनन्त हैं। अनन्त सरल रेखाओं के मिलने से वक्र रेखा वा वृत्त बनता है। अतएव अ इ उ तालों को हम अनन्त त्रिपार्श्वों के, एक के आधार में दूसरे तथा दूसरे के आधार में तीसरे के, जुड़ने से बना हुआ मान सकते हैं। क ख ग तालों को इसके विरुद्ध चोटी की तरफ़ जुड़े हुए मान लें। अब यह समझना कठिन न होगा कि उन्नतोदर ताल केन्द्राकर्षक क्यों होते हैं, और नतोदर केन्द्रापसारी क्यों होते हैं। क्योंकि त्रिपार्श्व में किरणें दो दफ़ा मुड़कर आधार की तरफ़ जाती हैं। उन्नतोदर में जुड़े अनन्त त्रिपार्श्वों का आधार बीच की तरफ़ और नतोदर में ऊपर की तरफ़ होता है। इसीलिए उन्नतोदर में किरणें बीच में आती

हैं और नतोदर में ऊपर की ओर उड़ जाती हैं।

(१) मान लीजिए कि किसी उन्नतोदर ताल पर बहुत दूर के पदार्थ की किरणें पड़ रही हैं—इतनी दूर से कि वह एक स्थान से प्रचलित न दिखाई देकर समानान्तर दिखाई देती हों, जैसे सूर्य की किरणें, तो उन किरणों में से जो किरण प्रधान धुरी पर जाती है वह तो मानो समानान्तर ताल में होकर जा रही है और बिना वक्र हुए निकल आती है। इससे कुछ दूर की किरण, नियमानुसार दो दफ़ा मुड़ती है और मध्यकिरण से समानान्तरता नष्ट होने पर उससे मिलती है। उससे अधिक दूर की किरण, अधिक झोंकवाले त्रिपार्श्व में टकराने से, अधिक झोंक खाकर मुड़ती है, क्योंकि ताल की झोंक केन्द्र से ऊपर की तरफ़ बढ़ती जाती है। इसीलिए यह मुड़कर पहली दो किरणों से उसी स्थान पर मिलती है जहां वे मिली थीं। ऐसे ही अधिक अधिक दूर की किरणें, अधिक अधिक झोंक खाकर, प्रधान धुरी के ऊपर या नीचे, एक विन्दु 'अ' पर मिलती हैं।

यों समानान्तर किरणजाल केन्द्राकृष्ट किरणजाल बनकर एक बिन्दु पर मिलता है। इस बिन्दु का नाम अंशुनाभि है। वास्तव में यह सूर्य का चित्र है। उन्नतोदर ताल ही 'आतिशी शीशा' कहाता है। इस नाभि में आलोक ही नहीं, उष्णता भी इकट्ठी होकर जलाने का काम दे सकती है। ताल पर जिस तरफ़ से किरणें आती हैं उसके दूसरी तरफ़ यह बनता है। जितनी कांच की गुलाई अधिक होगी, उतनी ही यह नाभि छोटी और उष्ण होगी। यह नाभि सच्ची है अर्थात् ताल के पीछे कपड़ा या काग़ज़ रखने से दिखाई देगी।



(चित्र ५)

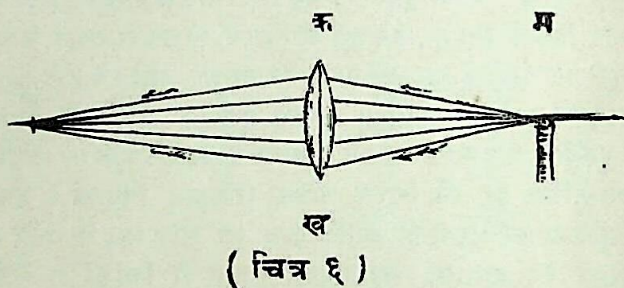
क ख ताल। अ अंशुनाभि

(२) अब मान लीजिए कि आलोक का पदार्थ (मोमबत्ती) अधिक समीप आ गया है; किन्तु अंशुनाभि से दूर है। समानान्तर किरणों की अपेक्षा इनमें एक-दूसरे से कम अन्तर है, इसीलिए ताल के दूसरी ओर निकलकर यह उतनी जल्दी केन्द्राकृष्ट नहीं होतीं, किन्तु अंशुनाभि से हटकर अगाड़ी मिलती हैं।

[३]

यहां 'म¹' को 'म' का संयोगी केन्द्र कहना पड़ता है, अर्थात् यदि मोमबत्ती 'म'

पर हो तो छाया चित्र 'म' पर और वह 'म' पर हो तो 'म¹' पर होगा। ऐसी नाभियों की कोई संख्या नियत नहीं। उनके लिए यही नियम है कि आलोक का



(चित्र ६)

क ख ताल। म प्रकाश का संयोगी केन्द्र म¹ और म¹ का म है।

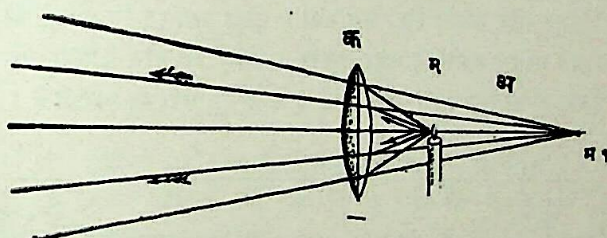
पदार्थ अंशुनाभि के जितना समीप हो, उसका संयोगी केन्द्र उतना ही दूर होगा— "विपरीते विपरीतम्"। उपपत्ति यह है कि पदार्थ से आनेवाली किरणें ज्यों-ज्यों अधिक केन्द्रापसारी होती जाएंगी त्यों-त्यों उनकी छायाकिरणें अधिक केन्द्रापसृत होकर दूर पर मिलेंगी।

(३) अब कल्पना कीजिए कि 'म' मोमबत्ती ताल के समीप आते-आते अंशुनाभि पर आ गई। मैं (१) में जो कह चुका हूं उसके अनुसार इसमें से निकलनेवाली किरणें ताल के पार जाकर समानान्तर हो जाएंगी और कहीं भी उनका चित्र न बनेगा। वास्तव में अनन्तता और अंशुनाभि ये दोनों (२) के अनुसार परस्पर संयोगी केन्द्र हैं; अनन्तता से आई किरणें अंशुनाभि पर मिलती हैं और अंशुनाभि से चली हुई अनन्त दूरी पर मिलती हैं। चित्र ५ देखिए।

(४) अब तक हमने जिन नाभियों व चित्रों का वर्णन किया है वे सच्चे हैं अर्थात् जिधर से ताल पर किरणें आती हैं उसके दूसरी ओर काग़ज़ वा परदा लगाने से वे दिखाई देती हैं। किन्तु, यदि आलोक का पदार्थ अंशुनाभि और ताल के बीच में आ जावे तो और ही तमाशा होगा। अर्थात् झूठी नाभि बनेगी। हम देखते आये हैं कि किरणें ज्यों-ज्यों ताल के समीप आती गईं, त्यों-त्यों केन्द्र से छायाकिरणों की अपसारण की मात्रा बढ़ती गई। यहां तक कि अंशुनाभि के प्रकाश की किरणें समानान्तर हो गईं। अब अधिक समीप आने से बाहर निकलने वाली किरणें और भी केन्द्रापसृत होंगी (चित्र ७) देखिए। अतएव चित्र बनने के बजाय देखनेवाला यह समझेगा कि ये किरणें 'म' से न आकर 'म¹' से आई हैं, जहां पर अपसर्पिणी रेखाएं बढ़ाने से मिलती हैं। यह भ्रममात्र है; यह चाक्षुष छल है।

तो उभयोन्नतोदर ताल के ये गुण हुए— (१) दूरी के समानान्तर रेखाओं

का सच्चा चित्र अंशुनाभि पर और अंशुनाभि से चलनेवाली किरणों का चित्र, दूसरी ओर निकल कर, अनन्त दूरी पर बनता है। (चित्र ५) (२) अंशुनाभि से दूर के पदार्थों का चित्र दूसरी ओर अंशुनाभि के समीप, और समीप के पदार्थों का दूर पड़ता है। ऐसी नाभि संयोगी केन्द्र कहलाती है (चित्र ६)(३) अंशुनाभि और ताल के बीच के पदार्थों का चित्र झूठा, और जिधर पदार्थ होता है उधर ही, बनता है। (चित्र ७ को नीचे देखिए) अब तक आलोक को एक बिन्दु से आता मानकर इस विलक्षण ताल के गुण समझाए गए हैं। अब मान लीजिए



चित्र ७

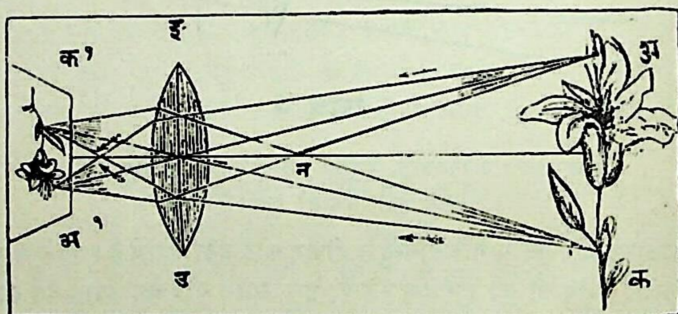
क ख ताल। म मोमबत्ती, अंशुनाभि म और ताल के बीच में है।
इससे झूठा चित्र म१ बनता है।

कि आलोकदायक पदार्थ गणितबिन्दु न होकर कोई बड़ा पदार्थ है। पहले मोमबत्ती के आलोक बिन्दु ही को हम देख रहे थे; उस समय यदि हम ध्यान देते तो स्वयं मोमबत्ती के भी चित्र बनते हुए देखते। अस्तु, जिन पाठकों ने बिन्दु-चित्र को ध्यान से पढ़ा है वे पदार्थ-चित्र को भी ठीक-ठीक समझ जाएंगे।

(१) समानान्तर किरणों का आना सूर्य से वा किसी ऐसे ही विप्रकृष्ट पदार्थ से हो सकता है। अतएव अंशुनाभि पर बना चित्र किसी बिन्दु की नहीं किन्तु सूर्य की मूर्त्ति है। यह चित्र रङ्ग में और तेज में भी सूर्य के समान ही है। चित्र काच के समीप होने के कारण छोटा है और अपनी समीपता के अनुसार तेज रखता है। इतना और जान लीजिए कि यह चित्र उलटा है, किन्तु सूर्य के गोल होने से उलटेपन से कोई क्षति नहीं। विशेष हाल पहले कहा ही गया है।

(२) यदि कोई पदार्थ किरणाकर्षक ताल के सामने प्रधान धुरी से दूर रक्खा जाय तो ताल के दूसरी ओर परदा डालने से उसी पदार्थ का उल्टा चित्र दिखाई देगा। रङ्ग, ढङ्ग और सफ़ाई में यह बहुत ही ठीक उतरता है; यह पदार्थ की ठीक नक़ल है; इसमें दोष है तो यही कि वह उलटा है। इसकी बनावट समझना बहुत सहज है। नाभियों के विचार में प्रधान धुरी के विषय में जो कहा गया है, गौण धुरी के विषय में भी वही सब सच है। पहले आलोकदायक बिन्दु को प्रधान धुरी

पर मानकर मीमांसा की गई थी, किन्तु यहां कई गौण धुरियों पर कई आलोक-दायक बिन्दु हैं। चित्र ८ पर ध्यान देने से किरणों के मार्ग खूब साफ दिखाई देंगे। प्रत्येक धुरी गुलाई के केन्द्र में होकर जाती है; अतएव प्रकट है कि जिस धुरी का एक सिरा ऊपर होगा उसका सिरा ताल में होकर निकलने के बाद नीचे जाएगा। अतएव 'अ' बिन्दु की सब किरणें गुलाई के केन्द्र में होकर उस बिन्दु से आने वाली धुरी के दूसरे सिरे पर 'म' में कहीं होंगी। अर्थात् अ[1] 'अ' का संयोग केन्द्र, अर्थात् चित्र है। यों ही 'क' का चित्र 'क[1]' पर बनता है। अब देखिए 'अक' पदार्थ के प्रत्येक बिन्दु का चित्र (संयोगी केन्द्र) अपनी-अपनी धुरी पर बन गया अर्थात् अ[1] क[1] छोटा और उलटा चित्र बन गया। छोटा इसलिए कि पदार्थ की अपेक्षा ताल के वह अधिक समीप है और उलटा इसलिए कि गौण धुरियां पदार्थ और उसके चित्र के बीच में ताल की गुलाई के केन्द्र पर परस्पर काटती हैं।



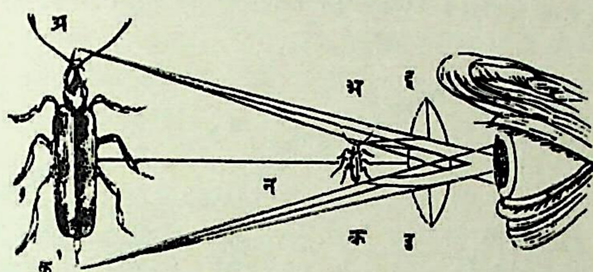
चित्र ८

इ उ ताल। न अंशुनाभि।
अ क पदार्थ का उलटा छायाचित्र अ[1] क[1]

कोई यह न समझे कि उन्नतोदर ताल में उलटा सच्चा चित्र पदार्थ से छोटा ही होता है; नहीं यदि पदार्थ समीप हो तो चित्र बड़ा भी हो सकता है। संयोगी केन्द्रों के परस्पर सम्बन्ध याद रखने से जान पड़ेगा कि यदि चित्र ८ में वास्तव पदार्थ अ[1] क[1] होता तो उससे निकलकर किरणें पहले की तरह मार्ग पर चलती हुई 'अक' पर बड़ा चित्र बनातीं। उन्नतोदर ताल पास के पदार्थों का उलटा चित्र दूर और दूर के पदार्थों का उलटा चित्र समीप डालते हैं।

यह सिद्धान्त विज्ञानशास्त्र में बहुत काम देता है। इन सच्चे चित्रों के अतिरिक्त ये ताल झूठे चित्र भी बनाते हैं। जब पदार्थ ताल और अंशुनाभि के बीच में होता है तब झूठा चित्र वैसे ही बनता है जैसे चित्र ७ में उपकेन्द्र वा झूठी नाभि बन गई थी। चित्र ९ को देखने से प्रतीत होगा कि पदार्थ 'अक' की किरणें

बाहर निकलती बेर ताल से टकराती हुई जब दूसरी ओर निकलती हैं तब वे



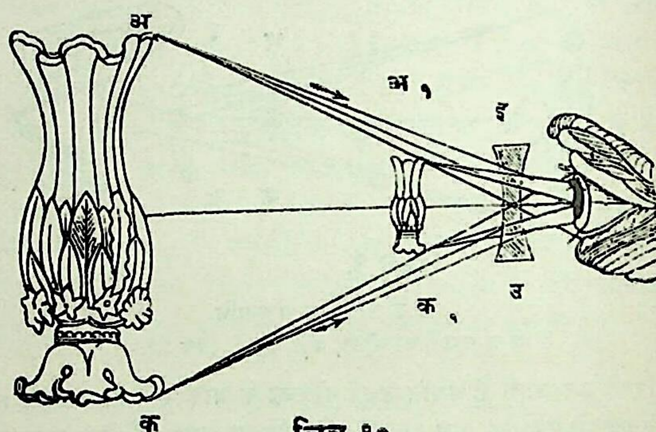
चित्र ९

इ उ ताल। न अंशुनाभि
अ क पदार्थ का सीधा, बड़ा, झूठा, चित्र अ' क'

अपसारिणी बन जाती हैं अर्थात् उलटे गोपुच्छ के आकार में हो जाती हैं। उनके आँख में पहुंचने पर यह भ्रम होता है कि किरण जाल 'अ' से न चलकर अ' से चला है जहां कि बढ़ाने पर यह मिल जायेगा और जो इस अवसर्पि-किरण-जाल का शिखर है। अतएव 'अक' पदार्थ का बढ़ा हुआ चित्र अ' क' दिखाई देता है। यह चाक्षुष भ्रम ही है। यह न परदे पर देखा जा सकता है और न वास्तव में ही। वास्तव चित्र सदा उलटा होता है किन्तु उसके विरुद्ध यह सदा सीधा और बड़ा होता है। सीधा इसलिए होता है कि पदार्थ से आनेवाले किरण मुड़कर भी आँख तक आते-आते परस्पर नहीं काटते; और बड़ा इसलिए कि यह चित्र 'अ' 'क' में होकर जानेवाली गौण धुरियों के सम्पातबिन्दु से पदार्थ की अपेक्षा अधिक दूर है।

अबनतोदर तालों की भी दो-चार बातें सुन लीजिए। पहले कह चुके हैं कि नतोदर ताल की मुटाई बीच में बहुत छोटी होती है। उन्नतोदर काच में दोनों पार्श्वों का एक-दूसरे की ओर झुकाव केन्द्र से छोरों की तरफ बढ़ता जाता है; किन्तु यहां उलटी बात है। इसीलिए फल भी उलटा है। अर्थात् उन्नतोदर ताल किरणों को दो बेर उसी तरफ़ को मोड़कर प्रधान धुरी की ओर केन्द्राकृष्ट करते हैं। वैसे ही ये दो बेर मोड़कर केन्द्र से अधिक दूर कर देते हैं। चित्र १० देखिए। ताल में होकर जानेवाली किरणें दो दफ़ा मुड़कर आधार की ओर खिच आती हैं। उन्नतोदर ताल में आधार बीच में और नतोदर में ऊपर होता है। इन सब पहले कही हुई बातों को याद करके कह सकते हैं कि पदार्थ 'अ क' से आनेवाली किरणें दो बेर मुड़कर अधिक अपसृत हो जाती हैं। इस मोड़ से यह फल हुआ कि किरण जाल 'अ'' बिन्दु से आता हुआ प्रतीत होता है। इसी प्रकार क से आनेवाली किरणें 'क'' में आती ज्ञात होती हैं। फल यह हुआ कि एक छोटा

चित्र असत्य अ¹ क¹ पर दिखाई देता है। यह चित्र असत्य है और गुलाई के केन्द्र के पास होने से छोटा है। नतोदर ताल में यही हो सकता है।



चित्र १०

इ उ ताल
अ क पदार्थ का छोटा झूठा चित्र अ¹ क¹

तालों के वारे में जो कुछ कहना था हम कह चुके। जो कुछ है उससे आँख से सम्बन्ध नहीं और उसके लिखने का यह स्थान भी नहीं है। तथापि जिन तालों ने इतनी देर तक हमारे साथ रहकर ज्ञानोपदेश दिया उनसे इतनी जल्दी विदा भी नहीं हो सक्ते। अतएव इतना और जान लीजिए कि ताल अपने गुणों से हमको सहस्रों काम देते हैं; और वैज्ञानिक उनके गुणों का बखान कर, यश लेते हैं। उन्नतोदर ताल सूर्य की किरणों की गर्मी आकृष्ट करके जलाने का काम देते हैं। यदि भरी हुई बन्दूक पर उनको यों रख दीजिए कि बारूद उनकी अंशुनाभि पर हो तो मध्याह्नकाल में वे 'फायर' भी कर देते हैं। पानी भरे हुए गोल काच के घर के अन्दर रक्खी हुई मछलियां मर जाती हैं। समुद्र में जो रोशनीघर होते हैं उनमें दीपक के चारों ओर समोन्नत ताल यों रक्खे रहते हैं कि दीपक उनकी अंशुनाभि में हो। अतएव ये काच आलोक की किरणों को समानान्तर करके दूर-दूर तक प्रकाश का प्रतिस्फलन कर देते हैं। समीप रक्खे हुए छोटे पदार्थ का बड़ा चित्र बताने के लिए खुर्दबीन का और दूर के पदार्थों का चित्र समीप बता-कर दूरबीन का काम भी यही काच देते हैं। मैजिक लैण्टर्न में भीतर रक्खे हुए छोटे पदार्थों का बाहर की ओर यही बड़ा चित्र दिखाते हैं। और फोटोग्राफ केमेरा के बाहर रक्खे हुए बड़े पदार्थ का उलटा छोटा चित्र, मसालेदार काच पर डालकर, छाया चित्र भी यही बना देते हैं। भूत-प्रेतों के घटते-बढ़ते चित्र; एक

आकार के कई तरह के चित्र और तडित् फोटो; खुर्दबीन में बाल को सोटे का-सा और मच्छर को पेड़ का-सा आकार दिखा देना भी इन तालों का ही काम है। जिस चाक्षुष प्रत्यक्ष का हम वर्णन कर रहे हैं वह भी इन तालों ही की कृपा है। बुड्ढे और जवानों के चश्मे, जिनसे प्राकृतिक ताल की उपयोगिता बढ़ती जाती है, इन्हीं तालों से बनते हैं।

जब पाठक तालों के विषय में इतनी बातें जान गये हैं तब यह समझना कुछ भी कठिन नहीं है कि 'आँख' एक प्रकार का 'कैमरा आबसेक्यूरा' है। आँख में वही प्रक्रिया होती है जो चित्र १ और चित्र २ में दर्शित हैं। बाहर के पदार्थों की किरणें आँख के काच में होकर बीच में परस्पर काटती हुई रेटिना रूपी पर्दे पर उलटा छोटा सच्चा चित्र बनाती हैं। यहां तक पदार्थ-विज्ञान का काम है। जब यह उलटा चित्र रेटिना पर पड़ता है तब वहां पर पदार्थ का प्रकम्पन स्नायुओं के प्रकम्पन में परिणत हो जाता है। इस बात को जरा समझ लेना चाहिए। पहले वैज्ञानिकों का यह मत था कि प्रकाशवान् पदार्थ में से कई छोटे-छोटे कण सब दिशाओं की ओर फेंके जाते हैं और वे असीम वेग से सरल रेखाओं में दौड़ते चले जाते हैं। किन्तु अब विज्ञान का और ही सिद्धान्त है। सब वैज्ञानिक इस बात पर एक मत हैं कि एक अत्यन्त द्रव और सूक्ष्म पदार्थ ईथर नामक है। इसे संस्कृत-वैज्ञानिकों का आकाश कह सकते हैं। आकाश केवल शब्द-गुण का ही नहीं है; किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकम्पनों से भिन्न-भिन्न तरङ्ग उसमें आलोक, उष्णता और शब्द उत्पन्न कर सकते हैं।

आलोकदायी पदार्थों में से बन्दूक़ की गोली की तरह कोई चीज़ नहीं छूटती। उस पदार्थ के कण बिलकुल नहीं चलते। किन्तु अपने ही स्थान पर एक प्रकार का प्रकम्पन करते हैं। उस हरकत से आसपास के ईथर में प्रकम्पन की तरंगें, जैसे रस्सी के एक छोर को हिलाने से दूसरे छोर तक कम्प होता है, वैसी उठती हैं। वही प्रकम्पन चलता हुआ हमें आलोक की भावना देता है। ऐसे ही एक भिन्न प्रकार के प्रकम्पन उष्णता वा शीत का ज्ञान देते हैं। प्रकम्पन एक ही है। किन्तु आँख, कान वा त्वचा के भेद से तीन भेद हो जाते हैं। इन्हीं प्रकम्पमान किरणों की तेजी-मन्दी से रङ्ग का ज्ञान होता है। जो किरणें प्रति सेकण्ड ४५८ अयुतायुत (दश लाख गुना दश लाख) कम्प भोगती हैं वे लाल होती हैं। और जो ७२७ अयुतायुत प्रकम्पन पाती हैं, वे बैंगनी होती हैं। इस प्रकार प्रति सेकण्ड १,९०,००० मील चलनेवाली आलोक की किरणें अपने कम या ज्यादह प्रकम्पन के अनुसार, लाल, नारङ्गी, पीत, हरित, आसमानी, नीला, बैंगनी इन सात अकृत्रिम रङ्गों में प्रगट होती हैं।

सूर्य्य के प्रकाश को श्वेत मत समझिए। उस में ये सातों रङ्ग हैं। पदार्थों में भिन्न-भिन्न रङ्ग होने का कारण यह है कि जो पदार्थ और रङ्गों की किरणें

शोषकर, जिसकी किरणें प्रतिफलित करे, वह उसी रङ्ग का है। वृक्ष का पत्ता और रङ्गों की किरणें शोषकर केवल हरी किरणें प्रतिफलित करता है। ये किरणें आँख में टकराकर हरा ज्ञान उत्पन्न करती हैं। अब हम फिर पहली बात पर आ गये। पदार्थ ने जिस रङ्ग की किरणें और रङ्ग की किरणों को शोषकर प्रतिफलित की हैं वे आँख में ताल के पार पहुंचीं। कहना नहीं होगा, किरणें सूक्ष्म प्रकम्पन मात्र हैं। यह प्रकम्पन रेटिना में उलटा चित्र बना देगा। वहां पर इस प्रकम्पन के धक्के से चाक्षुष ज्ञानतन्तु में प्रकम्पन शुरू हो जायगा जोकि मस्तिष्क तक पहुंचकर ज्ञान उत्पन्न करने का सहायक होगा। यह न समझना चाहिए कि उस भीतर बने हुए चित्र को कोई देखता है। वह मस्तिष्क में देखने की शक्ति है। ज्ञानतन्तु-प्रकम्पन के साथ-साथ चाक्षुष प्रत्यक्ष की चेतना हो जाती है। बस, ज्ञानतन्तु-प्रक्रिया के साथ मानसिक प्रक्रियायें हो जाया करती हैं। यहां भी पदार्थ के प्रकम्पन के होने से मानसिक ज्ञान "मैं देखता हूं"—हुआ। इस प्रकार वैज्ञानिक नियमों के अनुसार चित्र बनकर उसके प्रकम्पन के साथ-साथ ही ज्ञान होने का नाम ईक्षण, अवलोकन, दर्शन वा रूप-संवेदन है।

ज्ञान-प्रकार

हमें आँख से स्वभावतः एक रङ्गदार सतह ही का ज्ञान होता है; और कुछ नहीं। यह जान पड़ता है कि यह सतह हमारे समीप है वा हम पर प्रभाव डालती है, किन्तु उस सम्बन्ध में अनुभव और तर्क करने से हम अपने ज्ञान को बहुत बढ़ा सकते हैं। यह बात 'लाक' आदि कई दार्शनिकों ने अनुमान की थी; किन्तु १७०१ ई० में 'अवलोकन का नया सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ में पहले-पहल 'बर्कले' ने ही यह सिद्ध किया कि हमें रैखिक अर्थात् रेखा-सम्बन्धिनी दूरी का ज्ञान आँखों से होता ही नहीं। सामने देखती बेर हमें रङ्गदार सतह का ज्ञान होता है सही, किन्तु वह कितनी दूर पर है, सो हम नहीं कह सकते। उक्त दार्शनिक ने अपनी खोज में पहले अवलोकन के विषय में इन प्रश्नों का विचार किया है—आँख से, स्वाभाविक रीति पर, हम क्या देखते हैं? किस इन्द्रिय के द्वारा हमें पदार्थों के प्रथम गुण ज्ञात होते हैं? त्वक् अर्थात् त्वचा आँख की कहां तक सहायता करती है? बर्कले का सिद्धान्त यह है कि आँख से हमें खाली रङ्ग जान पड़ता है। यह सिद्धान्त उसने पदार्थों के (१) दूरत्व (२) आकृति और (३) स्थान की गवेषणा से निकाला है।

[४]

पहले, दूरता स्वयं नहीं दिखाई दे सकती, क्योंकि यह ऐसी रेखा है जिसका लम्बाव में आँख की तरफ़ होने के कारण एक छोर रेटिना पर है और दूसरा

अदृश्य है। किन्तु हम इसको देखते हैं; इसलिए यह किसी दूसरे भाव की मध्यस्थता से मन को सूचना द्वारा ज्ञान देती होगी, क्योंकि मन भावों के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। उस समय के लोग कहते थे कि 'चाक्षुष धुरी' कोण बनाती है और उससे दूरत्व का ज्ञान होता है। किन्तु पदार्थों को दूर देखते समय तो हमें किसी कोण का ज्ञान नहीं होता। दोनों आँखों से किसी पदार्थ को देखकर जो हम उसकी दूरी का फैसला करते हैं सो केवल अनुभव का फल है और इसमें तीन सहायक हैं। (१) आँख में फेर-फार की स्नायु-सम्बन्धी भावना; (२) मन में, धुंधलेपन और दूरता के जो भिन्न-भिन्न दरजे हैं उनमें, सदा यह ज्ञान होने से कि पदार्थ का धुँधलापन दूरता के साथ वदला करता है, आदत से माना हुआ सम्बन्ध और (३) दूर-दृष्टि के समय आँख पर ज़ोर पड़ने की भावना। ये तीनों भाव मन में अधिक या न्यून दूरता का विचार उत्पन्न करते हैं। यदि कोई जन्मान्ध देखने में समर्थ हो जाय, तो पहले पहल उसको नज़र से दूरता का ज्ञान न होगा। सूर्य और तारे, सुदूर और सुनिकट पदार्थ उसे सब ही आँख में, अर्थात् मन में, प्रतीत होंगे। चक्षु वास्तव में रङ्ग मात्र का प्रत्यक्ष कराती है। जैसे कान से दूरता का ज्ञान नहीं होता वैसे इससे भी नहीं होता; दोनों दशाओं में त्वचा की पहली भावनाओं से ही दूरता का अनुमान होता है। वहुत काल तक इस बात का अनुभव करते रहने से कि त्वचा से जाने हुए कुछ भावों (दूरता, स्पृश्य आकार, स्थूलता आदि) के साथ आँख के भाव भी संबद्ध हैं, मैं, आँख के उन भावों के उपस्थित होने पर, उसी दम अनुमान करता हूं कि कौन से त्वचा के भाव, अभ्यास के अनुसार, अब मिलेंगे। सो यदि ठीक-ठीक कहा जावे तो मैं न तो दूरता देखता हूं; न किसी पदार्थ को किसी दूरी पर देखता हूं। वह विस्तार और आकार जो मैं आँख से देखता हूं, त्वचा से छुए हुए आकार और विस्तार से बहुत भिन्न हैं।

दूसरे। जैसे हम दूरी देखते हैं, वैसे ही, हम आकृति देखते हैं। दृश्य आकृति जो दिखाई देने वाले पदार्थ के सम्बन्ध में अपना स्थान बदलती ही रहती है, हमें स्पृश्य आकृति की सूचना देती है। स्पृश्य आकृति ही सच्ची है (१) दृश्य पदार्थ की आकृति वा विस्तार, (२) उसकी बाह्य रेखाओं की सफाई वा झिलमिलाहट, (३) उसके रङ्गों की तेज़ी वा धुंधलापन, (४) बीच में स्थित पदार्थों का आकार, संख्या और स्थिति और (५) आँख के विन्यास-विशेष के विशेष संज्ञान—ये सब चाक्षुष चिह्न हैं जो जीवों को सचेत करते हैं कि अपने देह को अमुक पदार्थ से, जो दूरी पर है, छुआने पर क्या भला वा बुरा फल होगा। दिखाई देने वाले चिह्न और स्पृश्य आकृतियों में यह सम्बन्ध सहज नहीं है। हम किसी पदार्थ की ठीक-ठीक आकृति नहीं देखते, किन्तु कुछ रङ्गदार विन्दु दिखाई देते हैं, जिनकी संख्या, अवलोकन क्षेत्र में एक पदार्थ के लिए उतनी ही होने के कारण, हमें आँख

से आकृति-ज्ञान का अभ्यास हो गया है।

तीसरे। अपने देह से भिन्न पदार्थों की सच्ची स्थिति वास्तव में अदृश्य है। कई बेर यह प्रश्न उठाया गया है कि यदि रैटिना पर छायाचित्र उलटा होता है, तो हम पदार्थों को खड़ा क्यों देखते हैं? इस कठिनाई का कारण यह है कि मैं नहीं समझता कि स्पृश्य पदार्थ और दृष्टि से पाये हुए ज्ञान में कोई सम्बन्ध नहीं है। जो कुछ मैं देखता हूं वह प्रकाश और रङ्गों का भेद-विशेष है; जो कुछ मैं छूता हूं वह कठोर वा मुलायम, गरम वा ठंढा, खरखरा या मृदु है। उन भावों का इन भावों से भला क्या सम्बन्ध है? 'ऊँचा' 'नीचा', 'ऊपर' 'तले' यह भेद हमको त्वक् से मालूम होता है। पदार्थ के चित्र में कोई गड़बड़ नहीं होती जब तक उसमें दृश्य पृथ्वी से दृश्य पैर समीप, और दृश्य सिर दूर प्रतीत होते हैं। अभ्यास से, ये अपने मुक़ाबिले के त्वक् के संवेदनों को सुझा देते हैं। वे पदार्थ, जिनका चित्र रेटिना के निचले भाग पर पड़ता है, आँख उठाने से साफ़ देख पड़ते हैं। इसी लिए हम उन्हें 'ऊपर' समझते हैं। यों ही वे पदार्थ जो आँख के ऊपरी भाग पर चित्रित हैं आँख नीची करने से साफ़ दिखाई देते हैं; अतएव वे 'नीचे' माने जातें हैं। 'बर्कले' अपनी मीमांसा को यह सिद्ध करके समाप्त करते हैं कि "विस्तार, आकृति आदि आँख से जाने हुए भाव त्वक् के उन भावों से बिलकुल भिन्न हैं जो इन्हीं नामों से प्रसिद्ध हैं। और दोनों इन्द्रियों में कोई भाव भी समान नहीं है। क्योंकि मैंअ ालोक और रङ्ग के सिवा कुछ नहीं देख सकता और वह, वा उनके अवान्तर भेद कदापि त्वक् के भाव नहीं है। हम स्पृश्य रेखा वा सतह में दृश्य रेखा वा सतह नहीं जोड़ सकते। इससे सिद्ध होता है कि ये दोनों भिन्न हैं। यदि अन्धे आदमी को आँख हो जाय तो वह उन पदार्थों को नहीं पहचानेगा जो उसे त्वक् से परिचित हैं। जैसे शब्द भावों के लिए चिह्न हैं वैसे ही दृश्य आकार स्पृश्य आकारों के चिह्न हैं। किन्तु यह प्रकृति की भाषा सर्वसाधारण और सरल है; क्योंकि बहुत जल्दी बाल्यावस्था में ही सीख ली जाती है। इसका फल यह है कि हम संसार के व्यवहारों में सचेत हो जायँ। दृष्टि वास्तव में 'दूरदृष्टि' है; त्वक् से जो भाव प्रतीत होते हैं उनका आभास दृष्टि से हो जाता है।

[५]

बस। ईश्वरीय नियमों से दृश्य आभास भूत वा भविष्यत् त्वक् के संवेदनों के विश्वस्त चिह्न हो गये हैं। दर्शन के चिह्नों का यह ज्ञान स्वाभाविक नहीं है; किन्तु दोनों प्रकार के संवेदनों के भूत सम्बन्ध से क्रमशः सीखा जाकर कल्पनाओं को सुझाता है।

इस तरह बर्कले ने सिद्ध किया है कि "पदार्थ हमें दूर दिखाई देते हैं", यह

केवल भ्रममात्र है; आँख से दूरत्व का ज्ञान नहीं होता; केवल कुछ स्पर्श के संवेदनों की सूचना हो जाती है जिसे हम व्यवहार में 'दूरत्व' मान लेते हैं। इसके बाद 'वर्कले' ने सिद्ध किया है कि दूरत्व ही कल्पना से उत्पन्न नहीं है, किन्तु यह वाह्य जगत् भी वैसा ही है। 'मन' से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। सब संवेदन मन की शक्ति का ही विकास हैं। जड़ जगत् (Matter) कोई चीज़ नहीं है; सब 'माया' ब्रह्म ही ने कल्पित की है। इस विषय को हम फिर कभी विस्तृत रूप से प्रतिपादन करेंगे।

दर्शनेन्द्रिय के विषय में 'वर्कले' के इस सिद्धान्त की पुष्टि उन अन्धे मनुष्यों की चेष्टाओं ने की है जिनकी जन्मान्ध आँखें प्रयोग द्वारा सुधारी गई हैं। हैमिल्टन ने ऐसे कई प्रयोगों का हाल लिखा है जिनमें से हम यहाँ तीन लिखते हैं :

चेसलडन प्रयोग : डाक्टर चेसलडन ने, १७२७ ई० में, एक १३।१४ वर्ष के जन्मान्ध की आँख सुधारी। आँखों से दूरता जानना तो दूर रहा, उसे सब पदार्थ आँखों से वैसे ही छूते हुए मालूम हुए जैसे छुए हुए पदार्थ त्वक् पर मालूम होते हैं। उसे मुलायम पदार्थ अच्छे मालूम होते थे; किन्तु वह देखकर पदार्थों में भेद नहीं जान सकता था। अतएव कई पदार्थ रोज़ सीखकर भी वह भूल जाता था। पदार्थों को देखकर फिर पहचानने के लिए उन्हें छूकर अपने मन में वह उनका ज्ञान उत्पन्न करता था। कुत्ते-बिल्ली का भेद वह बार-बार भूल जाता था। अतएव बिल्ली को पकड़ने के बाद स्पर्श द्वारा पहचान कर, उसे बहुत देर देखता रहता और फिर बोलता—"अच्छा, पुस, अब मैं तुम्हें पहचान गया।" चित्रों में उसको पदार्थों का ज्ञान न होता था; चित्र उसे केवल रंग-बिरंगे समधरातल प्रतीत होते थे। प्रायः दो महीने बाद उसे ज्ञान हुआ कि वह स्थूल पदार्थों के चित्र हैं! पहले उसे वहम हुआ कि अंशों के ऊँचे-नीचे दिखाई देने से चित्रों में भी ऊँचाई-निचाई होगी, किन्तु जब उसने छूकर देखा कि वे अंश जो प्रकाश और छाया (Light and shade) के कारण गोल मालूम देते हैं, स्पर्श में चिपटे ही हैं, तब बहुत दिनों तक वह पूछता रहा कि—"कौनसा इन्द्रिय झूंठा है, आँख वा त्वक्?"

फ्रान्ज़ प्रयोग : १८४१ ई० में लीपज़िक् के डाक्टर फ्रान्ज़ ने एक १७ वर्ष के जन्मान्ध की आँख ठीक की। उसके सामने एक काग़ज़ के टुकड़े पर 'वर्ग' के बीच में 'वृत्त' का चित्र बनाकर रक्खा गया। उसने दोनों पहचान लिए। फिर एक मोटा चौकोर लकड़ी का टुकड़ा और उस पर वैसा ही गोला रखकर परीक्षा ली गई तो उसने उन्हें समधरातल पर बने 'वर्ग' और 'वृत्त' पहचाना। अर्थात् उसे मोटाई का कुछ भी ज्ञान न हुआ। घन टुकड़े के स्थान पर काग़ज़ रखने से भी उसे वही भाव हुआ। एक शङ्कु को उसने 'त्रिकोण' कहा। पूछने पर मालूम

हुआ कि वह पहले तो उन पदार्थों को पहचान नहीं सकता था; किन्तु उसकी उँगलियों पर उन पदार्थों के छूने का-सा ज्ञान हुआ ; अतएव वह उन्हें जान सका। हाथ से छूकर वह उन तीनों चीज़ों को (घन, गोल, शङ्कु को) पहचान गया। पहले-पहल वह झिझकता था कि कहीं पदार्थ (जो उससे दूर थे) उससे टकरा न जायँ। स्पर्श से यह जान कर भी कि नाक ऊँची है, और आँखें नीची, वह मनुष्यों के चेहरों को सपाट ही देखता था। इससे सिद्ध हुआ कि नेत्र ऊपर का आकार तो जान सकते हैं, किन्तु मोटाई नहीं; और जिस प्रकार दो भाषाओं के पढ़ने वाले बिना एक का दूसरी में अनुवाद किए आगे नहीं बढ़ सकते, वैसे ही त्वक्-प्रत्यक्ष और चाक्षुप-प्रत्यक्ष का हमें मिलान करना पड़ता है। वह बालक, आँख ठीक होने पर भी, बिना बात सुने, आने वालों को नहीं पहचान सकता था। तब तक उसे स्वप्न में माता-पिता आदि का स्पर्श और शब्द ही मालूम पड़ता था, किन्तु अब रूप भी जान पड़ने लगा।

ट्रिञ्चिनेटो प्रयोग : डा० ट्रिञ्चिनेटो ने एक ११ और १० वर्ष के भाई और बहन की आँखें बनाईं। सामने नारङ्गी रखने पर, और उसे लेने को कहे जाने पर, भाई ने आँख पर हाथ मारा, और खाली मुट्ठी बन्द करने से लज्जित हो, क्रमशः हाथ मारते-मारते, उसने नारङ्गी पाई। बहन ने एक बेर तो आँख पर ही विफल मुट्ठी बन्द की, किन्तु फिर आँख की सरल रेखा में तर्जनी उँगुली चलाकर उसने नारङ्गी उठाने का उद्योग किया।

सो, दूरत्वज्ञान आँख का गुण नहीं है; तो भी हम आँख से दूरी जानना सीख सकते हैं; क्योंकि यद्यपि हमें अपने से दूरी नहीं सूझती, तथापि दोनों छोरों के बीच में दूरी वाले पदार्थ देखने से हमें बड़ी सहायता मिलती है। इसके सिवा इन बातों से भी हमें आँख से विप्रकर्ष के ज्ञान में सहायता मिलती है।

(१) समीप के पदार्थों को देखने में आँख का डेला जरा संकुचित होता है, और ताल कुछ उन्नतोदर हो जाता है। यह क्रिया बदले की होने पर भी ऐच्छिक और सचेतन है। अतएव, आँख पर कुछ दबाव होने से हम जान लेते हैं कि दृश्य पदार्थ पास ही है।

(२) दूर के पदार्थों से आनेवाले प्रकाश के किरण समानान्तर ही होते हैं। इसीलिए उन्हें लेते समय नेत्र यथावस्थित रहता है। पास के पदार्थों के किरण विसर्पी होते हैं इसीलिए उन्हें लेने में हुआ आयास, आँख को गेंद के द्वारा नहीं, किन्तु स्नायु-सम्बन्धी छल्ले के द्वारा मन को पहुंचाया जाता है।

(३) जब पदार्थ दूर होते हैं तब तक आँख से, या दोनों आँखों से देखने से रेटिना पर बने चित्र में कुछ अन्तर नहीं होता। पास होने पर भेद अवश्य होता है। किसी पुस्तक को बन्द करके उसकी पीठ को, पहले एक आँख और फिर

दोनों आँखों से, २० फीट और एक फुट की दूरी पर रखकर इस भेद को जान सकते हैं।

(४) पदार्थों के समीप या दूर होने से रेटिना पर बने हुए चित्रों में अपेक्षाकृत भेद होता है। आँख के पास रक्खे हुए एक पैसे से सूर्य भी ढक सकता है; परन्तु दूर होने पर पैसा रेटिना का बहुत थोड़ा स्थान रोक सकता है।

(५) पदार्थों के दूर होने से उनसे आनेवाली किरणें धुँधला और समीप होने से साफ़ चित्र बनाती हैं अतएव हम अनुमान करते हैं कि धुँधले चित्रवाला पदार्थ दूर और साफ़ चित्रवाला पदार्थ समीप होगा।

(६) पदार्थों की दूरता के ज्ञान में हमें उन पदार्थों से भी ज्ञान मिलता है जो हमारी आँख और उन पदार्थों के बीच में हैं, और जिन पर आँख टिकती है। बीच में ज्यादा पदार्थ होने से दृश्य पदार्थ दूर, और कम होने से समीप, जाना जाता है। इससे दूरता का अन्दाज़ बहुत जल्दी होता है; किन्तु बहुधा भूल भी हो जाती है।

(७) प्राय: पदार्थों की दूरता का ज्ञान उनके माने हुए आकार से होता है। हमारे नेत्र में किसी मनुष्य के चित्र का कोई आकार बसा हुआ है। उससे कम या अधिक होने से हम देखे हुए पदार्थ को दूर या समीप मान लेते हैं।

अवश्य ही यहां सच्ची दूरी का विचार किया गया है। मानसिक दूरी बड़ी विलक्षण है। विद्यार्थियों को घर से मदरसे की दूरी, मदरसे से घर की दूरी से दूनी मालूम होती है। प्रेमिक को प्रेयसी के घर की दूरी का जो अभ्यास है, वह वास्तविक दूरी से बहुत भिन्न है!

सम्पादित परिवेदन

अनुभव और तर्क के द्वारा हमें कृत्रिम, प्राप्त, या सम्पादित ज्ञान इन्द्रियों से होते हैं। वास्तव में जिह्वा से 'रसानुभव' मात्र ज्ञात होता है। किन्तु बारम्बार अभ्यास से हम यह जानने लगते हैं कि यह रस जल का है, यह इमली का है। गन्ध में भी नासाग्र की चेतना ही पहले-पहल पाई जाती है। किन्तु अनुभव, गुलाब और चमेली के गन्ध में भेद, गन्ध इधर है वा उधर, पास है वा दूर, इत्यादि कई ज्ञान सिखा देता है। स्पर्श में, असल में, शरीर की सतह पर किसी सत्ता का ही अनुभव होता है, किन्तु अभ्यास से भिन्न-भिन्न भाव जाने जाते हैं और यह भी जान पड़ता है कि स्पर्श उष्ण है या शीत, सुखदायक है या दु:ख-दायक। शब्द भी, पहले कर्णचालन मात्र होकर, अभ्यास से, दहने हैं या बांयें, मनुष्य की आवाज़ है या ढोल की इत्यादि भेद बता सकता है। स्नायु-सम्बन्धी इन्द्रिय से भी भिन्न-भिन्न चोटों का भेद जानना सीखा जाता है। ऐसे ही आँख से दूरी का कृत्रिम ज्ञान होता है।

जिन पदार्थों का क़द हम जानते हैं उनके उपमान से हम और पदार्थों की ऊँचाई समझते हैं। आगरे के ताज के बुर्जों पर चढ़े हुए मनुष्यों की तुलना से हमें बुर्ज की ऊँचाई का अनुमान होता है। चित्रकार चित्र के मकान की ऊँचाई दरसाने को, उसके सामने आदमी का चित्र बना देता है। और 'बछड़ा है' यह समझाने को बछड़े के चित्र में गौ बना देता है।

द्विनेत्रावलोकन से हमें पदार्थों की स्थूलता का ज्ञान होता है। लम्बाई, मोटाई, चौड़ाई तीनों का ज्ञान तो स्पर्श तथा स्नायु से होता है, किन्तु दोनों आँखें दोनों तरफ के भिन्न-भिन्न चित्र दिखाती हैं। इसलिए हमें मोटाई का भाव जान पड़ने लगता है। नेत्रों के अभाव में और इन्द्रिय कहां तक सहायता करते हैं यह जानकर आश्चर्य होता है। सांडरसन नामक अन्धा गणितज्ञ, हाथ से ही, कई रोमन तमग़ों में से जाली तमग़े को पहचान सकता था। जब कभी वह अपनी पाठशाला के बाग में बैठा होता तब वह सूर्य पर बादल आते ही जान लेता। यह इन्द्रिय-विशेष की उन्नति का ही नहीं, किन्तु बची हुई इन्द्रियों की ओर अधिक ध्यान देने के अभ्यास का फल है। एक अन्धे ने, एक घोड़े की परीक्षा करते समय, उसे अन्धा बताया। यह बात सत्य थी, किन्तु किसी परीक्षक ने यह नहीं पहचाना था। अन्धे ने यह कारण बताया कि घोड़े की टाप की आवाज़ में एक प्रकार की सचेतता और डर पाया जाता था! दूसरे ने ऐसे ही मौक़े पर एक घोड़े को काना बताया और हेतु यह कहा कि एक आँख दूसरी की अपेक्षा शीतल थी!! अन्धे दार्शनिक डाक्टर मायस गन्ध से अपने मित्रों की काली पोशाक पहचानते थे। अन्धे मनुष्य प्रायः स्पर्श से रङ्ग जान लेते हैं। एक ऐसे अन्धे ने 'बायल' साहब से कहा था कि उसे काला, खुरखुरा और नीला पदार्थ बहुत मुलायम प्रतीत होता है। डाक्टर रश दो अन्धे भाइयों का हाल लिखते हैं कि वे, सड़क पर चलते हुए, खम्भे के पास की ज़मीन की आवाज़ से, खम्भा जानकर, हट जाते थे! और अपने प्यारे पालतू कबूतरों के उड़ने ही से उन्हें नाम लेकर पुकार सकते थे!! अमेरिका के आदिम निवासी और भारतवर्ष के मीने पहाड़ों में दुश्मनों के पैरों के चिह्न पहचान लेते हैं, और उनकी संख्या तक बतला देते हैं!!!

किन्तु, कभी-कभी ऐसा ख़याल होता है कि इन्द्रिय धोखा देते हैं। प्राचीन लोग तो इन्द्रियों को छली मानते थे। परन्तु संवेदन और परिवेदन सब ठीक होते हैं। भ्रम के कारण हमी ही हैं! नियमित इन्द्रिय-प्राप्त ज्ञान को अनियमित और पर्याप्त मानकर हम जो अनुमान या उपमान करते हैं भ्रम उसी में है। ऐसे धोखे आँख के सम्बन्ध में बहुत होते हैं, क्योंकि ज्ञान का बड़ा भारी भाग आँख के द्वारा ही होता है। बड़े भारी मैदान, तालाब या समुद्र की दूसरी तरफ़ दिखाई देनेवाले पदार्थों को हम बहुत समीप समझते हैं। रेल पर चलते समय पेड़ और

पर्वत चलते और रेल ठहरी हुई प्रतीत होती है। बड़ी ऊँची इमारतों में घुसते हुए मनुष्य इमारत के सामने निरे बच्चे प्रतीत होते हैं।

यहां पर मनोविज्ञान की एक और बात जान लेनी चाहिए। वह यह कि मनुष्य के कितने इन्द्रिय हैं, उनमें क्या-क्या विशेषता है, और वस्तु-ज्ञान के हिसाब से उनका क्या उपयोग है। उनका परस्पर सम्बन्ध और आँख की प्रधानता जाने बिना विषय ठीक-ठीक नहीं खुलेगा।

त्वक्, रसना, घ्राण, कान और आँख ये पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं। इन इन्द्रियों के द्वारा हमें 'भावों' (Feelings) का ज्ञान होता है। भाव सुख या दुःख के बोधक हैं। तो बताइए पेट का दर्द किस इन्द्रिय का भाव है? इसलिए मानना पड़ता है कि 'साधारण इन्द्रिय' या 'दैहिक इन्द्रिय' और है जो इन सबके नीचे है और इन सबका आदिम स्वरूप है। साधारण इन्द्रिय के भाव प्रायः एक ही प्रकार के होते हैं, किन्तु ज्यों-ज्यों विशेषता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों भावों का भेद भी बढ़ता जाता है। इन्द्रियों से हम भावों का ही काम नहीं लेते हैं किन्तु ज्ञान का भी। इन्द्रियों का सामान्य क्रम ऐसा है—साधारण इन्द्रिय, त्वक्, रसना, घ्राण, दृष्टि और श्रोत्र। ज्ञान के अनुसार यह क्रम बिलकुल बदल जाता है। यथा—साधारण इन्द्रिय, रसना, घ्राण, श्रोत्र, स्पर्श और दृष्टि।

पशुओं में घ्राण अधिक ज्ञान देता है। जो सुना हुआ ज्ञान है उसके विषय में तो 'श्रोत्र' को सबसे आगे मानना चाहिए, किन्तु परिज्ञान की दृष्टि में स्पर्श और चक्षु ही प्रधान हैं। इनसे कई भाव और कई ज्ञान एक ही काल में जाने जाते हैं। आँख की प्रधानता इससे प्रकट हुई; किन्तु एक और इन्द्रिय है जिससे मिलकर आँख और सब इन्द्रियों का बादशाह बन गई है। हम में एक छठी इन्द्रिय भी है—उसका नाम स्नायवीय इन्द्रिय या कर्मेन्द्रिय है। जब हम इच्छा-पूर्वक कुछ काम करते हैं, तब हमें, कार्य-विचार के साथ ही चेतना होती है। इस चेतना का ज्ञान हमें इस कर्मेन्द्रिय से होता है। हम चल सकते हैं; हम हिल सकते हैं; हमारे स्नायु हमारे आधीन हैं—यह ज्ञान इसी का दिया हुआ है। यह विलक्षण इन्द्रिय है। यह पराधीन रूप से भाव नहीं ग्रहण करती, और अब तक जाने हुए इन्द्रियों से भिन्न होने के कारण पृथक् नहीं दिखाई पड़ती। यह इन्द्रिय यद्यपि ७०-८० वर्ष से ही जानी गई है, परन्तु यह इन्द्रियों के हक़ में बड़े काम की है। क्योंकि यह उन्हें पराधीन से स्वाधीन बना देती है। जो कुछ किसी इन्द्रिय के पास है, उसीका हमें ज्ञान होगा; जो नहीं है उसे हम नहीं पा सकते। पर स्नायु-शक्ति के कारण अकर्त्ता इन्द्रिय कर्त्ता बन जाते हैं। जब हमें ज्ञान होता है कि हम—कर्त्ता बनकर—स्वयं संवेदन कर रहे हैं, तब जानना चाहिए कि कर्मेन्द्रिय के योग से वह इन्द्रिय 'कर्त्ता' बन गया। उदाहरण लीजिए। साधारण इन्द्रिय तो अकर्मण्य अर्थात् पराधीन इन्द्रिय का नमूना है। 'रस' में

दोनों रूप हैं—एक तो जीभ पर रक्खी हुई चीज़ का रस चखना और एक इच्छापूर्वक जीभ बढ़ाकर रस लेना। 'घ्राण' पराधीन ही है; परन्तु, हम सूंघ या सांस ले सकते हैं। श्रोत्र में दोनों रूप हैं; एक यथास्थित सुनना; दूसरा ध्यान देकर सुनना। चक्षु में इन्द्रिय अतीव चंचल है। वह कई आसन धारण करती है। त्वक् का मुख्य कारण हाथ भी अति चंचल है। अतएव, कर्मेन्द्रिय के योग से, ये दोनों चलने फिरनेवाले इन्द्रिय, स्वाधीन इन्द्रियों के नमूने हैं!

इस बात पर इतना ज़ोर क्यों दिया गया? इसलिए कि स्वाधीन इन्द्रिय परिवेदन में बड़ा काम देते हैं। संवेदन—अर्थात् पराधीन इन्द्रियों का ज्ञान—एक कल्पना मात्र है; चेतना में यह कभी नहीं होता। हम खरखरापन, मुलायमी, गर्मी, सर्दी आदि त्वक् के गुणों को किसी पदार्थ पर मढ़ते हैं। हम यह नहीं कहते कि हम 'रंग' देखते हैं, किन्तु कहते हैं कि हम 'गुलाब' देखते हैं। 'लड्डू' कहने से पाठकों को पहले गोल चीज़ का ज्ञान होगा, पीछे मिठास का। सो, इन्द्रियों के जाने हुए भावों को अपने से पृथक् किसी पदार्थ पर लगा देने का व्यापार रात-दिन होता है, और इसका नाम परिज्ञान या परिवेदन (Perception) है। परि-वेदन, विशेष करके पदार्थपरिवेदन, वह चेतना है जो खर्च की हुई स्वाधीन शक्ति के ज्ञान पर, अर्थात् कर्मेन्द्रिय पर अवलम्बित है।

परिवेदन बिना कर्मेन्द्रिय का प्रयोग नहीं होता। किसी पदार्थ को देखकर या छूकर मैंने कह दिया कि यह 'किताब' है। अब विचारना चाहिए कि यह ज्ञान कहां से आया। पराधीन इन्द्रियों के संवेदन से तो रंग, गन्ध या स्वाद जाना जा सकता है। उस स्वाद, गन्ध या रंग का आधार हमने कैसे बना लिया? यह जानना कर्मेन्द्रिय की सहायता से स्वाधीन नेत्र और त्वक् का काम है। पदार्थों में दो गुण हैं, विस्तार और रोध। इन्हींके होने से पदार्थ पदार्थ होते हैं; और यदि ये गुण न हों तो पदार्थ पदार्थ ही नहीं। एक पदार्थ अवश्य ऐसा है जिसमें विस्तार है, किन्तु रोध नहीं, जैसे आकाश। किन्तु यह सबसे प्रधान गुण विस्तार और उससे कुछ ही कम प्रधान रोध किसी भी पराधीन इन्द्रिय से नहीं जाने जाते। ये स्वाधीन इन्द्रिय से, अथवा दृष्टि और त्वक् से मिली हुई कर्मेन्द्रिय से ही जाने जा सकते हैं; और इसीसे समझ लेना चाहिए कि पदार्थपरिवेदन में स्नायविक शक्ति कितना काम करती है।

[६]

इन्द्रियों से केवल गुणों का संवेदन होता है। किन्तु हम गुणों को स्वतन्त्र गुण नहीं कहते, किन्तु किसी पदार्थ का गुण कहते हैं। संवेदन परिवेदन में बदल जाता है, अर्थात् पराधीन इन्द्रियों से जाने गये गुण, कर्मेन्द्रिय से जाने परिवेदन से मिला दिये जाते हैं। सबसे बड़ा प्रश्न जो उठता है, वह यह है कि जब इन्द्रिय केवल

गुणों को बताते हैं तो हम उन्हें 'परिवेदन से जाने हुए पदार्थ का गुण' कैसे कहते हैं। लड्डू का जो दृष्टान्त अभी दिया जा चुका है उसमें इन्द्रियों से तो मिठास, रंग, विस्तार, गंध यही न जाने गये थे ? हम 'लड्डू' इस भाव को कहां से ले आये, और लड्डू की मिठास, लड्डू की गोलाई, लड्डू का रंग, लड्डू का गन्ध कैसे कहने लग गये ? यहाँ पर दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान में भेद हो जाता है। दर्शनशास्त्र तो ऊपर कहे प्रश्नों का समाधान करके इस विचार में लगता है कि वास्तव में कोई चीज़ मन के बाहर और इन्द्रियों के बनाये गुणों से पृथक् है जिसमें वे सब गुण रहते हैं। मन के भिन्न कोई पदार्थ है या सब मन ही की कल्पना है। इन सब गुणों को लड्डू कह दिया है, या लड्डू कुछ चीज़ है भी। मनोविज्ञान इस प्रश्न को नहीं उठाता। वह इसी में सन्तुष्ट है कि इन्द्रियों के बनाये गुण किसी एक पदार्थ पर कैसे जड़ दिये जाते हैं, इसकी खोज करे। मनोविज्ञान के छात्र उस प्रकार की खोज करते हैं, जिससे संवेदन (गुण) का परिवेदन (पदार्थ) हो जाता है, और इस खोज को दार्शनिकों के लिए छोड़ देते हैं कि परिवेदन सच्चा है, या केवल माया ही है।

हम लोग मनोविज्ञानियों का मार्ग लेते हैं। यह जाना गया कि गुणों का पदार्थों पर आरोप किया जाता है। किन्तु भिन्न-भिन्न मनुष्य कहीं-कहीं पर भिन्न-भिन्न प्रकार का आरोप करते हैं। चाकू से मेरी अँगुली कट जाय, तो मैं चाकू में चमक और अँगुली में पीड़ा मानता हूँ। सभी ऐसा करते हैं। ऐसा कोई नहीं है जो अँगुली में चमक और चाकू में पीड़ा मान ले। यहां पर सब का आरोप एक ही प्रकार का होता है। किन्तु कहीं-कहीं आरोप में भेद भी होता है। गुलाब के फूल को वर्णान्ध मनुष्य पत्रों के रंग का कहैगा, और मैं लाल कहूंगा। नैयायिकों के पुराने दृष्टान्त में पीलिए का रोगी शंख को पीला कहैगा। यहाँ आरोप में भेद हो गया। अवश्य ही गुलाब दोनों रंग का नहीं है, और न शंख दुरंगा है। मैंने, और दूसरे देखने वाले ने, जो अपनी-अपनी ओर से आरोप किया है वह मानो गुलाब का अपनी-अपनी भाषा में तर्जुमा कर लिया है। वास्तव में गुलाब पदार्थ गुलाब है। न इस रंग का है, न उसका। अब देखना चाहिए कि पदार्थ क्या है, और कौनसे इन्द्रिय से उसका ज्ञान होता है। मेरे सामने एक खम्भा है। यदि इसका रंग काला न होकर लाल होता तो भी यह खम्भा ही रहता। यदि यह लोहे का न होकर लकड़ी का होता, और बजाने से और तरह का टंकार सुनाता, तो भी इसके खम्भे होने में सन्देह नहीं होता। यदि इसमें तारपीन का गन्ध न आकर इत्र की खुशबू आवे, तो भी इसका खम्भापन नहीं छूटेगा। यदि यह इतना मोटा, लम्बा और गोल न दिखाई देकर, तिकोना या पतला दिखाई दे, तो भी और तरह का खम्भा कहलाएगा, किन्तु रहेगा खम्भा ही। किन्तु यदि इसमें रोधकता न हो अर्थात् यदि मैं इसमें से निकल जा सकूं, या इससे टकराने से मेरा

सिर न फूटे, तो इसका नाम खम्भा नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि वास्तव पदार्थ का ज्ञान कर्मण्य त्वक् से होता है, और कर्मण्य त्वक् से कर्मण्य आँख ऐसी मिली हुई है कि छुड़ाई नहीं जा सकती। पदार्थ वास्तव में रोधक और विस्तृत हैं याने पहले वे स्पृश्य और दृश्य हैं और पीछे घ्रेय, स्वाद्य और पेय।

यद्यपि परिवेदन में चक्षु की ही प्रधानता है, चक्षु ही परिवेदन का प्रधान तथा एकमात्र अंग है, तथापि, बर्क्ले के मत से परिवेदन वास्तव में स्पर्श है। बिना आँख बच्चे जनमते हैं, किन्तु बिना त्वक् नहीं। बिना चक्षु के त्वक् से जगत् जाना जाता है किन्तु त्वक् के बिना चक्षु से नहीं। अन्धे के लिए जगत् है, किन्तु त्वक्हीन के लिए नहीं। चक्षु का काम कितना ही बड़ा हो तथापि ऊपरी 'पालिश' नींव तो त्वक् ही डालती है। आँख रंग सकती है, गढ़ नहीं सकती। अतएव 'त्वक्' परिज्ञान तत्त्व आरम्भ करना चाहिए।

विस्तार और रोध दोनों ही केवल कर्मेन्द्रिययुक्त त्वक् से जाने जाते हैं। यह स्नायविक कर्तृता दो प्रकार की होती है; —स्वतन्त्र और रुकती हुई। पहली से विस्तार और दूसरी से रोध जाना जाता है। किन्तु यह काम ख़ाली स्नायु का ही नहीं है, त्वक् के ज्ञान से भी इस विषय में बड़ी सहायता मिलती है। हम जो कहते हैं, कि "यह पदार्थ एक-दूसरे से इतने दूर हैं" सो पहले हमें दो भिन्न-भिन्न स्पर्श ही मालूम देते हैं। रोध के छः प्रकार हैं—(१)(२) बोझ और दबाव। इनमें स्नायुबल की मुख्यता है। (३) (४) खरखरापन और चिकनाई। इनमें त्वक् प्रधान है। (५) (६) कठिनाई और मुलायमी। इनमें दोनों बराबर-बराबर हैं। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि कई रोध वाले स्पर्श, एक ही काल में एक ही क्रम से दोहराये जाने से, भिन्न-भिन्न स्पर्श नहीं मालूम देते, किन्तु एक विस्तृत पदार्थ के रूप में जाने जाते हैं। यह अभ्यास का फल और पदार्थ-परिवेदन का मूल है। कुछ लोग 'विस्तार-ज्ञान' को स्वभाव से उत्पन्न, मानते हैं। उनकी दृष्टि में यह गुण जन्म से ही उत्पन्न होता है, और विज्ञान इसकी उत्पत्ति का हेतु नहीं बता सकता। यह तो विषय को छोड़कर भागना ही हुआ; किन्तु प्रथम मतवालों का भी समाधान ठीक नहीं। उत्तरोत्तर एक काल में कई स्पर्श होने से समकालिकता हो सकती है, किन्तु समकालिकता विस्तार नहीं है। यह कहना कि स्नायु शक्ति से, उल्टे-सीधे कई स्पर्शों का भास होने से, वे अन्त में विस्तारयुक्त पदार्थ का रूप लेते हैं, बिल्कुल ठीक नहीं है। पदार्थों को विस्तृत कहने के पहले हमें यह कहना चाहिए कि हमें, पदार्थ स्वयं कैसे दिखाई दिए? यद्यपि विस्तार ही सब पदार्थों का साधारण गुण है, कोई पदार्थ विस्तारहीन नहीं, तो भी हमें पहले 'रोध' ज्ञान का वैज्ञानिक हेतु बतलाना चाहिए। आकाश जानने के पीछे हम रोधक पदार्थों को नहीं जानते, किन्तु रोधक पदार्थों के अभाव को आकाश कहने लगते हैं। जो

हमारी शक्ति को रोके वही चीज़ है और 'रोकना' ही रोधकता है। रोधकता उस शक्ति से जानी जाती है जो स्पर्श के बढ़ने के साथ बढ़ती जाती है।

अपनी कर्तृत्व शक्ति का कुछ धुन्धला आभास, उसके रुकने का ख़याल और कठोरता का कुछ भान ही बालक के लिए पदार्थ-परिवेदन की जड़ है। पहले-पहल जननेन्द्रिय के स्पर्श और स्तनपान में ओठों के दबाव से ही बालक का संसार आरम्भ होता है। पहला पदार्थ जिसको वह जानेगा अपना ही देह है, क्योंकि वह कभी दूर नहीं होता और उसमें अपनी शक्ति रुकने का दृष्टान्त क्षण-क्षण पर दिखाई देता है। भिन्न-भिन्न त्वक् में भिन्न-भिन्न रूप से स्पर्श शक्ति है, और भिन्न अंगों को छूने में हाथ को भिन्न-भिन्न परिश्रम होता है। इसीसे बालक अपने देह के विस्तार और भिन्न-भिन्न अंगों को पहचानने लगता है। इसीसे हम त्वक्सम्बन्धी द्वित्व जानते-जानते त्वक्सम्बन्धी दूरत्व जानने लगते हैं। देह पर कम्पास के दोनों छोर रखने से हमें खाली दो स्पर्श ही नहीं मालूम होते, किन्तु कुछ दूरी भी प्रतीत होती है। क्यों? इसलिए कि उन दो स्थानों पर स्पर्शों में भेद है और उनके स्पर्श के लिए हाथ चलाने की जो शक्ति है उससे हमें उन्हीं में अन्तर जान पड़ने लगता है। किसी भाग को छूने के लिए कितनी शक्ति लगती है, इससे और सुलभ-स्पर्श-यन्त्र हाथ से, देह के प्रत्येक भाग का दूसरे भाग से स्थानीय सम्बन्ध हो जाता है। इस बात में एक अपवाद भी है। यदि मध्यमा अँगुली को तर्जनी पर चढ़ाकर दोनों के बीच में कोई छोटी चीज़ रक्खी जाय, तो हमें एक विस्तृत पदार्थ वा दूरस्थ बिन्दुओं का ज्ञान न होकर दो पदार्थों का ज्ञान होता है। इसका कोई समाधान नहीं। हाँ, तर्जनी के स्पर्श को हम ऊपर मानते हैं और मध्यमा के स्पर्श को नीचे। सो तो ठीक है, क्योंकि यहाँ उंगलियों का क्रम बदला हुआ होने पर भी अभ्यास पहले ही क्रम का है।

कर्तृत्व से हमें जब इतना ज्ञान हो जाता है तब चेष्टा किये ही हमें विस्तारज्ञान हो जाता है। अंधेरे में मेज़ पर हाथ और हाथ पर किताब रखने से, बिना हाथ चलाये भी 'मेज़' और 'पुस्तक' विस्तृत अर्थात् पदार्थ जान पड़ते हैं। क्यों? इसलिए कि हम अपने हाथ का विस्तार जानते हैं और उससे 'रूल' का काम लेते हैं।

स्थूलता का ज्ञान पहले-पहल ओष्ठों से होता है। वह हिल सकते और स्पर्श भी कर सकते हैं। इससे वही स्थूलत्वपरिवेदन में काम आते हैं। हाथ से भी स्थूलता का ज्ञान होता है। जब अँगूठा और अँगुलियों से मिलना चाहता है, वा एक हाथ दूसरे से नहीं मिल सकता, तब हमें स्थूलता का ज्ञान होता है। पुस्तक पर हाथ के दबाव से रोध, हाथ रखकर कई स्पर्श होने देने से विस्तार और दोनों हथेलियों के बीच पुस्तक रखने से स्थूलता का ज्ञान होता है।

इन सब कामों में आँख बड़ी सहायता देती है। त्वक् में तथा उसमें बहुत

समानता है । सारे रेटिना से दर्शनेन्द्रिय और सारी त्वक् में स्पर्शेन्द्रिय व्याप्त है, किन्तु 'पीतबिन्दु' और 'हाथ' ही सब कुछ है । दोनों की चञ्चलता ही इन इंद्रियों को इतना उपयोगी बनाती है । त्वक् में हाथ बढ़कर छू लेता है, और आँख में स्नायु के द्वारा पीतबिन्दु वा ताल चाहे जिस ओर घुमाया जा सकता है । खम्भा देखते ही मैं उससे सिर क्यों नहीं टकरा देता और अंधेरे में खम्भे को छूकर उसका आकार कैसे जान सकता हूं ? पहले दृष्टांत में, मैं छूता नहीं और दूसरे में देखता नहीं । किन्तु प्रकाश में चीज़ देखने पर मुझे उसके स्पर्श का ख़याल होता है और अन्धकार में स्पर्श करने पर उसके रूप का ख़याल होता है । अतएव इन दोनों में बड़ा भारी सम्बन्ध है । आँख, हमें अपनी भाषा में प्रकाश और रंग तथा समधरातल और रैखिक विस्तार का ज्ञान देती है । आँख से रोध का ज्ञान नहीं होता । और इसीसे स्थूलता का ज्ञान गौण रीति से होता है । आँख बहुत दूर देख सकती है, किन्तु इधर-उधर घूमकर पदार्थों को पकड़ नहीं सकती । अतएव स्पर्श से हमें जिस विस्तार का सूत्र मिल गया है, उस पर यह भाष्य बनाती है । सो स्वयं आँख रंग और प्रकाश से कुछ नहीं दिखाती, किन्तु त्वक् की बात सदा सच्ची है; आँख की बात कभी-कभी धोखा दे दिया करती है । स्पर्शज्ञान ही वास्तव ज्ञान है । वास्तव विस्तार त्वक् का बताया विस्तार है । पृथ्वी का वास्तव आकार आँख से नहीं जाना जाता, किन्तु स्पर्श करने वाले पैरों की संख्या से । सूर्य हमें थाली-सा दिखाई देता है, क्योंकि उसकी तुलना सारे दृश्य आकाश से होती है और आकाश की तुलना स्पृश्य पृथ्वी से होती है । अतएव स्पर्श ही सूर्य को थाली-सा दिखाता है । आँख केवल कुछ चिह्न बताती है जिनका अर्थ हम त्वक् के सहारे करते हैं । तारे और पहाड़ों के शिखर जो स्पर्श से दूर हैं वे भी आँख के आधीन तो हैं, किन्तु आँख दूरत्व अथवा वास्तविक सत्ता का ज्ञान नहीं उत्पन्न करती ।

यह कोई न समझे कि 'रेटिना' के चित्र से पदार्थों का दृश्य-विस्तार जाना जाता है । रेटिना का चित्र बहुत सूक्ष्म होता है, और उस पार्थिक सत्ता का, उसकी सहचारिणी मानसिक संवेदना से, कोई सम्बन्ध नहीं । स्पर्श से ही विस्तार जाना जाता है, क्योंकि पदार्थ दूर होने पर आँख उसका विस्तार बहुत ही छोटा देखती है ।

रेटिना के चित्र के उल्टे होने पर भी हमें पदार्थ सीधे क्यों दिखाई देते हैं ? यह आँख के विज्ञान का एक मुख्य प्रश्न है । कुछ लोग कहते हैं कि 'उल्टा' 'सीधा' यह द्वन्द्व परस्पर संबद्ध है; जहाँ सभी उल्टा है वहाँ सीधा नहीं । इससे सभी पदार्थ सीधे अर्थात् एकाकार दिखाई देते हैं । किन्तु सीधा शब्द स्पर्श की भाषा का है । पदार्थ की चोटी वह है जिसे छूने के लिए हमें हाथ ऊँचा करना पड़े । वास्तव में यदि चित्र उल्टा न हो तो हमें पदार्थ सीधा ही न दिखाई दे । नेत्र गोल है, इससे पदार्थ की चोटी देखती बेर छाया पीतबिन्दु के ऊपर पड़ती है, और

'कार्निया' ऊँचा करने से 'पीतबिन्दु' नीचे आ जाता है। यदि किरणें एक दूसरे को विना काटे भीतर जातीं तो आँख उठाने से पीतविन्दु नीचे हो जाता, और नीचे करने से नीचा होता। अतएव आँख से और, और स्पर्श से और ही ज्ञान होता। चोटी देखने को हमें आँख नीची करनी पड़ती और चरण देखने के लिए ऊँची !! चोटी छूने को हाथ ऊँचे करने पड़ते हैं, और चरण छूने को नीचे। इन दोनों भावों को मिलाने के लिए चित्र का उल्टा होना आवश्यक है।

एक और बात विचारणीय है। हमें दो आँखों से एक पदार्थ क्यों दिखाई देता है? इसका एक उत्तर तो यह है कि यदि दो आँखों से अप्रसन्न हो तो एक आँख फोड़ डालो। आचार्य जगदीशचन्द्र बोस का सिद्धान्त है कि जब एक आँख देखती है तब दूसरी विश्राम लेती है। यह बात ठीक नहीं, कि दोनों रेटिनाओं के दोनों चित्र मिलकर एक भाव पैदा करते हैं। जिस पदार्थ को हम ताक रहे हैं उसके अतिरिक्त सब पदार्थ वास्तव में दो-दो ही दिखाई देते हैं। किन्तु त्वक् से उन्हें एक जानकर एक ज्ञान दृढ़ करना पड़ता है। अवश्य ही सूर्य को नहीं छू सकते। किन्तु और सब पदार्थों से अनुमान करते हैं कि वह भी एक ही है। वेन के अनुसार हम एक आँख से देखते हैं और दूसरी से उस चित्र को पूर्ण करते हैं। तो नेत्र होने से ही हमें स्थूलता का ज्ञान होता है। एक आँख से हमें एक तरफ



चित्र ११

स्टीरियोस्कोप

उन्नतोदर ताल के दो टुकड़ों में दो चित्र देखने से एक प्रतीत होता है।

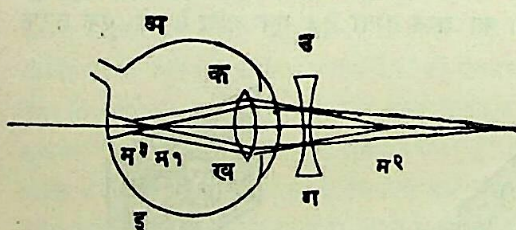
से अधिक दीखता है और दूसरी से दूसरी तरफ से। दोनों मिलकर हमें एक उभड़ा हुआ चित्र दिखाती हैं। यही तत्त्व 'स्टीरियोस्कोप' नामक यन्त्र में है।

यदि दो चित्र बनाये जायं और एक में दाहनी ओर और दूसरी में बाईं ओर

अधिक दिखाया जाय और यदि वे दोनों चित्र एक उन्नतोदर ताल के दो टुकड़ों को दोनों आँखों पर रखकर देखे जायं तो एक स्थूल पदार्थ का भान होता है। जैसा कि इस चित्र में दोनों फोटोग्राफ़ों का एक ही फ़ोटोग्राफ़ प्रतीत होता है; और वास्तव में पदार्थ को देखने का-सा सन्देह होता है। यदि चित्रों के स्थान वदल दिये जायं तो ऊँचाई की जगह निचाई और निचाई की जगह ऊँचाई प्रतीत होगी। पृथक्-पृथक् रङ्गों को दोनों आँखों के सामने रखने से मिश्रित रङ्ग प्रतीत होता है। यदि दोनों चित्र समान हों तो नया चित्र बिलकुल चिपटा होगा। इससे जाली नोट, नक़ली दस्तावेज़ आदि पकड़े जा सकते हैं। अतएव दो नेत्रों के होने से स्थूलत्व और दूरत्व के ज्ञान में बड़ी सहायता मिलती है। एक आँख बन्द करके हम सुई नहीं पिरो सकते।

अब आँख के बारे में केवल तीन बातें कहना रह गई हैं—समीपदृष्टि, वृद्ध-दृष्टि, वर्णान्धता।

(१) रेटिना तथा काच की बनावट के अनुसार कई लोग समीप तो देख सकते हैं किन्तु दूर नहीं। वे आँख के पास ले जाकर देखते हैं; और अंधेरे में अच्छा देख सकते हैं। इसका हेतु आँख के ताल का अधिक उन्नतोदर होना है। इसीलिए उनके किरणों का छायाचित्र रेटिना से कुछ इधर ही 'म^1' बनता है। (चित्र १२ देखो) इससे पदार्थ धुंधला दिखाई देता है। पदार्थ समीप लाने से 'म^3' चित्र ठिकाने पर बनता और पदार्थ दिखाई देता है। ऐसे मनुष्य कुछ आँख मूदने से, या छिद्र में होकर देखने से, अच्छा देख सकते हैं। क्योंकि उससे डेला छोटा हो जाता है और आँख में जाने वाली किरणमाला छोटी होने से किरणें ताल को केन्द्र ही में काटती हैं और केन्द्र पर अधिक गोलाई होने से दूर अर्थात् रेटिना पर चित्र बनाती हैं; अर्थात् अवस्था बढ़ने से आंख की गोलाई कम हो जाती है। इससे उनकी आँख उस समय सुधर जाती है जब कि औरों की आँख वृद्धदृष्टि से बिगड़ जाती है। इस रोग की वृद्धि सभ्यता की वृद्धि के साथ होती है। आफ्रिका में किसी को यह रोग नहीं होता, किन्तु प्रकाश में काम करने से सभ्य देशों में बहुत अधिक होता है।



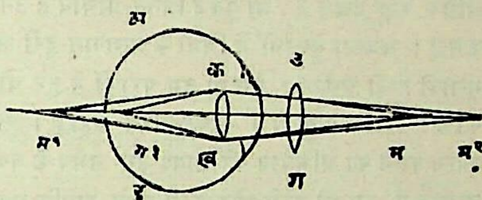
चित्र १२

समीपदृष्टि

अ इ रेटिना। म पदार्थ। क ख नेत्र। म^1 धुंधला चित्र।
उ ग चश्मा। म^2 पदार्थ कल्पित स्थान। म^3 साफ चित्र।

(२) वृद्धदृष्ट—उम्र अधिक होने से, काच की गोलाई कम होने के कारण

किरणें रेटिना पर चित्र न बनाकर उससे कुछ आगे 'म४' चित्र बनाती हैं। (चित्र १३ देखो किन्तु) पदार्थ को दूर हटाने से चित्र ठिकाने पर आ जाता है। अतएव बुड्ढे आदमी पास के पदार्थ को ज़रा दूर हटाकर देखते हैं।



चित्र १३

वृद्धदृष्टि।

भ इ रेटिना। म पदार्थ। क ख नेत्र। म^{1} धुंधला चित्र उ ग चश्मा। म^{2} पदार्थ का कल्पित स्थान। म^{3} साफ चित्र

समीपदृष्टि, केन्द्रापसारक ताल आँख के सामने लगाने से, मिट जाती है। आँख से प्रवेश करने से पहले किरणें अवसर्पिणी होने के कारण आँख के ताल की अंशुनाभि हटकर 'म^{3}' बन जाती है। वृद्धदृष्टि के लिए केन्द्राकर्षक तालों की ज़रूरत है। इससे ताल में घुसने के पहले किरणें केन्द्राकृष्ट होने से रेटिना के पार नहीं किन्तु रेटिना पर ही चित्र बनाती हैं।

बहुत दिनों तक उभयनतोदर और उभयउन्नतोदर काचों ही का प्रयोग होता था; किन्तु अब उनके बदले अर्द्धचन्द्र (उ, तथा ग, चित्र ४) काचों का प्रयोग होता है। इससे आँखें सब दिशाओं में देख सकती हैं और थकती नहीं। अतएव जिन्हें समीपदृष्टि का रोग हो उन्हें, हमारी तरह, बाल्यावस्था में ही नतोदर चश्मा लगाना चाहिए जिससे बड़ी उम्र में आँखें औरों से अच्छी हो जायं।

(३) लोक में कहावत है कि श्रावण के अन्धे को सब कुछ हरी ही सूझती है। जो लोग नहीं देख सकते वे तो उनके समान हैं जो कुछ नहीं सुन सकते। जो लोग रङ्ग नहीं देख सकते वे उनके समान हैं जिन्हें अच्छे या बुरे राग में भेद नहीं मालूम देता। पहले सब पदार्थ एक ही रङ्ग के प्रतीत होते थे। मनुष्य-जाति ने रङ्गज्ञान धीरे-धीरे प्राप्त किया है। कुछ बन्दर वर्णान्ध होते हैं, अर्थात् नारङ्गी के फल और पत्तों को एक ही रङ्ग का मानते हैं। मच्छियों का वर्ण-परिज्ञान तो बहुत ही कच्चा है। वे केवल उजेला, अंधेरा ही पहचानती हैं। अभी विलायत के एक डाक्टर ने एक ऐसे मनुष्य की आँख देखी जिसको सूर्यकिरण का सप्तरङ्ग एक आँख से भूरा दिखाई देता था और दूसरी से आसमानी और लाल रङ्ग—दोनों छोर के रङ्ग-मात्र वह देखता था। बीच में सब भूरा था। मनुष्य को भी पहले-पहल किनारे के दोनों रङ्ग दिखाई दिये; और बीच में केवल भूरा रङ्ग। फिर उस भूरे में क्रमशः दोनों कोनों के दोनों रङ्ग नारङ्गी और नीले दिखाई दिये। बीच की भुराई ने कुछ काल बीतने पर और दो रङ्ग प्रकट किये।

सम्भव है कि हमारे वंशज हमसे अधिक रङ्ग देख सकें। हमारे पूर्वजों से हम अधिक रङ्ग देखते हैं। जो पूर्वज जितने प्राचीन हैं उनका वर्ण-परिज्ञान उतना ही कम है। अजण्टा गुफाओं में चित्रों के आसपास हरी आभा वनी है जो वास्तव में गुलाबी होनी चाहिए। ऐसे ही हम पुराणों में हरे घोड़े का वर्णन पढ़ते हैं। पीत को कई पुराने मनुष्यों ने 'रक्त-हरित' कहा है। 'राम' 'कृष्ण' को नवजलधर श्याम कहने का अभिप्राय भी शायद उस समय के वर्णपरिज्ञान के अनुसार हो। वास्तव में, हम भी सच्चे और वे भी सच्चे, क्योंकि अपनी-अपनी आँख के अनुसार सभी रङ्ग मानते हैं। किन्तु यों नये-नये रङ्ग जानकर मनुष्य ने कुछ खोया भी है। जङ्गली वहुत कम रङ्ग पहचानते हैं और उनकी दृष्टि बड़ी तीव्र होती है। सातों रङ्ग और उनके अनेक सङ्कर देखनेवाले हम सभ्यगण 'शार्टसाइट' (मन्द-दृष्टि) से घबरा रहे हैं! सम्भव है कि रङ्गदर्शन-विहीन काल में मनुष्य बहुत दूर तक देख सकता रहा हो। इन सात रङ्गों से आगे भी एक रङ्गों का सप्तक है जिसके लिए हम सब वर्णान्ध हैं। सम्भव है, कभी कालान्तर में वह भी हमारे वंशजों को दिखाई देने लगे।

अस्तु, लेख के बहुत वढ़ने की क्षमा मांगकर यही कहना है कि—'य इमां चाक्षुषीं विद्यां नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति न तस्य कुलेऽन्धो भवति इति।'—चाक्षुषोपनिषद्

[प्रथम प्रकाशन : क्रमश: सरस्वती : फरवरी, मार्च, मई, जून, अगस्त तथा सितम्बर, १९०५ ई० के अंकों में।]

१. (क) गैनो, रावर्टसन, मैकाश, सली, वर्कली प्रभृति के आधार से लिखित।

(ख) जो इस चक्षु-सम्बन्धी विद्या को नित्य पढ़ता है उसे कभी आँख का रोग नहीं होता और न ही उसके कुल में कोई अंधा होता है। —सम्पादक

(ग) गुलेरी जी ने इस लेख के अन्त में, पादटिप्पणी में—"क्या हिंदी-रसिक और इंद्रियों का भी ऐसा वर्णन पसंद करेंगे?"—लिखा तो 'सरस्वती' के सम्पादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पादटिप्पणी में लिखा—"खुशी की बात है कि यह लेख आज पूरा हो गया।" —सम्पादक

लोक और कला

संगीत*

मुझे इतना समय नहीं रह गया है कि आपके सामने ऐसी कहावतें रक्खूं कि रोना और गाना सबको आता है; न मेरी यही रुचि है कि संगीत न जानने वाले को द्विपद मृग और पुच्छविषाणहीन पशु बताने वाले श्लोक यहाँ पर उद्धृत करूं, और इसके लिए भी समय अनुकूल नहीं है कि ऐसे वाक्यों के प्रमाण दूं जिनमें कहा गया है कि शिशु, पशु और सर्प ही गीत का रस जानते हैं या साक्षात् शङ्कर ही जानते हैं, और विष्णु ने कहा है कि मैं, न तो वैकुण्ठ में रहता हूँ और न योगियों के हृदयों में, परन्तु मेरे भक्त जहाँ गाते हैं वहीं मैं रहता हूं। मेरा प्रयोजन आज यह कहने से भी नहीं है कि ब्रह्मा के सामगान और विष्णु के वंशीवादन और शंकर के ताण्डवनृत्य को और सरस्वती की वीणा को सामने धरकर गीत, वाद्य, नाट्य का दैव रूप आपको दिखाऊं। मुझे केवल दो बातें कहनी हैं—

एक तो यह कि भारतवर्ष की वर्तमान उन्नति में जिस समाज वा जिस प्रांत ने आगे पैर बढ़ाया है उसने संगीत का सहारा लिया है, अथवा गणित वालों के शब्दों में, जिस अनुपात में जो समाज वा प्रांत गानविद्या से विमुख है अथवा नहीं है उसी अनुपात से वह समाज समृद्धि के मार्ग में पीछे पड़ा हुआ अथवा बढ़ा हुआ है।

इस पर थोड़े ही से विचार की आवश्यकता है। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज और प्रार्थना-समाजों ने संगीत और वाद्य की अपने विचारों के प्रचार में बहुत सहायता ली है। नई सनातनधर्म सभाओं ने भी भजन-मण्डलियों और नगर-कीर्तनों से अपने को रहित नहीं रक्खा है। बङ्ग देश की सभ्य ब्राह्मी महिलाएँ, वम्बई प्रांत की परभू जाति की कुलवतियाँ, मद्रास की उच्च ब्राह्मणी से लेकर

* एक व्याख्यान का पिछला भाग। पीछे से लिखा गया।

नैयर जाति तक की, ललनाएं अपने-अपने प्रांतों की उन्नति लक्ष्मी की मूर्त्तियां बनकर संगीत और वाद्य का प्रेम दिखाती हैं। जैसा इधर के प्रांतों में संगीत को नीच जातियों का विषय मानने का पुराग्रह है जैसी ही स्त्रियों की उन्नति को रोकने की कुप्रथा है वैसे ही यहाँ पर उन्नतिदेवी का आना दूर है। पंजाब में भी जो कुछ जागृति दिखाई देती है तो उसके साथ-ही-साथ विष्णु दिगम्बर पुलुस्कर के गन्धर्व महाविद्यालय की चर्चा सुनाई पड़ती है।

मालूम होता है कि जैसे कृस्तान धर्म के पुराणकर्ताओं ने सब लोकों के घूमने से एक प्रकार का अनाहत नाद होना माना है जो परमेश्वर के सिंहासन के चारों ओर विजय-संगीत का स्वर सुनाता है, वैसा ही देशों की, मनुष्यों की और हृदयों की उन्नति में संगीत का एक तानलय प्रभाव है जो उन्नति की विजयपताका को उड़ाता हुआ चलता है।

हिन्दू शास्त्रकारों को कहीं पर संगीत, वाद्य आदि को गर्हित ठहराने वाला कहा जाता है परंतु सब वाक्यों की मीमांसा करने पर सारांश यही निकलता है कि असत् गीत-वाद्यादिक की निन्दा से ही वहां तात्पर्य है, विनोद और उच्च आनन्दमय आह्लाद-प्रधान संगीत की निन्दा से नहीं। नहीं तो पतजंलि यह काहे को कहते कि 'ये वीणायां गायन्ति ते धन सनयः' और काहे को पवित्र यज्ञों में वीणागाथियों के गान और सन्मान की बातें जगह-जगह सुनाई पड़तीं?

मेरे वक्तव्य का **दूसरा** अंश यह है कि हिन्दू और विशेषतः उच्च आर्य जातियों के प्रतिनिधि यदि संगीत की निन्दा और अपमान करते हैं तो वे उस मार्ग से दूर जा रहे हैं जिस पर उनके 'पूर्वे पितरः' चले थे, यही नहीं वे पितरों के कर्मों के विरुद्ध चल रहे हैं क्योंकि वे गवैयों के बेटे-पोते हैं—उनके बहुत पुराने पुरुषा गवैये थे।

आप आश्चर्य करेंगे। मैं फिर कहता हूं कि आपके बाप-दादा गवैये थे। संक्षेप से इस बात को विचारिये। सब वर्णों की उत्पत्ति आठ गोत्रकार ऋषियों से ही है। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी उनहीं गोत्रकार ऋषियों की सन्तान हैं। शूद्रों को ज़रा देर के लिए छोड़ दीजिए, क्योंकि वे गान की और गवैयों की निन्दा नहीं करते। क्षत्रिय और वैश्य कुलों के वे ही ऋषि हैं जो ब्राह्मण कुलों के। और ब्राह्मण कुलों के ऋषि न केवल वेदों के द्रष्टा थे, वे वेद-मन्त्रों के ऋक्, यजु, साम नामक त्रिधा भिन्न स्तुति, कर्म और गान रूप प्रथा के चलाने वाले थे। जहां पर वैदिक कर्म में 'ऋग्भिः शंसति', और 'यजुर्भिर्जुहोति' है। वहीं पर 'सामभिर्गायति' भी है। कौन ब्राह्मण का बच्चा कह सकता है कि मैं इन गवैये ऋषियों की सन्तान नहीं हूं? कौन ब्राह्मण का बच्चा यह कहने का साहस कर सकता है कि ये ऋषि सामगान नहीं करते थे? और संगीत से नाक चढ़ाकर कौनसा ब्राह्मण इन सात्त्विक गवैयों का अपमान नहीं कर रहा है? तुम्बुरु का

तम्बूरा ब्राह्मणों के वाद्य के सम्बन्ध का और राजर्षि भरतमुनि का नाट्यशास्त्र क्षत्रियों के वाद्य, नृत्य के साथ निकट सम्बन्ध का सदा साक्षी रहेगा।

क्षत्रियों और वैश्यों के गोत्रकर्ता ऋषि वे ही हैं जो ब्राह्मणों के हैं। इस बात को छोड़ दीजिए। आजकल की क्षत्रिय-जातियों के वंशधर अपने आप को प्रधानत: दो कुलों का बतलाते हैं—सूर्यवंश का और चन्द्रवंश का। सूर्यवंश की प्रत्येक वंशावली दशरथ के पुत्र रामचन्द्र के पुत्र कुश और लव के साथ मिलाई जाती है और चन्द्रवंश की वंशावलियां भी देवकी-पुत्र कृष्ण तक पहुंचाई जाती हैं। इन्हीं दोनों कुलों की बात सुन लीजिये।

चन्द्रवंश की वंश-परम्पराओं के आदिकमल वासुदेव कृष्ण को जो अपना पूर्वज मानते हैं वे किस मुँह से गाने-बजाने की निन्दा करते हैं? कृष्णचन्द्र ने न केवल स्वयं गीतागीत गाया प्रत्युत उसके कारण गाए हुए पञ्चगीत आज भी संस्कृत-साहित्य के प्रियतम रत्नों में से हैं। और उनकी वंशी बजाने की महिमा का तो कहना ही क्या? मनुष्यों और देवताओं पर ही उसका व्यामोहन नहीं चलता था, पशु, पक्षी, तरु, लता, नदी, पर्वत—सब उस धुन से मस्त थे। यहां पर पञ्चगान के दो-तीन पद ज़रा ध्यान से सुन लीजिए, मैं मूल संस्कृत नहीं कहता, मथुरा के मारवाड़ी सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के मधुर अनुवाद में से सुनाता हूं—

गौ कृष्ण के मुख कढ़्यो वह वेनु-गान—
पीयूष-पान करतीं जु उठाय कान।
त्यों वत्स हू पय भरे स्तन-ग्रास छांडे,
ठाड़े रहैं सु प्रभु को हिय राखि गाढे॥

वंशी ध्वनि सुनि नदी गति होत भग्ना,
आवर्त सूचित-मनोभव में निमग्ना।
लै के तरङ्ग भुज सों कमलोपहारु,
गाढ़े गहैं सु हरि के पद-पद्म-चारु॥

गो-गोप-साथ रसरी धरि कै सु कांधैं,
वंशी बजात जब ही सुर सप्त साधै।
रोमांग वृक्ष रु रहैं चल जीव ठाड़े,
हा! चित्र!! चेतन अचेतन भाव छाड़े॥

दूर ते हि मृग-गो-गन सारे,
वेणु-नाद-हृत-चित्त विचारे।
दांत-ग्रास-धरि कान लगावें,
नैन मूंदि सभ-चित्र लखावें॥

चतुर-गोप शिशु खेलन मांहीं,
वेणु-वाद-नव-रीति महाही।
जब अरी यसुदा ! तव ताता,
ओष्ठ बिम्ब धरि वेणु बजाता॥

तबहिं सो सुनि सबैं सुरवृन्दा,
ब्रह्म-इन्द्र-शिव-पाय अनंदा।
नमित-ग्रीव चित-ध्यान लगावें,
राग-भेद नहिं जानि लजावें॥

करत हास ऽरु कटाक्ष विलासा,
हा ! तबै हम बंधे स्मर-पासा।
तरु-समान गति होय हमारी,
भूलि जांहि कबरी अरु सारी॥

पति सुतादि को छांड़ि कुल गली,
तव समीप हा ! आ गईं छली !
सरस गीत सों मोहि जो गईं,
तियन रैन में को तजै ? दईं !

ऐसे बड़े उस्ताद के वंशधरों की क्या, जाति-भाइयों की भी क्या, एक देश-वासियों तक की गाने-बजाने से प्रीति होनी चाहिए। हां, यदि कोई मेरा युवा मित्र यह कह उठे कि यह तो कवियों की कल्पना है, सच्ची बात थोड़ी है; तो मैं चुपके से उसके कान में कहूंगा कि संस्कृत की एक प्रसिद्ध कहावत के अनुसार एक ही मुर्ग़ी का एक हिस्सा पकाने के और दूसरा हिस्सा अंडा देने के काम में नहीं आ सकता; मैं मानता हूं कि यह कवियों की रचना है; परंतु तुम्हारी वंशावली का कृष्ण से मिलना भी क्या कवियों की रचना नहीं है ?

अब मर्यादा पुरुषोत्तम राजा रामचंद्र के दोनों पुत्रों की ओर आइए। उनके नाम कुश और लव थे। ये कुछ निराले से नाम हैं; पहले के और पीछे के राजाओं में बहुत ही कम (शायद नहीं भी) मिलते हैं। दोनों जोड़ले भाई थे, वाल्मीकि ने इनके सब संस्कार साथ ही किये थे, शब्द ब्रह्म का नया श्लोकमय विवर्त वाल्मीकीय रामायण इनने साथ-ही-साथ पढ़ा, उसे गा-गाकर लोकापवाद-भीरु रामचंद्र की निकाली हुई सीता के वियोग-दुःख को वे कुछ-कुछ कम करते थे और उनका लोकोत्तर गान सुनकर रामचंद्र ने जब उनसे पूछा कि 'गेये को नु विनेता वां ?' (तुम्हें गाना किसने सिखाया) तो उन्होंने वाल्मीकि का नाम लिया और पीछे राम ने उन्हें पहचान कर स्वीकार किया। बड़ी रोचक और करुण रस की कथा है। उन दोनों का नाम समास करके 'कुशलवौ' ऐसा भी आता है और

कई जगह वाल्मीकीय रामायण में 'कुशीलवौ' भी आता है, जैसे—

अभिषिच्य महात्मानावुभौ रामः कुशीलवौ ।

(रामायण : उत्तरकांड)

कुश और लव का समास करने पर बीच में ई का आ घुसना नई बात होने पर भी संस्कृत-व्याकरण के जानने वालों के लिए नई नहीं है। क्योंकि वहां बालक का नाम तो हरिचंद्र होता है; एक खास राजर्षि का नाम उन्हीं शब्दों से बनकर हरिश्चंद्र हो जाता है; दुनिया का दोस्त इस अर्थ में विश्व+मित्र बनता है और उसी में एक खास ऋषि का नाम होने से 'आ' आ जाता है और वह शब्द विश्वा-मित्र हो जाता है। आजकल किसी पार करने वाले का नाम 'पारकर' होगा; परंतु एक ऋषि का उसी अर्थ का नाम पारस्कर है। व्याकरण को भाषा की उन्नति के अधीन मानने वाले लोग कहेंगे, ये पुराने शब्द हैं व्याकरणों के बनने के पहले भाषा के चालू सिक्कों में आ चुके थे; और पीछे वैयाकरणों ने अपनी बुद्धि के अनुसार जिन शब्दों को न बना पाया उन्हें निपातन करके अलग छांट दिया। ठीक है; मेरा उनसे कोई झगड़ा नहीं है। वे ये मानेंगे कि आजकल यदि दो जोड़ले भाई या सदा साथ रहनेवाले दो जनों के नाम कुश और लव हों तो उन्हें 'कुशलवौ' कहा जाएगा; परंतु उन दोनों भाइयों को 'कुशीलवौ' नहीं कहेंगे, वह केवल वाल्मीकि के शिष्य और मैथिली के कुमारों पर रूढ़ है।

अच्छा, ज़रा देखिए तो संस्कृत में कुशीलव का क्या अर्थ है? इसका अर्थ गाने-बजाने में कुशल, कीर्त्ति संचारक, नट वा चारण, गायक मिलता है। इन दोनों भाइयों के अर्थ में भी कुशीलव पद पाया जाता है। कुशीलवों की विद्या के चलाने वाले वाल्मीकि मुनि का भी यह शब्द वाचक है। और इन अर्थों के वाचक कुशीलव शब्द की व्युत्पत्ति कोशकार यह करते हैं कि "कुत्सितं शीलं अस्त्यर्थे व, कुशीलं वाति वा"। कु=खोटा; शील=चरित्र, व=है, वाति वा=जो खोटे चरित्र को लिये फिरते हैं। इस बचपन की व्युत्पत्ति को मैं बेसमझी का टक्कर मारना कहता हूं। यह उसी पंजाबी कहावत का नमूना है कि:—

उणादि का प्रत्यय आया डुलक, डियां डोलाना;
मा धातु से सिद्ध हुआ मुलक, मियाँ मौलाना !!

वाल्मीकि रामायण के पहले किसी ग्रंथ में गवैयों के अर्थ में कुशीलव शब्द नहीं मिलता। अतएव मेरा सिद्धांत यह है कि ये दोनों भाई कुशीलव इतने बढ़िया गवैये थे कि उनके पीछे गवैयों भर का नाम कुशीलव हो गया।

भाषा-विज्ञान के खोजी जानते हैं कि विशेष संज्ञा-नामों से साधारण गुण नाम बन जाते हैं। एक कादम्बरी उपन्यास के पीछे मराठी भाषा में उपन्यास

मात्र का साधारण नाम कादम्बरी हो गया है। एक भगीरथ के हिमालय पर्वत से समुद्र तक गङ्गा नदी को लाने के परिश्रम को देखकर बड़े हिम्मत के कामों में 'भगीरथ प्रयत्न' कहने लग गये हैं। हिंदी में एक प्रसिद्ध अंधा सूरदास नामक हो गया है जिसके पीछे अंधे अंधे सभी सूरदास जी कहलाते हैं। एक जसवन्तराव होलकर काने के पीछे सभी काने जसवन्तराव हो गए हैं। 'नव्वाबी', 'सिखाशाही' आदि शब्द भी एक विशेष प्रकार की शासन-प्रणाली के वाचक होकर वैसे गुणों वाली सभी प्रणालियों के लिए लाए जाते हैं। आजकल भी एक पायोनियर अखबार की प्रसिद्धि से लोगों ने पायनियर को अखबार मात्र का सर्वनाम बना लिया है, जैसे "आपके हाथ में कौनसा पायनियर है?" ढोला नाम का एक ऐसा प्रेमिक हो गया है जिसे अपनी प्रेयसी से वियोग क्षण-भर भी इष्ट न था; इसलिए अब राजपूताना में प्रेमी मात्र को ढोला कहने लग गए हैं और चकवा-चकवी की तरह साथ रहने वाले प्रेमियों को ढोला-मारू। पीछे वैयाकरणों ने इस प्रेममय शब्द को प्राकृत के 'दुल्लहो' और संस्कृत 'दुर्लभ' और हिंदी 'दूलह' से मिलाकर अपना काम किया है। इसमें संदेह नहीं कि 'ढोला राय' को 'दुर्लभराय' का विकृत रूप मानना पड़ेगा, परंतु अत्यासक्त प्रेमी का अर्थ न दुर्लभ में है न दूलह में है; ढोला में जो वह आया है वह उस विशेष व्यक्ति के गुणों का जाति मात्र में आरोप होने से हुआ।

ऐसे उदाहरण पचासों दिए जा सकते हैं। भाषा-विज्ञान के आचार्यों ने यह उदाहरण दिया है। किसी वस्तु का नाम 'हरा' था और उसका यह डित्थ कपित्थ की तरह अनर्थक नाम था। उसमें हरा (हरित) गुण भी था। अब लोगों को जो चीज़ हरित दिखाई पड़ती उसे वे सादृश्य के कारण "हरा! हरा!!" चिल्लाने लगे। होते-होते हरित गुण की वस्तु मात्र का साधारण नाम हरा हो गया जो एक विशेष अनर्थक नाम से निकल कर गुणवाचक हो गया।

यही 'कुशीलव' के साथ हुआ होगा। अयोध्यावासियों के इतिहास में अपने राजा की खोई हुई रानी और पुत्रों का मिलना बड़ी भारी हलचल पैदा करने वाली घटना हुई होगी। राम ने 'लोक एव जानाति किमपि' कहकर सारा पुण्य-पाप का भार प्रजा पर रख दिया था। राम के छोटे भाई अपने अग्रज की निःसंतानता पर दुःखी थे जैसा भवभूति ने चंद्रकेतु और सुमंत के मुँह से कहलाया है।[1] प्रजा भी अपने भविष्यशून्य सिंहासन को देखकर दुखी थी। इसी अवसर

१. अप्रतिष्ठे रघुज्येष्ठे का प्रतिष्ठा कुलस्य नः।
इति दुःखेन पीड्यन्ते त्रयो नः पितरोऽपरे।
मनोरथस्य यद्बीजं तद्दैवेनादितो हृतम्।
लतायां पूर्वलूनायां प्रसूनस्यागमः कुतः।

में नाटक के समान घटना से दो गाने वाले जोड़ले भाई, जो 'कुशीलव' कहलाते थे, रंगमंच पर आते हैं और रामचंद्र और अयोध्यावासी उन्हें अपना मान लेते हैं। इस समय कुशीलव का और कोई अर्थ नहीं है, यह उन दोनों भाइयों का जुड़ा हुआ नाम है। अब हाट-बाट में घर-घर में कुशीलवों की चर्चा फैल गई—"देखो, ये कुशीलव कितना अच्छा गाते हैं कि सुनते-सुनते हमारे राजा को अश्रु आ गये ! क्यों भई, पहले भी कभी ऐसे कुशीलव सुने गए थे ? अपनी अयोध्या में ऐसे कितने कुशीलव हैं ? जी, अयोध्या की गिनती क्या आर्यावर्त में इन जैसे कुशीलव नहीं हैं।" वाल्मीकि को आता देखकर लोग अंगुली उठा-उठा कर कहने लगते, "हाँ, देखो यह कुशीलवों का गुरु आया ! क्या यह और भी कुशीलव तैयार कर रहा है ?" शायद नायिकाओं ने अपने विदग्ध नायकों से कहा हो कि 'हमें रिझाना हो तो कुशीलव बनकर आओ'। और किसी पिता ने जब देखा हो कि बेटा दूकान को न सम्हाल कर दिन भर ताना रीरी में लगा रहता है तो उसने उसे सिर धुनता हुआ देखकर झिड़क कर कहा हो – "कुशीलवों की दुम बना आता है ! तेरे जैसे जब कुशीलव हो जायंगे तब अयोध्या भर में किसी को नींद नहीं लेने देंगे।"

यों होते-होते यदृच्छा शब्द कुशीलव का अर्थ गवैया बजवैया मात्र हो गया। जैसे बुड्ढे वसिष्ठ के कारण हर एक आदरणीय वृद्ध को वसिष्ठ कहते हैं (खालक बारी का बसीठ=पैगम्बर) वैसे उन सुचतुर गवैयों के कारण सभी गाने-बजाने वाले कुशीलव कहलाने लगे। पीछे कई सौ वर्षों बाद जब इस शब्द की असली उत्पत्ति को लोग भूल गये थे किसी अक्षरकीट पंडित ने अपने समय की गवैयों की घृणा को देखकर 'कुत्सितं शीलं' वाली भानमती के कुनबे की-सी व्युत्पत्ति गढ़ दी।" वंश दो तरह चलता है विद्या से और जन्म से, तो क्यों कुशीलवों के जन्म-वंशज अपने वंशकर्ताओं की विद्या से घृणा करते हैं ?[1]

यदि यह कहा जाए कि गवैयों का नाम कुशीलव रामचंद्र के पुत्र लव और कुश से पुराना है तो प्रमाण न होने पर भी इसमें इष्टापत्ति है। तो यों हुआ होगा कि दो चतुर बालक कुशीलव (=गवैये) अयोध्या में आए और पहचान होने पर राजपुत्र मान लिये गये। उनका नाम किसी को नहीं मालूम था। 'कुशीलवों

१. एक और विनोद की बात है; संस्कृत भाषा के व्याकरण के अनुसार गोत्र के सब व्यक्तियों का नाम गोत्रकार के नाम से चलता है। कुशिक के वंश के लोग कुशिकाः कहलाएंगे ('एष वः कुशिका वीरो'—ऐतरेय ब्राह्मण) और भरत के वंश के लोग भरताः ('एष वो राजा भरताः—कृष्ण यजु०)। इस प्रकार से चन्द्रवंशी दुष्यन्त के पुत्र शकुन्तला गर्भज भरत वंश के लोग भरताः कहलाएंगे और कुशीलवों के वंश के कुशीलवाः। और संस्कृत-साहित्य में 'भरताः' और 'कुशीलवाः' यह नाचने-गाने-बजाने में चतुर लोगों का नाम है !!!

को राजा ने अपना पुत्र पहचान लिया'—'अब कुशीलव हमारे राजा बनेंगे'—इस प्रकार की बातें अयोध्या में होते-होते लोग उन्हें कुशीलव ही कहने लग गए। जैसे बड़े पहलवान वा पंडित का नाम कोई नहीं जानता या लेता वरन् उन्हें पहलवान जी या पण्डित जी कहता है वैसे ये दोनों भाई कुशीलव ही कहे गये। पीछे उसी नाम को फाड़ कर उनके नाम लोगों ने कुश और लव रख लिये। क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि ये निराले-से नाम हैं और संस्कृत-साहित्य में शायद और कहीं पाए नहीं जाते। और इनके निरालेपन ही को देख कर और कुशीलव से इनका निकलना न सोच कर कई सौ वर्षों पीछे (और उस समय गानविद्या और उसके प्रचारकों से गर्हा उत्पन्न हो गई हो) यह द्रविड प्राणायाम से बादरायण संबंध निकाला गया कि वाल्मीकि ने उनके गर्भक्लेशों को कुश और लव (= गोपुच्छ) से मिटाया था इससे उनके नाम कुश और लव रक्खे गये। जिस एक गर्भ में जोड़ले भाई हैं उसके क्लेश मिटाने के लिए न्यारे-न्यारे उपकरण कैसे लिये गये यह जैसे विचारणीय है वैसे यह अप्रमाण कथा भी विचारणीय है कि एक दिन लव को खो कर सीता व्याकुल हो रही थी तो मुनि ने कुश पर छींटा मारकर एक दूसरा बालक बना दिया! इससे एक पुत्र वाली सीता के दो पुत्र हो गये !! और यह बात ही न्यारी है कि ज्येष्ठ कुश उस कथा में कनिष्ठ हो जाता है !!!

चाहे जो हो, चाहे उन दो राजकुमारों के पीछे गवैये कुशीलव कहलाए हों और चाहे गवैया होने के कारण वे दोनों कुशीलव कहलाए हों— इसमें संदेह नहीं कि वे शब्दब्रह्म के नए विवर्त आदिकाव्य रामायण के चतुर गाने वाले थे। उनके गानवेत्ता होने में कोई संदेह नहीं। यदि रामचंद्र की ऐतिहासिकता में किसी को संदेह हो तो यह तो मानना ही पड़ेगा कि रामचरित आदिकवि की कल्पना है। यह बात भी हमारे काम की है क्योंकि पुराने—अति पुराने—समय के कवि की दृष्टि में ऐसे चक्रवर्त्ती राजा के पुत्र और भविष्य चक्रवर्त्तियों को गानवेत्ता कहने में कोई संकोच न जान पड़ा या लज्जा नहीं आई। उस समय के पाठक भी चक्रवर्त्ती के लड़कों को गाता हुआ देख कर 'अब्रह्मण्यं, अब्रह्मण्यं' नहीं पुकारते होंगे।

यह माना कि आजकल संगीत नीच सङ्ग से कुरुचिकारक हो गया है, पर कुसङ्ग से कौन चीज़ नहीं बिगड़ जाती? और उत्तम विद्या को नीच से, स्वर्ण को अपवित्र जगह से, अमृत को विष से, स्त्रीरत्न को दुष्कुल से लेने के विषय में भी तो नीति का एक श्लोक है न?

[प्रथम प्रकाशन : मर्यादा : मार्च, १९११ ई०]

साँप के काटने का विलक्षण उपाय

ग्वालियर राज्य में एक मकसूदनगढ़ या नया किला नाम का एक छोटा-सा स्थान है। वह, रेल के रास्ते से, राघोगढ़ से, अथवा भोपाल के पास पड़ता है। वहाँ जाने के लिए कौनसा रेलवे स्टेशन है यह ठीक पता नहीं चला; पर हाँ, यह तो जान पड़ा है कि मकसूदनगढ़ अपने आप रेल का स्टेशन नहीं है। इस ठिकाने की ठाकुर की गद्दी में यह करामात सुनी गई है कि साँप के काटने का इलाज एक अद्‌भुत रीति से वहाँ पर होता है। जो गद्दी पर बैठता है उसी में यह शक्ति रहती है, छोटे भाइयों या कुमारों में नहीं। राजपूताने के पूर्व-दक्षिण हिस्से और मालवा के बड़े भारी भाग में सब इस बात को जानते हैं; सैकड़ों नहीं तो पचासों स्त्री-पुरुष अवश्य वहाँ जाकर प्रतिवर्ष अच्छे हो आते हैं।

क्या होता है

जिस किसीको साँप काटे वह उसी समय दंश की जगह पर एक डोरा बाँधकर कह देवे—"यह महाराज धीरजसिंह जी की ताँती (तंतु, तागा) है, साँप को धीरजसिंह जी की आण (शपथ) है यदि मुझ पर विष चढ़ा तो। मैं एक महीने (दो महीना या छः महीना, कोई निर्दिष्ट समय बताना चाहिए) नए किले की गद्दी पर हाजिर हो जाऊँगा। सिर्फ कहने का तात्पर्य ऐसा होना चाहिए। कुछ यह जरूरी नहीं है कि भाषा यह की यही हो। साथ ही, यह भी निश्चय नहीं हुआ है कि राजपूताना की देहाती भाषाओं को छोड़कर अरबी, फारसी, संस्कृत या अंगरेजी में यही बात कही जाए तो उसका प्रभाव क्या होता है। खैर, यह कहते ही साँप का विष नहीं चढ़ेगा। काटा हुआ मनुष्य अपना काम करने लगता है। किन्तु यदि निर्दिष्ट समय के अन्दर वह नए किले नहीं जावे तो अवधि का दिन पूरा होते ही उसे विष चढ़ता है और वह मर जाता है। नए किले में जाते ही उसे बाहर मन्दिर के पण्डे से मिलकर सूचना देनी चाहिए कि एक साँप का काटा आया है। वह ठाकुर साहब को सूचना देता है। वहाँ पर आने वाले स्त्री या पुरुष जैसा हो, उसके लिए वैसा ही खाने-पीने, रहने का प्रबन्ध किया

जाता है। क्योंकि लोक-विश्वास और चाल के अनुसार धीरजसिंह जी गद्दी वाले न सिर्फ साँप के काटे को मौत के मुँह से बचाते हैं; बल्कि उसे सब तरह का सुख और खर्च देकर घर भेजते हैं। देहली पर जाते ही काटे हुए का विष चढ़ता है, वह हाथ-पाँव पछाड़ता है (कभी-कभी मुँह से झाग निकालता है) और बेहोश हो, गिर पड़ता है। वह उठाया जाकर ठाकुर साहब के सामने लाया जाता है। वे उससे पूछते हैं कि तू कहाँ रहता है। वह, अर्थात् उसे काटने वाला साँप, उत्तर देता है कि मैं अमुक पेड़ की जड़ में, या फलाने कुएँ की चिनाई में, (या और किसी जगह) रहता हूँ। मानो उस मनुष्य के शरीर में विष के रूप से साँप ने प्रवेश कर लिया है। अक्सर साँप के काटे हुए लोग ३/४ कोस की दूरी से ही आते हैं क्योंकि करामाती स्थानों की बड़ाई या तो बहुत छोटे घेरे में रहती है, या बहुत ही दूर तक अपने किरण छोड़ती है। ऐसे पास के लोगों के प्रमाण पर जब बताए हुए पते पर साँप खोजा गया है तब, लोग कहते हैं कि, वहीं मिला है। पीछे पूछा जाता है कि तूने इसे क्यों काटा? उत्तर में साँप, काटने का कारण कहता है। जैसे, इसने मेरी दुम को कुचला, या मेरे लाठी मारी, या मेरे जोड़े को मार डाला। (यह भी काटे हुए मनुष्य से पूछा जाता है तो ठीक निकलता है।) तब ठाकुर साहब आज्ञा देते हैं कि तुम इस मनुष्य को छोड़कर चले जाओ। साँप यदि भला होता है तो मान लेता है और वह मनुष्य नींद से उठने वाले की तरह चौंककर जाग पड़ता है। यदि साँप दुष्ट जाति का होता है तो वह कह देता है कि मैं नहीं छोड़ूँगा। तब ठाकुर साहब अपने जेब में से एक रूमाल निकालकर उसे बटना शुरू करते हैं। ज्यों-ज्यों वे उसमें बल देते हैं त्यों-त्यों ऐसा मानते हैं कि साँप के शरीर में बट लगते जा रहे हैं। एक, दो या तीन बल में ही वह मनुष्य हा-हा खाता है और कहता है—"माफ कीजिए, मैं जाता हूँ" और होश में आ जाता है। पीछे खर्च आदि लेकर ठाकुर साहब का गुण गाता हुआ अपने घर लौट जाता है।

वैज्ञानिक विचार

विष के रूप से साँप ही काटे हुए के शरीर में घुस जाता है, ऐसा कई लोग मानते हैं। और जगह भी साँप के काटे हुए को 'बकराकर' (बकना शुरू कराकर) प्रश्न पूछे जाते हैं और यह माना जाता है कि साँप उत्तर दे रहा है। यह बकराना मन्त्र से, या मेस्मेरिज़्म के से, 'पास' करने से होता है। धीरजसिंह के नाम से विष का जोर न करना नाम के मन्त्रबल से हो सकता है अथवा नाम लेने के मन पर दृढ़ विश्वास के प्रभाव से हो सकता है। ऐसे ही निर्दिष्ट समय पर मकसूदनगढ़ न पहुँच सकने वाले का मर जाना भी इसी दृढ़ विश्वास के हट जाने की शिथिलता का फल हो सकता है। दो मनुष्य पास-पास सो रहे थे। एक

को साँप ने काटा, दूसरे को चूहे ने। चूहे के काटे हुए ने समझा मुझे साँप ने काँटा है और उसे जहर चढ़ने लगा, मुँह में फेन आ गए, आँख चढ़ गई और साँप का काटा हुआ यह समझकर कि मुझे चूहे ने काटा है खेलता-कूदता रहा। एक दंश पहचानने वाले ने दाँत का निशान पहचानकर जब पहले को कहा कि तुम्हें चूहे ने काटा है तो वह भला-चंगा हो गया और दूसरा उसीसे यह सुनकर कि उसे साँप ने काटा है मूर्छित हुआ और मर गया। यह सहानुभूतियुक्त कल्पना (Sympathetic Imagination) का फल हो सकता है। झाड़-फूंक के द्वारा, मन्त्रों के द्वारा, जो साँप का जहर उतारने का दावा किया जाता है वह भी मानसिक बल से काटे हुए की मनोवृत्तियों को विश्वास की भित्ति पर जमाकर, दूसरी तरफ लगाने से होता होगा। पहला मानसिक जादू काटने वाले और काटे हुए की एकता है, दूसरी मानसिक करामात रूमाल और अपराधी की एकता है जो पहले के कान ऐंठने से दूसरे के कान ऐंठवा देती है।

नामों की महिमा

कुछ नामों के विषय में भी यह होता है कि उन नामों से साँपों का विष हटता हुआ वताया जाता हैं। हैदराबाद भूतपूर्व निज़ाम महमूदअली बेग में भी यह सामर्थ्य कहा जाता था। केवल इतना ही आवश्यक था कि साँप के काटते ही निज़ाम महमूदअली वेग का नाम ले लिया जाय। बस, धीरजसिंह जी की गद्दी की तरह हैदराबाद जाने की जरूरत न थी; केवल तार या चिट्ठी से दक्षिण के निजामुलमुल्क को यह सूचना देनी होती थी कि आपके नाम से यह आराम हुआ। नहीं जानते कि वर्तमान और भविष्य निज़ामों में भी यह शक्ति रहेगी या नहीं। पंजाब में 'गूगा छत्री' के नाम की ऐसी ही महिमा है; —यहाँ तक कि सांप मात्र को लोग 'गूगा' कहने लग गए हैं। गूगा जी के विषय में कुछ और भी कहना है। साँप के विष के बारे में आस्तिक लोग एक श्लोक पढ़ा करते हैं जिसका अर्थ यह है कि "नर्मदा को सुबह को प्रणाम और नर्मदा को रात को प्रणाम। नर्मदे, तुमको प्रणाम, मुझे सर्प-विष से बचा।" यों लिया जाने वाला नाम किसी प्रबल पराक्रमी या साँपों के परिचित किसी उनके उपकारी का होना चाहिए जिसके नाम से साँप दबते हों। 'महाभारत' के पढ़ने वाले यायावर कुल के जरत्कारु ऋषि और नाग-कुल की जरत्कारी के पुत्र आस्तीक का नाम जानते होंगे जिसने अपने वैदिक ज्ञान के वल से परीक्षित जनमेजय के सर्पसत्र को बन्द कराकर अपने मामा के कुल की रक्षा की थी। उसके नाम के प्रभाव से साँप को दूर रखने के लिए कहा जाता है—"सांप, हट जा, तेरा भला हो, महाविष, दूर हट जा। जनमेजय के यज्ञ के अन्त में आस्तीक का वचन याद कर। आस्तीक का वचन सुनकर जो साँप नहीं

हटता उसका सिर सौ टुकड़ों में फट जाता है जैसे शिश वृक्ष का फल।" ये दोनों श्लोक 'महाभारत' में हैं और (हँसिए मत) ऋग्वेद-परिशिष्ट में भी पहुँचा दिए गए हैं। तो जैसे 'ओं आस्तीकाय नमः' कहने से साँप का भय नहीं रहता, वैसे ही धीरजसिंह जी की भी आण देने से भी साँप का विष नहीं चढ़ता, माना जाता है।

धीरजसिंह जी कौन थे? साँपों के कुल से उनका ऐसा कौनसा सम्बन्ध था कि साँप अब तक उनका आदर करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में धीरजसिंह जी का रोचक उपाख्यान सुनिए—"धीरजसिंह जी, कई पीढ़ियाँ पहले, इसी वंश में हुए हैं। कितनी पीढ़ियाँ उनसे मकसूदनगढ़ के वर्तमान अधिकारी तक हुईं यह नहीं जाना जाता। संभव है कि वर्तमान ठाकुर के पास अपना वंशवृक्ष हो। अस्तु, एक दिन वे जंगल में जा रहे थे। देखा कि उच्चकुल की सर्पिणी एक नीचकुल के सर्प के साथ सहवास कर रही है। साँपों की जाति पहचानना पुराने लोगों की एक विद्या थी। महाभारत में साँपों की ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदि कई जातियाँ लिखी हैं। राजा को यह अनाचार बुरा लगा, उसने बैंत की चोट मारकर उन दोनों को अलग किया और अपना रास्ता लिया। कहते हैं कि साँप अपना मैथुन देखने वाले को क्षमा नहीं करता। अवश्य ही जारिणी सर्पिणी ने अपने प्रेमी को उसकाया* होगा कि बदला ले, किन्तु उस कापुरुष ने दुम दबाकर अपनी बहकाई हुई प्रेयसी को बैंत की चोट का स्मरण करने के लिए छोड़ दिया। स्त्री ने अपने पति नाग से जाकर कहा कि राजा धीरजसिंह ने मुझ निरपराध स्त्री पर प्रमाद से आघात किया है आप मेरा बदला लीजिए। सर्प फुफकारता हुआ राजमहल में पहुँचा और एक मोरी में अवसर ताकता हुआ छिप रहा। इसी समय राजा भीतर अपनी रानी से कह रहे थे कि देखो कलियुग का प्रवेश हम मनुष्यों में ही नहीं, सर्पों में भी हो गया है। आज मैंने एक नीच जाति के सर्प के साथ एक उच्चकुल की नागिनी को देखा। हा! हन्त! समय न मालूम और क्या-क्या दिखाएगा?

पनाले में से यह सुनकर नाग राजा के सामने आया और (अवश्य ही यह उस समय की बात होगी जब साँप मनुष्यों की भाषा बोल सकते थे!!) धीरजसिंह से सच्चा हाल सुनकर बोला—"मैं उस छलिनी के वचनों से मोहित होकर आपको मारने आया था परन्तु अब मेरी आँखों पर से परदा हट गया है। आप जो चाहें, वर मांगिए।" बार-बार पूछने पर राजा ने यह वर मांगा कि मुझमें और मेरे वंशधरों में यह शक्ति हो कि वे साँप के काटे हुए को अच्छा कर सकें और सब साँप उन मनुष्यों को छोड़ दें जो मेरा नाम लें। साँप

* उकसाया।

'तथास्तु' कहकर चला गया। पीछे उसने अपनी कुलटा स्त्री को क्या दण्ड दिया और उस क्षुद्र साँप की क्या दशा की जो न केवल 'परदाराभिमर्षण' में शूर था परन्तु अपना तथा अपनी विश्वसिनी प्रिया के अपमान को देखकर कायरपन की प्रतिमूर्ति बनकर भाग गया था; इसका साँप के गार्हस्थ्य-सुख से सम्बन्ध होते हुए भी हमारी कथा से कुछ सम्बन्ध नहीं है।

ऊपर का लिखा हुआ वृत्तांत एक प्रामाणिक व्यक्ति से सुना हुआ है; कई मनुष्यों ने इसके सत्य होने की साखी भरी है। यदि यह सत्य हो तो इस विषय की जाँच होनी चाहिए। जब मकसूदनगढ़ के ठाकुर साहब प्रत्येक साँप के काटे को भला-चंगा करके उसे वस्त्र देकर भी सत्कार करते हैं, तब अवश्य ही वे अपने यहाँ एक रजिस्टर रख सकते हैं। उसमें लिखा जाना चाहिए – अमुक दिन साँप का काटा अमुक व्यक्ति यहाँ आया, उसके कथन के अनुसार उसे साँप ने अमुक स्थान में इतने दिन पहले काटा था, और वह चंगा होकर चला गया। यदि १० वर्ष तक भी ऐसा नकशा रखा जाय तो यह गवाही ऐसी प्रबल हो जाएगी कि कट्टर-से-कट्टर नास्तिक भी इसे नहीं हिला सकता। और अब अंगरेजी राज्य और रेल की कृपा से हिन्दुस्तान का कोई भी भाग मकसूदगढ़ से इतना दूर नहीं रहा है कि एक-एक सप्ताह में वहाँ न पहुँचा जा सके। यदि दस वर्ष का लेखा सही-सही रखा जाय तो मकसूदनगढ़ तक रेल भी बनाई जा सकती है और जो सरकार पागल कुत्तों के काटे हुए दीनों को बिना किराया लिए कसौली के 'पाश्चूर इन्स्टिट्यूट' में भेजती है उससे यह भी आशा की जा सकती है कि हर थाने, हर पुलिस-चौकी में यह ढिंढ़ोरा पिटवा दे कि साँप के काटते ही राजा धीरजसिंह जी की शपथ खाओ। इस देश में प्रतिवर्ष सहस्रों मनुष्य गाँवों में साँप के काटने से मरते हैं। उनके बचने का ऐसा सुलभ उपाय होने से राजा-प्रजा में मकसूदनगढ़ के ठाकुर साहब का कितना मान होगा ?

किन्तु

एक बात विचारने की है। यह भय है कि सर्वसाधारण में प्रकाशित करने से धीरजसिंह जी के नाममन्त्र की महिमा कहीं घट न जाय। कभी-कभी करामातों के विषय में यह सुना गया है कि उन्हें बहुत ही तंग हद में रखना चाहिए जिससे अवज्ञा न उत्पन्न हो। सर्वसाधारण की जानकारी की उंगली के सामने करामात की लजवन्ती मुँह छिपा लिया करती है। चाहे जो हो, यह विषय खोजने और विचारने योग्य अवश्य है।

[प्रथम प्रकाशन : इंदु : जनवरी, १९१३ ई०]

संस्कृत की 'टिपरारी'

[१]

योरोप के वर्तमान युद्ध में टिपरारी ने खूब नाम पाया। आयरलैंड के एक कोने में टिपरारी नामक एक न-जाना-सुना गाँव है। किसी दिलचले कवि ने उसे एक गीत में अमर कर दिया है। गीत में टिपरारी-निवासी किसी कल्पित ग्रामीण का भोलापन और देश-प्रेम दिखाया गया है। परन्तु जैसे तुलसीदासजी ने साबर-मन्त्रों के लिए कहा है कि 'अनमिल आखर अर्थ न जापू। प्रकट प्रभाव महेस प्रतापू' वैसे ही अँगरेज़ सिपाही लाम में इस व्यंग्यमय गीत को गाकर बहुत आश्वासन पाते हैं। जहाँ थकावट और घबराहट के बादल उनके प्रसन्न मुखों पर छाये कि टिपरारी की धुन ने उन्हें चौगुना चमका दिया। इस युद्ध में टिपरारी पर और भी शान चढ़ी,—फ्रेंच में, जर्मन में, हिन्दी में, उर्दू में उसके अनुवाद हुए। हमारे जवान भी 'कद्दू मज़ेदार' और 'बलूची जालमा' की जगह उसे अलापने लगे। अँगरेज़-सिपाही किस प्रकार हँसता-खेलता मृत्यु के मुख में धँस जाता है, किस प्रकार कमर-कमर भर कीच में वह ठट्ठा करता रहता है, इसका मानो टिपरारी विज्ञापन हो गया, मन्त्र हो गया। टिपरारी के शब्द और अर्थ का विचार करके आज यह दिखाना है कि इससे मिलता हुआ भावमय काव्य हमारे यहाँ भी है।

टिपरारी का गीत यह है—

१. Up to mighty London came
An Irishman one day;
As the streets were paved with gold
Sure everyone was gay.
Singing songs of Piccadilly
Strand and Leister—square

Till Paddy got excited
Then he shouted to them there :
It's a long way to Tipperary
It's a long way to go
(टेक) It's a long way to Tipperary
To the sweetest girl I know.
Goodbye Piccadilly
Farewell, Leister—square
It's a long, long way to Tipperary
But my heart's right there.

२. Paddy wrote a letter to
his Irish Molly o
Saying should you not receive it
Write and let me know.
If I make mistakes in spelling
Molly dear, said he,
Remember it's the pen that's bad
Don't lay the blame on me.
(टेक) It's a long way etc.

३. Molly wrote a neat reply
To Irish Paddy o
Saying Mawklin wants
to marry me and so
Leave the Strand and Piccadilly
Or you will be to blame
For love has fairly drove me silly
Hoping you are the same.
(टेक) It's a long way.

ज़रा इसके भाव को देखिए। जैसे हमारे यहाँ शिकारपुर के या भौगांव के या बदायूं के भोले सरदार प्रसिद्ध हैं, वैसे अँगरेजी-साहित्य में आयरलैंड के निवासी 'पैडी' के उपनाम से बनाये जाते हैं। एक दिन पैडी लन्दन-महानगर में आया। कलकत्ते में एकदम पहुँचनेवाले भोजपुरिये और बम्बई में अचानक आ धमकनेवाले मारवाड़ी की तरह वह भौंचक रह गया। वहाँ की सड़कें मानो सोने

से मढ़ी हुई थीं, सब लोग प्रसन्न थे और पिकाडिली के जौहरी बाज़ार, स्ट्रैंड के मोती-कटरे और लीस्टर-स्क्वायर के मानिक चौक के सब गीत गा रहे थे। पैंडी साहब को भी जोश आ गया और आप चिल्ला उठे—"मेरी टिपरारी बहुत-बहुत दूर है; बहुत ही दूर है। मेरी प्रियतमा के पास टिपरारी जाना यहाँ से बहुत ही दूर पड़ता है। पिकाडिली, सलाम और लीस्टर स्क्वायर, नमस्कार। टिपटारी बहुत ही दूर है, पर मेरा हृदय वहीं है।"

चमत्कार यह है कि लन्दन के ऐश्वर्य के आगे भी वह अपने छोटे-से गाँव और वहाँ पर अपनी परिचिता सुन्दरी की धुन में रमा हुआ कहता है कि मेरा हृदय वहीं है।

दूसरी कड़ी का विरोधात्मक हास्य देखिए। पैंडी ने अपनी आयरलैंड-निवासिनी प्रेयसी मौली को पत्र लिखा कि यदि तुम्हें यह पत्र न मिले तो लिख कर मुझे सूचना देना! यदि मेरे लेख में कोई अशुद्धि हो तो याद रखना कि क़लम ख़राब है, (आँगन टेढ़ा है) मुझे दोष न देना !!

तीसरी कड़ी में मौली का उत्तर बड़ी सफ़ाई से दिया गया है। वह कहती है कि तुम्हारे यहाँ से चले जाने पर दूसरों की बन आई है। माकलिन मुझसे विवाह करना चाहता है। इसलिए स्ट्रैंड और पिकाडली को छोड़ कर चले आओ, नहीं तो सब दोष तुम्हारे सिर रहेगा, क्योंकि प्रेम ने मुझे पागल कर रक्खा है और (जैसे चिट्ठियों में कुशल-समाचार लिखते हैं) आशा है कि तुम भी वैसे ही होगे !!!

इसके पीछे क्या हुआ, यह गीत में नहीं। मौली और टिपरारी का दोहरा आकर्षण पैंडी को लन्दन की सुवर्ण-वीथिका (सोनागाछी नहीं) से खींच ले गया होगा और हिन्दी के एक पुराने भावमय गीत के अनुसार—

कब ऊगेगो सुक्र? चले चालो।
गोरी ने डोला कसवायो रसिया ने सिकल कर्यो भालो॥

[२]

महाभारत का युद्ध हो रहा है। भीष्म और द्रोण मर चुके हैं। कर्ण बड़ अभिमान के साथ सेनापति बन कर अर्जुन से लड़ने चले हैं। मद्रराज शल्य इस शर्त पर उनका सारथि बना है कि मैं जो चाहूँ सो कर्ण को सुना दूँ। कर्ण ने युद्ध-क्षेत्र में आते ही डींग मारना आरम्भ किया। कहता है कि अब अर्जुन और कृष्ण मरे। मुझे कोई अर्जुन को दिखा तो दे। मैं दिखानेवाले को छै हथिनियोंवाला सोने का रथ दूँ, गले में सोना पहने हुए दासियाँ दूँ, चौदह वैश्यग्राम—मारवाड़ी सेठों के गाँव (इसका स्वारस्य शेखावाटी के ठाकुरों से पूछना चाहिए)—दे दूँ। यों ही वह शेख़ी बघारता गया। शल्य ने उसे झिड़कना शुरू किया। शल्य

कहता है कि जो तेरे पास इतना रुपया है तो यज्ञ क्यों नहीं करता ? क्या तुझे इस तरह मृत्युमुख में जाने से रोकनेवाले मित्र नहीं ? माता की गोद में पड़ा-पड़ा तू चन्दखिलौना माँगता है ! क्या कभी गीदड़ ने शेर को मारा है ? हंस की चाल चलनेवाले कौवे की तरह ही तेरी दुर्गति होगी !

कर्ण को क्रोध आ गया। एक तो ऐसी झिड़क, दूसरे शाप की झिड़क सुनते ही तू निस्तेज हो जाएगा। शल्य पहले यह प्रतीक्षा करा कर सारथि बना था कि जो चाहूँ सो कह लूँ। अब कर्ण ने जले दिल से शल्य को बुरा-भला कहना आरम्भ किया। शल्य मद्रदेश का राजा था। मद्र पश्चिमी पंजाब है, जहाँ उस समय वाहीक नामक अनार्य जाति आ बसी थी। पाणिनि के समय में भी व्यास-नदी के उत्तर तट पर वाहीकों के ग्राम और कूप बन गए थे। वाहीकों के रीति-रिवाज से कुरुक्षेत्र और आर्य्यावर्त के निवासी बहुत घिनाते थे। मद्र और वाहीक की उस समय वही प्रसिद्धि थी जो तुलसीदास और कबीर के समय मगह (मगध) की थी। कर्ण ने कई अध्यायों में वाहीकों की बुराई की है; उनका खाना, पहनावा, स्त्रियों का व्यभिचार, अधर्म सब कुछ बखान कर शल्य को गालियाँ दी हैं कि ऐसे पापियों का तू षष्ठांशभोगी राजा है ! शल्य से चिढ़ कर उसके देश-वासियों को गाली देना कोई तर्क तो नहीं, पर क्रोधी कहीं तर्क की परवा करता है ? शल्य चुपचाप इन कुवाच्यों को पीता गया। उसने कर्ण के देश के लिए कुछ भी न कहा। पर कर्ण की वीरता पर वह गीला कम्बल डालता गया और उसे बकने दिया। उसका उद्देश सिद्ध हो रहा था। भर्त्सना से कर्ण की वीरता पानी-पानी हो रही थी और शाप का प्रभाव चढ़ रहा था। केवल अन्त में शल्य ने कहा—"कर्ण, तुम्हारे अङ्गदेश में भी आतुरों को मरने के लिए छोड़ देते हैं और स्त्रियों तथा पुत्रों को बेच दिया करते हैं; प्रत्येक देश में सदाचार और दुराचार होते हैं। इससे क्या ?"

जो हो, अपनी जलन में कर्ण ने जो वाहीकों के आचरण का चित्र खींचा है वह बड़ा ही ओजस्वी है और ऐतिहासिक मूल्य रखता है। समाज-वर्णन के ये तीन-चार अध्याय महाभारत के समुद्र में भी अनूठे रत्न हैं। जगह-जगह पर कर्ण ने कुरुराज धृतराष्ट्र के दरबार में आये हुए प्रवासी ब्राह्मणों और वाहीकों की गाथायें उद्धृत की हैं। ये गाथायें समाजचित्रण की दृष्टि से बड़े महत्त्व की हैं। कुछ तो उनमें इस ढँग की हैं जैसे—"राँड साँड सीढी संन्यासी। इनसे बचे तो सेवै कासी", "जाय कलकत्ते + + खाय अलबत्ते", "जाओ कुल्लू, हो जाओ उल्लू", "गये चम्बा, बड़ा अचम्भा"—इत्यादि। इन संक्षिप्त लोकोक्तियों में जन-समाज के मत का जो चित्रण है वह कितने स्वारस्य से भरा हुआ है। कर्ण की गाथाओं में से कुछ गाथायें ये हैं—

१. मद्रदेश की स्त्री से यदि काँजी माँगो तो वह जांघें समेट कर कहती है कि मैं अपने बेटे को दे दूँ, पति को दे दूँ, पर काँजी न दूँ।

२. युगन्धर (देश) में जल पीकर, अच्युत-स्थल में रहकर और भूतलय में नहाकर भला कहीं स्वर्ग को जा सकता है?

३. गोवर्धन नामक बड़ और सुभाण्ड नामक शहर ये दोनों कलि के द्वार हैं, यह मैं लड़कपन से सुनता आया हूँ।

४. वाल्हीक पृथ्वी के मैल हैं।

५. वाल्हीका और हीक विपाशा में दो पिशाच थे। वाहीक उनके पुत्र हैं; प्रजापति की सृष्टि ही नहीं!

६. वहाँ ब्राह्मण क्षत्रिय हो जाता है; क्षत्रिय वैश्य, शूद्र होकर नाई हो जाता है; नाई फिर ब्राह्मण हो जाता है!

७. बिच्छू का विष उतारने के लिए और राक्षस का आवेश मिटाने के लिए वाल्हीकों के पाप की दुहाई दी जाती है।

जिन गाथाओं में वाल्हीक-स्त्रियों के दुराचार का वर्णन है उनका अनुवाद करना उचित नहीं।

[३]

ख़ैर, उन गाथाओं में एक गाथा है—

[तासां किलावलिप्तानां निवसन् कुरुजाङ्गले।
कश्चिद् वाल्हीकदुष्टानां नातिहृष्टमना जगौ]
स नूनं बृहती गौरी सूक्ष्मकम्बलवासिनी
मामनुस्मरती शेते वाल्हीकं कुरुवासिनम्।
शतद्रुं नु कदा तीर्त्वा तां च रम्यामिरावतीम्
गत्वा स्वदेशं द्रक्ष्यामि स्थूलजङ्घाः शुभाः स्त्रियः?
मनःशिलोज्ज्वलापाङ्ग्यो गौर्यस्ताः काकुकूजिताः
कम्बलाजिनसंवीता रुदन्त्यः प्रियदर्शनाः।
मृदङ्गानकशङ्खानां मर्दलानाञ्चनिःस्वनैः
खरोष्ट्राश्वतरैश्चैव मत्ता यास्यामहे सुखम्।
शमीपीलुकरीराणां वनेषु सुखवर्त्मसु
अपूपान् सक्तुपिण्डांश्च प्राश्नन्तो मथितान्वितान्।
पथिषु प्रबलो भूत्वा तथा सम्पततोऽध्वगान्
चेलापहारं कुर्वाणास्ताडयिष्याम भूयसः।

कोई प्रवासी वाल्हीक कुरुक्षेत्र में आया हुआ है। प्रवासी को आर्यभूमि का

चमत्कार लुभा नहीं सका। वह अपने देश की स्त्रियों की याद करके गा रहा है—हाय, अवश्य वह वृहदाकार और गौर शरीर वाली स्त्री, बारीक पश्मीना पहने हुए, मुझ कुरुदेश-प्रवासी वाल्हीक की याद करती हुई सो रही होगी (इधर की स्त्रियाँ ठिगनी और साँवली और सूती कपड़े पहनने वाली; पेशावर की तरफ़ की स्त्रियाँ अब भी बृहती, गोरी और सूक्ष्म कम्बलवासिनी !) कब मैं सतलज को पार करके, और सुन्दर रावी को लाँघकर स्वदेश पहुँचूंगा और कब सुन्दर, मोटी जांघोंवाली, मनःशिला की-सी उज्ज्वल कनखियोंवाली, गोरी सदा मोड़ के लटके से बोलनेवाली, कम्बल और मृगचर्म पहने हुए, मेरे वियोग में रोती और प्रियदर्शन स्त्रियों को देखूंगा? (इतने में उसको अपनी प्यारी जन्मभूमि का स्मरण आ गया) ढोल, नगारे, शंख और मर्दल बजते जायँगे, और मतवाले होकर हम गधों, ऊँटों और ख़च्चरों पर चढ़े-चढ़े चले जायँगे ! वहाँ शमी, पीलु और करीर के जंगल हैं। हमारे लिए मार्ग बड़ा सुखदायक है ! वहाँ हम मट्ठे के साथ पूए और सत्तू के लड्डू खाते जायँगे और राह चलते हुए मुसाफिरों के कपड़े तक उतारकर उन्हें खूब लूटेंगे; मारेंगे !

कितना भावमय वर्णन है। अर्धसभ्य जाति के देश-प्रेम, भोजन, विहार और व्यवसाय का कितना अच्छा चित्र है ! इस गीत की अन्तिम दो कड़ियों को गाते समय प्रवासी वाहीक की आँखों में वही ज्योति आ जाती होगी जो डूंगजी जवाहरजी की धमाल सुनकर शेख़ावटी के सफ़ेद दाढ़ीवाले ठाकुरों की आँखों में अब भी आ जाती है। चाहे उसकी पथरकला-बन्दूक़ की नाली में अब मकड़ी के जाले लग गये हों और उसकी जंगलगी तलवार नन्हें बच्चों के सिरहाने रहकर भूत-प्रेतों को टालने ही के काम की रह गई हो, पर उस समय के रायबहादुर सेठ करोड़ीमल, आनरेरी मजिस्ट्रेट की ख़ैर न उस ऊँट चढ़े राजपूत से मिलने पर थी और न ख़च्चरों पर चलने वाले सत्तू खानेवाले इस वाहीक से !

इस गीत की समता का 'टिपरारी' से विचार पाठक ही करें।

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : नवम्बर, सन् १९१८ ई०]

एक हस्ताक्षरित मौलाराम*

अनुवादक : डॉ० मस्तराम कपूर

अज्ञातनामत्व भारतीय कला की एक अद्वितीय विशेषता है। कुछ अपवादों के साथ भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला की कृतियों को नाम से नहीं पहचाना जा सकता। उनकी विशिष्टता इस बात में है कि वे वैयक्तिक कृतियां न होकर जातीय कृतियां हैं। यह कथन जितना कला के क्षेत्र में सही है उतना ही साहित्य के क्षेत्र में भी सार्थक है। शुरू-शुरू के समस्त संस्कृत-साहित्य में लेखक के आत्मपरिचय के रूप में कुछ विशेष नहीं मिलता और इतिहास भी बहुत कम, नाममात्र को मिलता है। हालांकि बाद के लेखकों तथा टीकाकारों ने कभी-कभी अपने तथा अपने आश्रयदाताओं के विषय में विस्तृत जानकारी दी है। महाकाव्यों तथा पुराणों के लेखकों के नामों पर रहस्य का पर्दा पड़ा हुआ है और अधिकतर इनके साथ 'छद्मनाम' जुड़े हुए हैं।

बाद के लेखकों में अक्सर अपने नाम को छिपाने और अपनी रचनाओं को किसी पौराणिक लेखक या प्रसिद्ध कवि के नाम से प्रचारित करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। ऋग्वेद के कुछ मंत्रों के अंतिम छंद में लेखक का नाम दिया जाता था जो अधिकतर द्व्यर्थक होता है। यह प्रथा मध्ययुग के साहित्य में अचानक फिर प्रकट हुई जब लेखक का नाम छंद, गीत या मंत्र के अंत में दिया जाने लगा। जैसे—'कहे कबीर…', या 'भूषण भनत…।' सूरदास, तुलसीदास या अन्य कवि अपना पूरा या आधा नाम छंद की अंतिम पंक्ति में देते थे।

सामाजिक अनुशासन के पुराने नियमों के अनुसार न देने का प्रयोजन होता था—व्यापक जातीय चेतना में अपने व्यक्तित्व को डुबो देना। इस प्रकार कला और साहित्य में अभिव्यक्ति वैयक्तिक न होकर मुख्यतया जातीय हुई। व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को आध्यात्मिक जीवन की समरसता के लिए (जिसे

*रूपम : अप्रेल, १९२० ई० में छपे अंगरेजी लेख का हिंदी रूपांतर।

लेखक जातीय छाप के रूप में प्राप्त करना चाहता था) हानिकारक माना जाता था। कलाकार संस्कृति के एक ऐसे रूप को जन्म देता था जिसमें व्यापक और सर्वमान्य गुण होते थे जिन्हें सभी अपना सकें और जो किसी के लिए अजनबी न हों। इस प्रकार भारतीय कला में कलाकार का व्यक्तित्व एक रहस्य बन जाता है और उसके मन को जानने तथा उसके व्यक्तित्व की झलक प्राप्त करने का एकमात्र साधन हमारे पास उसकी कृतियां रह जाती हैं। यूरोप में कलाकर की कृतियों की समीक्षा और अध्ययन में उसके जीवन-संबंधी विवरण और किस्से तथा अन्य बाह्य सामग्री बाधक होती है क्योंकि कलाकृति को समझने में उनका निकट संबंध नहीं होता। किंतु कलाकार के जीवन के इन बाह्य विवरणों से हम उस वातावरण को जान सकते हैं जिसमें कलाकार जीता और काम करता था। इन विवरणों से हमारा ध्यान उसकी कलाकृतियों से, उसके मन की निर्मितियों से हटकर उसके व्यक्तित्व पर चला जाता था।

वस्तुत: कलाकार के मन और कलाकार में जो कुछ जानने योग्य होता है उसको सबसे अच्छे ढंग से उसकी कृतियों से ही जाना जा सकता है। यह एक लोकप्रिय और कुछ हद तक क्षम्य कमजोरी है कि कलाकार के बारे में जितना उसकी कृतियां बताती हैं, हम उससे अधिक जानना चाहते हैं और इस लोकप्रिय जिज्ञासा के फलस्वरूप यूरोपीय देशों में प्रसिद्ध चित्रकारों और मूर्तिकारों के जीवन और कृतियों के बारे में विशाल साहित्य की रचना हुई। सौभाग्य से, उन देशों में सामग्री इतनी उपलब्ध होती थी कि उसके आधार पर कलाकारों की कृतियों की सूची पर प्रकाश डालना तथा उनके आधार पर कलाकारों की शैली के विकास का मूल्यांकन करना आसान होता था। भारत में और सामान्यतया एशियाई देशों में इस प्रकार विवरण प्राप्त करना असंभव होता था। और भारत में तो मुग़लकाल तक हस्ताक्षरित कलाकृति अज्ञात घटना मानी जाती थी। मुग़लकालीन और उत्तर मुगलकालीन चित्रों में, तथा बाद के कांगड़ा-शैली के चित्रों में भी हस्ताक्षरित कलाकृति एक विरल वस्तु है। अतः मौलाराम के जलरंग-चित्र में जिसे सम्पादक के मूल संग्रह से उद्धृत किया गया है, कुछ असाधारण रुचि जगती है।

सन् १७६० ई० में जब मुग़ल-इतिहास के महान् नाटक के पाँचवें अंक का त्रासद अंत हो रहा था, गढ़वाल जिले में भारत के प्राचीन दरबारी चित्रकारों के अंतिम प्रतिनिधि का जन्म हुआ जिसके कंधों पर भारत की प्राचीन चित्रकारी की परंपरा की महान् ज्योति को कुछ वर्षों के लिए ज्योतित रखने का दायित्व आया क्योंकि कुछ वर्षों के बाद यह ज्योति उस राजनैतिक शक्ति के पतन के पश्चात्, जिसकी छत्रछाया में भारत की अनेक सांस्कृतिक गतिविधियां पल्लवित पुष्पित हुईं, अंतिम रूप से बुझ गई। मुग़ल साम्राज्य के विघटन से पूर्व की

अराजकता में पुरानी चित्रशैली के बहुत से जीवित कलाकारों ने हिमालय की कंदराओं में छोटे हिन्दू-राजाओं के संरक्षण में शरण ली। जिस प्रकार बंगाल में मुसलमानों के प्रवेश के बाद मगध और गौड़ की पुरानी कला ने नेपाल की घाटी में शरण खोजी, मुग़ल-दरबार के कलाकारों ने लगभग वैसी ही परिस्थियों में पंजाब के हिमालय क्षेत्र के हिन्दू राजाओं की शरण ली, कलाकारों के बहुत से परिवार धीरे-धीरे दिल्ली के दरबार से हटते गए। इनमें मौलाराम के पूर्वजों का उदाहरण विशेष तौर पर उल्लेखनीय है।[1] जब औरंगजेब के षड्यंत्रों के कारण उनका भतीजा सलीम अपनी जान की रक्षा के लिए दिल्ली से भागा तो उसने गढ़वाल के राजा फतहसिंह के यहां अस्थायी शरण ली। भगौड़े राजकुमार के साथ श्रीनगर (गढ़वाल) में दो कलाकार भी आए जिनके नाम शामदास और केहरदास थे। वे गढ़वाल के राजा के पास ही रहे जिसने कुछ समय बाद राजकुमार को धोखा देकर औरंगजेब को सौंप दिया। राजा ने उन दो कलाकारों में बड़ी रुचि दिखाई। उन्हें दीवान बना दिया गया, साथ ही पचास गांव की जागीर और पाँच रुपये रोज का भत्ता भी दिया गया। उन्हें अपने नये आश्रयदाता के अधीन विकास का अच्छा अवसर मिला होगा। उन्होंने अपनी पारिवारिक परम्परा का शिल्प और शैली मौलाराम को सौंपी, जो उस परिवार में चौथी पीढ़ी के तथा एक व्यापक संस्कृति के कलाकार थे। उनकी अनेक कलाकृतियों से पता चलता है कि वह एक प्रतिभाशाली कलाकार थे। लगता है वह हिंदी तथा फारसी में कविता भी लिखते थे।

वह औरंगजेबकालीन ऐतिहासिक घटनाओं पर कुछ पांडुलिपियां भी छोड़ गए हैं। संभवतः उस काल की स्मृतियां उस परिवार में सुरक्षित रही होंगी क्योंकि उनके पूर्वजों ने उन घटनाओं में हिस्सा लिया था। इतिहासकार के रूप में कलाकार मौलाराम की उपलब्धियों की छानबीन तो अभी नहीं हुई है किन्तु उनके द्वारा काव्य-रचना के प्रमाण मिलते हैं। डॉ० कुमार स्वामी ने अपने ग्रंथ 'राजपूत पेंटिंग' (ऑक्सफोर्ड प्रेस, खण्ड-१ पृ० २३) पर एक दोहा या छंद उद्धृत किया है जिसे मौलाराम ने अपने एक चित्र में दिया है। इसका अभिप्राय है—**हजारों लाखों गांव और सोना क्या चीज है ! मौलाराम का पुरस्कार तो सद्भाव और सुखी जीवन है। संवत् १८३२ वि० (सन् १७७५ ई०) फाल्गुन**

1. राजनैतिक इतिहास में अज्ञात अनेक जागीरदारों और राजाओं को उनके दरबारी कलाकारों ने अमर बना दिया है। इसका प्रमाण हैं अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के अनेक पोर्टेट। उदाहरणार्थ : नूरपुर (कांगड़ा) के राजा वीरसिंह और अनेक सिख राजाओं के पोर्टेट।

शुक्ल पंचमी तथास्तु।[1] यह बात उनके एक और चित्र से भी प्रकट होती है कि मौलाराम अपने चित्रों पर अपनी कविताएं लिखा करते थे। चित्रों पर विवरणात्मक टिप्पणियां या कविताएं उकेरने की प्रथा प्राचीन चीनी-चित्रों में आम बात थी और प्राचीन कलाकारों में भी इसका काफी प्रचलन हो गया था। महाकाव्यों और पुराणों की घटनाओं से संबंधित चित्रों तथा राग-रागनियों के चित्रों पर हमेशा कलाकार की हस्तलिपि में कविताओं के उद्धरण, विषय पर प्रकाश डालने के लिए सामान्यतया चित्रों के ऊपर दिए जाते थे। ये उद्धरण अक्सर हिंदी या संस्कृत में प्रचलित लोकप्रिय पाठों से लिए जाते थे। मौलाराम के कई चित्रों में दिए गए दोहे, छंद कलाकार की अपनी रचना होते थे क्योंकि अंतिम पंक्ति में हिंदी कविता की पुरानी परम्परा के अनुसार कवि का नाम दिया गया है।

दोनों छंदों में तिथि भी दी गई है जो कलाकार के समय को जानने के लिए स्वयं कलाकार की हस्तलिपि में लिखित महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है। निःसंदेह कम-से-कम इस (चर्चाधीन) चित्र में उद्धृत कविता स्वयं लेखक ने लिखी है। कविता बड़ी सावधानी के साथ मोटे अक्षरों में लिखी गई है। चार पदों को लाल रेखाओं से अलग किया गया है। दुर्भाग्य से लिपि के कुछ अंश खण्डित हो गए हैं किन्तु उनका भावार्थ लगाना कठिन नहीं है। लाल अक्षरों में प्रथम शब्द संभवतः 'शुभमस्तु' है। कविता की भाषा हिंदी है (व्रजभाषा—व्रज और मथुरा जिले की बोली) और कविता सुप्रसिद्ध 'सवैया' छंद में है। बीच के दो खण्डित शब्दों को छोड़ देने के बाद कविता इस प्रकार है—

बाग विलोकन कूं नवला निकसी मुखचंद्र दिखावत ही।
लखि संग च (कोरा)...सब्द कठोर सुनावत ही॥
उझकि-उझकि फिरकि सी फिरि चहु आशहि...
क (?) वि 'मौलाराम' चली हटी के दुपटा पट चोट बचावत ही॥
—संवत् १८५२ (सन् १७९५ ई०)

मूल कविता के मधुर शब्दों के भावों को पकड़ पाना निश्चय ही कठिन होगा किंतु कवि के भाव को निम्नलिखित स्थूल अनुवाद में रखा जा सकता है। "नव बाला बाग में निकली। ज्योंही उसने अपना मुखचंद्र दिखाया, हठी चकोर उसके आसपास मंडराने लगा जो कठोर शब्दों में उसकी प्रताड़ना करना चाहता

१. "कहां हजार कहां लक्ष हैं, अरब खरब धन ग्राम।
समझी 'मौलाराम' तो सरब सुदेह इनाम॥—सं० १८३२ फागुन। सुदी
—गढ़वाल की दिवंगत विभूतियां : भक्त दर्शन : पृ० ७४, द्वि० सं० से उद्धृत।—सम्पा०

था। वह उचक-उचककर, फिरकी की तरह घूमकर हठी चकोर की नजरों से बचने का प्रयास करने लगी। मौलाराम कवि कहते हैं कि ठीक समय पर वह पीछे हटी और अपने आंचल से चकोर पर प्रहार करने लगी।

नववाला के वस्त्र तथा आभूषण वही हैं जो आमतौर पर गढ़वाल और कांगड़ा जिले के निचले इलाकों में पाए जाते थे। चित्र और कविता दोनों ही संभवतः कलाकार द्वारा अपनी प्रियतमा की प्रशस्ति हैं और सम्भवतः वास्तविक घटना पर आधारित हैं। यद्यपि प्यासे चकोर का सुंदरी के मुखचंद्र पर झपटना एक सुपरिचित काव्य प्रौढ़ोक्ति है जिसका लगभग सभी संस्कृत-कवियों ने बार-बार प्रयोग किया है। भारतीय काव्य-परम्परा में चकोर चन्द्रमा को बहुत चाहता है। कहा जाता है कि यह चंद्रकिरणों का पान करने या जलते कोयले को निगलने में तुनुकमिजाज और अधीर होता है।[1]

छंद की भाषा में कवि मौलाराम मुखचंद्र के प्यासे चकोर के रूप में प्रस्तुत करता है, चूंकि चित्र में चकोर सुंदरी के पीत अंचल के प्रहार से बाल-बाल बचता दिखाया गया है और छंद की अन्तिम पंक्ति में भी इसका संकेत दिया गया है। यद्यपि कलाकार ने अपनी प्रियतमा को बहुत सुंदर मुद्रा में चित्रित किया है तथापि यह चित्र उनकी सर्वोत्तम कला का नमूना नहीं कहा जा सकता। चित्र में निर्णायकता और दृढ़ता है जिससे उनकी शैली के उत्तर विकास का आभास मिलता है किंतु कई बातों में चित्र कुछ अपरिष्कृत है, विशेषकर पेड़ों के चित्रण

१. चंद्रकिरणों के प्रति चकोर के मोह को दर्शाने वाले अनेक उद्धरण संस्कृत-कवियों के दिए जा सकते हैं। चूंकि प्रियतमा के मुख की उपमा चंद्रमा से दी जाती है, कवि चकोर की निष्ठा को मुख पर स्थानांतरित कर देता है। राजशेखर कृत विद्धशाल-भंजिका-१, ३१ के निम्नलिखित छंद में यह चित्र देखा जा सकता है—

उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मना-
गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः।
सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैरनुसृतः
किरञ्ज्योत्स्नामच्छां नवलवलिपाकप्रणयिनीम् ।१।३१॥

अर्थ : (राजा ऊपर देखकर विदूषक से)—अरे! जरा उस चहारदीवारी पर अपनी दृष्टि फेंको और विचार करो कि जिसकी स्थिति आकाश में नहीं है और न ही जिसके अंक में हरिण है, ऐसा यह अपूर्व चन्द्र कौनसा है। उपवन के चकोरगण अपने ग्रास को रोककर जिसकी चन्द्रिका का पान करने के लिए आकृष्ट हो रहे हैं और जो अपनी स्वच्छ एवं निर्मल ऐसी ज्योत्स्ना छिटका रहा है जो नवीनवली के समान है।

—विद्धशालभञ्जिका-नाटिका : संपा० श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, पृ० २९ से उद्धृत। प्र० : चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, सं० १९७६ ई० —सम्पादक

में। और संभवतः यह कलाकार के जीवन की मध्यावधि की कृति है, जब उनकी शैली उतनी परिपक्व नहीं हुई थी। यह बात चित्र पर दी गई तिथि से भी स्पष्ट होती है अर्थात् संवत् १८५२ (सन् १७९५ ई०)। मौलाराम का जन्म सन् १७६० ई० में और निधन सन् १८३३ ई० में हुआ था, साथ ही इस चित्र के बनाने के समय उनकी अवस्था ३५ वर्ष की रही होगी।

[प्रथम प्रकाशन : रूपम : अप्रेल, सन् १९२० ई०]

काव्य

एशिया की विजयादशमी

प्राचीन लोग, विजया दिन में बतावें,
सीमा उलाँघ अपनी रिपुधाम जावें।
जो शत्रु पास नहिं हो, रिपु चित्र ही को
संग्राम में हत करे, बल वृद्धि जो हो॥ १॥

लंकेश आज रघुनायक ने हराया,
अन्याय का परम नाशन यों सिखाया।
होती कहीं पर कहीं पर रामलीला
है पेट में पर नहीं अब हा! वसीला॥ २॥

दुर्भिक्ष वर्ष प्रतिवर्ष यहां पधारे,
न प्लेग भी अब कहीं भ्रम से सिधारे।
स्वाधीनता जब गई नव धर्म छाए,
प्राचीन धर्म कुल गौरव भी नसाए॥ ३॥

त्योहार तो वह करे जिसके कुशूल[1],
हों अन्नपूर्ण वनते रिपु ले त्रिशूल।
हो पेट पूरित जभी, तब खेल सूझे,
रोगी, ऋणी विजित, क्यों कर मोद बूझे?॥ ४॥

"मेरी विभूति नर में नरनाथ ही है"
कृष्णोक्ति से हम सदा प्रभुभक्त ही हैं।
अंग्रेज राज बल की जय हैं मनाते
यों ही रहैं युग-युगान्तर लाभ पाते॥ ५॥

१. कोठी, अन्न का भण्डार।

जापान ने शुभमयी विजया मनाई,
श्वेतांग हार उसने अबकै दिखाई।
पीतांग के विजय की तुरही बजाई,
पौरस्स[1] कायर कलंक कथा मिटाई॥ ६॥

है रूस दुष्ट अति ही उस के चरित्र,
अन्याय पूर्ण सुन के डरते विचित्र।
सेनाधिनाथ[2] उसका जब, गप्प मारे,
लूँ हिन् किचनर तभी डरते विचारे॥ ७॥

जापान धन्य! तुमने उसको पछाड़ा,
अत्युग्र शल्य अपने मन से निकाला।
जो एशिया विजित, भक्ष्य, बना हुआ था,
जेता बना, न पहिले वह सो रहा था॥ ८॥

बाल्टीक पोतचय एक नवीन आता,
हे टार्पिडो! सब कहीं उसको दिखाता।
श्री कृष्ण चिन्तन किए पर कंस जैसे,
निस्सार जय्य[3]? उसको अब मान वैसे॥ ९॥

हैं हारते हम न चार शताब्दियों से?
लोगे न वीर! बदला तुम रूस ही से।
खांडा परवाल[4]? अब बाल्टिक पोत में तू,
पूर्वान्धकार रवि आज नया उगा तू॥१०॥

प्राची त्वदीय मुख देख खुशी मनाती,
आशीस आज तुमको अपनी सुनाती।
लाखों कुपुत्र उसके जब मार भूत,
हे वंशरत्न! जगमण्डन तू सपूत॥११॥

विद्या जरा प्रिय, हमें सिखाना,
धर्मादि देश निज भारत भूलना ना।
जीओ सदा युग-युगान्तर, बुद्ध जो थे,
भूमिष्ठ होकर यही कुछ सीखते थे॥१२॥

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : सन् १९०४ ई०]

१. पूर्वदेश वासी।
२. कुरुपेटीकन
३. जीतने लायक
४. शस्त्र को धो (युद्ध समाप्त होने पर)

झुकी कमान*

(१)

आये प्रचंड रिपु, शब्द सुना उन्हीं का,
भेजी सभी जगह एक झुकी कमान।
ज्यों युद्ध चिह्न समझे सब लोग धाये,
त्यों साथ थी कह रहीं यह व्योमवाणी।
"सुना नहीं क्या रणशंखनाद ?
चलो पके खेत किसान ! छोड़ो,
पक्षी उन्हें खायँ, तुम्हें पड़ा क्या ?
भाले भिड़ाओ अब खड्ग खोलो।
हवा इन्हें साफ किया करेगी—
जो शस्त्र, हो लाल न देश छाती।।"
स्वाधीन का सुत किसान सशस्त्र दौड़ा,
आगे गई धनुष के सँग व्योमवाणी।

(२)

"छोड़ो शिकारी ! गिरि को शिकार,
उठा पुरानी तलवार लीजै,
स्वतंत्र छूटें अब बाघ भालू,
पराक्रमी और शिकार कीजै।
बिना सताये मृग चौकड़ी लें—
लो शस्त्र, है शत्रु समीप आए।"

*झुकी कमान, पान के बीड़े की तरह वीरों को बुलाने को भेजी जाती है।

आया सशस्त्र तज के मृगया अधूरी,
आगे गई धनुष के सँग व्योमवाणी।

(३)

"ज्यनोर छोड़ो सुख की रईसी,
गीतांत की बात न वीर ! जोहो।
चाहे घना झाग सुरा दिखावै,
प्रकाश में सुंदरि नाचती हो।
प्रासाद छोड़ो, सब छोड़, दौड़ो—
स्वदेश के शत्रु अवश्य मारो।
सरदार ने धनुष ले, तुरही बजाई,
आगे गई धनुष के सँग व्योमवाणी।"

(४)

"राजन् ! पिता की तव वीरता की,
कुंजों किलों (वनों) में सब गा रहे हैं।
गोपाल बैठे जहँ गीत गावें,
या भाट वीणा झनका रहे हैं।
अफीम छोड़ो, कुलशत्रु आए,
नया तुम्हारा यश भाट पावैं।
बंदूक ले, नृपकुमार बना सु-नेता,
आगे गई धनुष के संग व्योमवाणी।'

(५)

"छोड़ो अधूरा अब यज्ञ ब्रह्मन् !
वेदांत-पारायण को बिसारो,
विदेश ही का बलिवैश्वदेव,
औ' तर्पणों में रिपु रक्त डारो।
शास्त्रार्थ शस्त्रार्थ गिनो अभी से,
चलो दिखाओ 'हम अग्रजन्मा' ॥"
धोती सम्हाल, कुश छोड़, सबाण दौड़े,
आगे गई धनुष के सँग व्योमवाणी।

(६)

"माता ! न रोको निज़ पुत्र आज,
संग्राम का स्वाद (मोद), उसे चखाओ,
तलवार-भाले भगिनि ! उठा ला,
उत्साह भाई निज को दिलाओ
तू सुंदरी ! ले प्रिय से विदाई
स्वदेश मांगे उनकी सहाई।"
आगे गई धनुष के सँग व्योमवाणी,
है सत्य ही विजय, निश्चय बात जानी ;

"है जन्मभूमि जिनकी जननी समान,
स्वातंत्र्य है प्रिय जिन्हें शुभ स्वर्ग से भी।
अन्याय की जकड़ती कटु बेड़ियों को,
विद्वान वे कब समीप निवास देंगे ?"

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : सन् १९०५ ई०]

विविध

उलूलु-ध्वनि=हुर्रा

बङ्गाली समाचारपत्रों में प्रायः पढ़ते हैं कि अमुक नेता या अमुक महापुरुष का स्वागत स्त्रियों ने शङ्ख बजाकर, खीलें बरसाकर, फूल बरसाकर, और 'उलु'-ध्वनि से किया। यह उलु-उलु अथवा उलूलु-ध्वनि उस देश में स्त्रियों का हर्ष प्रकट करने के लिए प्रचलित है। इस अव्यक्त ध्वनि का उल्लेख श्रीहर्ष ने अपने 'नैषधचरित' में किया है—

> कापि प्रमोदास्फुटनिर्जिहान-
> वर्णेव या मङ्गलगीतिरासाम्।
> सैवाननेभ्यः पुरसुन्दरीणा-
> मुच्चैरुलूलुध्वनिरुच्चचार॥ सर्ग १४, श्लोक ५१

जब वैदर्भी ने नल को वरमाला पहना दी तब आनन्द से गद्गदकण्ठ स्त्रियाँ मङ्गलगीत गाने लगीं। वही मानो उलूलु-ध्वनि हुई। इस पर प्रकाश नामक टीका का कर्ता नारायण (दाक्षिणात्य) लिखता है—

विवाहाद्युत्सवे स्त्रीणां धवलादिमङ्गलगीतिविशेषाः गौडदेशे उलूलुः इत्युच्यते (?)। सोप्यव्यक्तवर्ण उच्चार्यते। स्वदेशरीतिः कविनोक्ता।

अर्थात्—विवाह आदि उत्सवों पर स्त्रियों के मङ्गलगीत गौड़ (बङ्गाल) देश में उलूलु कहलाते हैं और वे स्पष्टवर्ण (अनर्थक ध्वनिमात्र) होते हैं। कवि ने यह अपने देश की रीति कही है।

नारायण इस रीति को केवल बङ्गदेश की रीति समझता था, और आजकल भी यह रीति केवल बङ्गाल में ही है। परन्तु अनुमान होता है कि स्त्रियों का मङ्गलशब्द और जगह भी उलूलु ही था और प्राचीन समय में बड़े कोलाहल—बड़े हल्ले-गुल्ले—के अर्थ में यह शब्द आता था।

गुजरात में जगड़ूशाह नामक एक प्रसिद्ध धनी हो गया है। वह अणहिल-

पट्टन के सोलङ्की राजा लवणप्रसाद (१२५६—१२८६ ईसवी) का समसामयिक था। धनप्रभसूरि के शिष्य सर्वानन्दसूरि नामक एक जैन कवि ने उसकी प्रशंसा में 'जगड़ू-चरित' नामक काव्य वनाया है। उसमें जगड़ू की तीर्थयात्रा का वर्णन इस प्रकार है—

हेषाभिस्तु तुरङ्गाणां वारणानां किलारवैः।
रथानामपि चीत्कारैर्भुजास्फोटैर्भुजाभृताम् ॥
नग्नानां षट्पदध्वानैरुलूलैर्वामचक्षुषाम्।
संघे चलति तस्याभूच्छब्दाद्वैतमयं जगत् ॥

(मगनलाल दलपतराम खक्खर का संस्करण, बम्बई, सन् १८९६, पृष्ठ १९४, सर्ग ६, श्लोक ३६-३७)

अर्थात्—जब तीर्थयात्रा के लिए उसका संघ चला तब आकाश शब्दमय हो गया। घोड़ों की हिनहिनाहट, हाथियों की चिग्घार, रथों की घरघराहट, वीरों की खम ठोकने की ध्वनि, चारणों के छप्पय और स्त्रियों की उलूलुध्वनि से यह शब्दसमूह उत्पन्न हुआ था।

सम्भव है, श्रीहर्ष की कविता में उलूलु-शब्द और उसका अर्थ देखकर ही सर्वानन्दसूरि ने उसे इस अर्थ में प्रयुक्त किया हो; पर यह भी हो सकता है कि बङ्ग को छोड़कर और देशों की स्त्रियां भी यही ध्वनि, हर्ष प्रकट करने के लिए, करती हों।

अथर्ववेद (३।१९।६) में एक मन्त्र है—

उद् हर्षन्तां मघवन् वाजिनानि
उद् वीराणां जयतामेतु घोषः।
पृथग्घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥

यहां पर उलुलयः के पाठान्तर उलूलयः, उल्लुलयः, उललयः मिलते हैं। सायण ने बिचला पाठ मानकर इसे अनुकरण-शब्द माना है। तात्पर्य यह है—'हे दानशील देव ! हमारी सेना के पराक्रम बढ़ें, जयशील वीरों का शब्द गूंजता हुआ सुनाई दे, उच्च स्वर के विजय-शब्द न्यारे-न्यारे स्पष्ट उठें, इन्द्र की प्रधानता में मरुत् देव सेना के साथ चलें।" यहां भी उलुलयः (विशेषण) का अर्थ "ऊँचे स्वर से शब्द करने वाला" ही है।

छान्दोग्य-उपनिषद् के एक परिचित प्रकरण में यह लिखा है—

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त सर्वाणि च भूतानि च सर्वे च कामास्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा

उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामाः । (३।१९।३)

यहां पर भी सूर्योदय के समय होने वाले 'उलूलवः घोषाः' का अर्थ 'ऊँचे स्वर वाले शब्द' ही है।

यह उलूलु-शब्द यदि अनुकरण-शब्द न माना जाय तो उरु+उरु (बहुत-बहुत) या उरु+रु (शब्द=रव) से बनाना पड़ेगा। 'र' का 'ल' में परिवर्तन चाहे असुरों के देवताओं से हार जाने का कारण भले ही हो[1], परन्तु भाषा की निष्पत्ति का यह एक निश्चित नियम है। अतएव उलु या उलूलु-ध्वनि और अर्थ दोनों में अँगरेज़ी 'हुर्रा' का भ्रातृत्व ज्ञात होता है।

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : जून, सन् १९१४ ई०]

विवाह की लाटरी

विवाह एक लाटरी है। 'गाय-बजायकर', 'आँख मूंदकर', काठ में पाँव दिया जाता है। आगे चलकर किसी को वह काठ सोने का कंकण बन जाता है, किसी को काठ ही बना रहता है, किसी को लोहे की बेड़ी और किसी को जलते अंगारों की माला बन जाता है। दो न्यारे दृश्यों को मिलाकर एक बनाने का काम है, तभी तो वेद कहता है कि एक पेट की जन्मी हुई बहन तो दूसरे की बनती है और नई न जानी-सुनी और ही स्त्री बनकर भाई की हो जाती है। इस लाटरी में कुछ समझ लगाने का जतन सभी करते हैं, करते आए हैं, करते रहेंगे। जैसे शब्दों से शब्दों का व्याख्यान होता है, प्रश्न से प्रश्न सुलझता है और पहेली से पहेली, वैसे एक लाटरी में दूसरी से परीक्षा की जाती है। पुरुष या स्त्री अपने होनहार जोड़े को अपने ही आँख, कान या मन से परखना चाहता है। आप न कर सके तो मित्रों की सहायता लेता है। जैसे अर्जी देने वाले सार्टिफ़िकेट देखकर चुने जाते हैं वैसे जोड़े के माता-पिता, कुल, लक्षण और प्रसिद्धि जांची जाती है। अपने सिर का भरोसा न हो तो माता-पिता पर लाटरी का टिकट डालना छोड़ा जाता है। नाई और पुरोहित भी

१. तेऽसुरा आत्तवचसो हेऽलवो हेऽलव इति वदन्तः पराबभूवुः
(शतपथ-ब्राह्मण : ३।२।१।२३)

तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। तस्माद्ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवैनापभाषितवै। म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। (पतञ्जलि, महाभाष्य, १।१।१)

इस जूए में मध्यस्थ बनते हैं। ज़मीन पर के सहायकों के भरोसे न रहकर तार और ग्रहों की सहायता भी ली जाती है कि इस फाटके या सट्टे का ठीक अंक वे ही बतला दें। वर्ण, वश्य, तारा, योनि, ग्रहमैत्री, भकूट, नाड़ी—क्या-क्या जाल बिछाये गए हैं कि जो मछली हम चाहते हैं, वह ही हाथ लगे ! मनुष्य और अमनुष्य, पृथ्वी और ग्रह सबकी सहायता लेने पर भी लाटरी लाटरी ही बनी रही। वश्य होने पर भी वश नहीं रहती, ग्रहमैत्री होने पर भी गृह में दोष हो जाता है, भकूट के रहते भी कुटाई होती है और नाड़ी मिलने पर भी नारी अनाड़ी के हाथ लग जाती है।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अप्रेल, सन् १९२० ई०]

जोड़ा हुआ सोना

कहते हैं कि हिंदुस्तान बहुमूल्य धातुओं की समाधि (क़ब्र) है। धातु यहाँ खिचकर चले आते हैं, फिर निकलते नहीं। और देशों में सोने के निकास को रोकने के लिए नियम बनते हैं, यहाँ निकास की कथा नहीं, आमद पर डाँट लगाना पड़ती है। जैसे वैद्यों का बुभुक्षित पारद सोना चट कर जाता है और डकार तक नहीं लेता, वैसे यह देश भी सोना सोसता जाता है। यह अभी तक पता नहीं चला कि रेवती रमण कितनी स्वर्ण हाला पी सकता है, इस स्पंज या ब्लाटिंग पेपर में कितना सोना सोखा जा सकता है। कहते हैं कि बढ़िया दस्तकारी का माल बाहर भेज-भेजकर बदले में सोने के सिक्के खैंचकर हिन्दुस्तान ने ही रोम के साम्राज्य का दिवाला निकाल दिया था। कुछ अंक-शास्त्रियों के मत में प्रति चूल्हे की परिधि में और प्रति खटिया की तल में कुछ-न-कुछ सोना अवश्य है, उसका लेखा करोड़ों पर जा लगता है, यहाँ की चाल भी सोने का प्रेम सिखाती है। जनमते बालक को जीभ पर सोने की सलाई से शहद और घी चटाना 'गृह्यसूत्र' कहते हैं और मरते दम तुलसी, सोना मुँह में डाला जाता है, यों जीवन-मरण सोने के प्रेम में बीतता है।

सोना जोड़ने का एक अद्‌भुत उपाय इस देश ने निकाला है। वह है, चलती-फिरती तिजोरियाँ, घूमती-फिरती पेटियाँ, दौड़ते-खेलते बंक ! जहाँ सोना पास हुआ गले में या सिर में टाँक दीजिए। बंक प्रसन्न हो जाएँगे। बंकिम कटाक्षों को धन्यवाद देंगे, अठलाते दिखलाते फिरेंगे, सम्भाल रखेंगे, काम पड़ने पर

जीती-जागती सोने की बेल से एक-आध नग उतारकर काम चला लीजिए फिर सुविधा होने पर चढ़ा लीजिए। इन चलते-फिरते बंकों के गलों तथा नाकों और जांघों और हाथों में कितना कनक लदा हुआ है, इसका अन्दाज करते हुए अंक-शास्त्री भी हारते हैं। पिछले वर्षों से इनकी मात्रा बढ़ी है। जहाँ पीतल थी, वहाँ चांदी चमकती है। जहाँ चाँदी थी, वहाँ सुवर्ण का वर्ण दमकता है।

इन खूंटियों से लदने वाले कभी सोना खरीदने में थकते नहीं। लोग कहते हैं कि देश गरीब है, सोने की खपत के अंकों को देखें तो यह मानने का साहस नहीं होता। सोना ३४ का था, तब भी लेने वालों ने लिया, लेना बंद न हुआ। आजकल सरासर देख रहे हैं कि सोने का असली भाव १३ का है, पर सरकार २०।२१ में बेचती है और लोग चट किये जाते हैं, फिर बाजार में २३।२४ में बिकता है पर मिलता नहीं, पखवाड़े के पखवाड़े एक लाख कई हजार तोले बिकता है, पता नहीं कहां घुस जाता है। इस बड़वाग्नि में कितना सुवर्ण सागर खप जाता है, यह कौन कहे?

सोने की खानें अमेरिका में बहुत अधिक हैं। अमेरिका को पहले-पहल सन् १४९३ से कोलम्बस ने पाया। इसका यह अर्थ नहीं है कि पहले अमेरिका था ही नहीं, देश था, किन्तु योरोपियन जातियां बाईबल के अनुसार मानती थीं कि ज़मीन चपटी है और आकाश उस पर तम्बू की तरह तना हुआ है।

अमेरिका का होना उसने दिखाया और आना-जाना चलाया। सोने की खानें आस्ट्रेलिया में हैं, एफ्रीका में हैं, कुछ भारत में भी हैं। अच्छा, तो सन् १४९३ में संसार की खानों से तीन अरब पचास करोड़ पाउंड का सोना निकल चुका है। इसमें से एक अरब पचास लाख का तो पिछले साल में निकला है। सन् १४९३ से पहले भी संसार में बहुत कुछ सोना था ही। सोना कभी नष्ट नहीं होता। वैद्य लोग पारद में मिलाकर या ख़ाक करके कुछ खिला डालें, या शौकीन लोग पान के साथ वरकों के रूप में चट जायं, नहीं तो सोने का नाश नहीं होता। गीता के आत्मा की तरह न इसे शस्त्र काटते हैं, न आग जलाती है, न पानी गीला करता है, न वायु सुखाता है तो भी पिछले सोने की बात जाने दीजिए। तीन अरब पचास लाख पौंड सोना तो कम-से-कम दुनिया में है और पचीस साल पहले इससे लगभग आधा था। इन पचीस साल में हिंदुस्तान में इक्कीस करोड़ पचास लाख पौंड मूल्य का सोना आया। इसी में नौ करोड़ चालीस लाख पाउंड के सिक्के भी हैं जो सन् १९०१ से यहां आये, एक अंकविद्या-विशारद की कूत है कि आजकल हिंदुस्तान में ३७ करोड़ १० लाख पौंड का सोना है जो संसार के सोने के लगभग दशमांश के बराबर है। लड़ाई के पहले के पाँच वर्ष में यहां पर दस करोड़ पचास लाख पाउंड खप गये थे, यह भी संसार की सुवर्ण-मुद्रा पूंजी का दसवां हिस्सा है।

यह सोना दिखाई तो वहुत देता है पर यह भी याद रहे कि यहां पर जन-संख्या साढ़े इकतीस करोड़ है, इससे इतना सोना भी प्रति मनुष्य एक पाउंड से कुछ ही ऊपर पड़ा। इंगलैंड के बंकों में इतना सोना जमा है कि प्रति मनुष्य तीन पौंड से अधिक पड़ता है और वहां की चलती-फिरती वंकों में भी आभूषणों के रूप में में बहुत कुछ सोना होगा ही। अमेरिका के बंकों और चलते-फिरते वंकों में सिक्कों और आभूषणों के रूप में एक अरब सोना रखा हुआ है जो प्रति मनुष्य दस पौंड पड़ता है। अब क्या बात ठहरी ? यदि भारतवासी सोना जोड़ने में दक्ष हैं तो इंगलैंड वाले तिगुने दक्ष और अमेरिका वाले दस गुने दक्ष हैं—कानी का काजल भी खटकता है, नहीं तो जोड़ने में ये सभ्य देश भी इस गंवार किसानों की भूमि के पीछे नहीं हैं। हां, अन्तर यह है कि उनकी निधि वंकों में एकत्रित है जहां से व्यापार आदि का काम चलता है और इकट्ठी निधि का दबाव दूसरे देशों पर पड़ता है और हमारी निधि छल्लों, कंगनों और कर्णफूलों में बिखरी पड़ी है, जो दिखाई देती है, पर काम नहीं आ सकती।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : जून, सन् १९२० ई०]

हलवाई

कोई पूछे कि संस्कृत में रसोईदार को सूपकार कहते हैं, क्या वह केवल सूप (दाल) ही बनाता है, या पुराने हिन्दू पतली दाल के खाने वाले ही थे, तो उससे पूछिए कि हलवाई क्या हलुआ ही बनाता है और आजकल जैंटलमैनों के दाँत टूट गये हैं कि वे हलुआ ही खाते हैं।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : दिसम्बर, सन् १९२० ई०]

झख मारना

महाविरा पुराना है। काम भी अच्छा है। बड़े-बड़े करते हैं। पर अर्थ क्या है ? बीरबल की कथा में तो झख=झष=मछली अर्थ किया गया है पर यह 'ष' को

'ख' बनाने की मैथिली चाल है। और काम भी निष्फल नहीं। राजपूताने के एक पुराने शिकारी ने यह अर्थ बताया कि पहले जमाने में एक पन्ना मोर होता था। पन्ना मोर इसलिए कहलाता था कि नर के गले में पन्ना निकलता था। मादीन 'झख' कहलाती थी, नर के सदृश ही होती थी पर उसके गले में पन्ना निकलता न था। जो जल्दबाज़ शिकारी इन गजमुक्ताओं के भाई पन्नों को पाने की उतावली में मादीन को मार बैठता और फिर पछताता उसने निष्फल प्रयत्न से अक्षरत: और उचार से 'झख मारी'। यों यह वाक्य चल पड़ा।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा दिसम्बर, सन् १९२० ई०]

बनारसी ठग

काशी (बनारस) ठगों के लिए कब से प्रसिद्ध है ? (१) कुमारपाल प्रतिबोध (सं० १२४१) में नल-दमयन्ती की कथा में प्रतिहारी ने स्वयंवर के समय दमयंती से 'कासिनयरीनरेस' का परिचय दिया है तो दमयन्ती कहती है—'पर वंचवसणिणोसुव्वंति'। (२) 'हेमचन्द्र के प्राकृत द्वयाश्रय काव्य कुमारपालचरित में फूलों को 'कामदेव रूपी ठग के वाराणसी प्रदेश' कहा है (मर-ठग-वाणारसि-पएसा…कुरवया, ३।५९-६०, पूर्णकलशगणि की टीका—यथा वाराणसी ठकानां स्थानं तथा एते दंपत्योरुत्कंठादिजननात स्मरस्येतिः भावः)। यहां प्राकृत या देशी ठग का संस्कृत रूप 'ठक' दिया है। मंख ने श्री कंठचरित में भी 'ठक' का इसी अर्थ में व्यवहार किया है (उद्भूष्णुना कस्य न नाम यात्रा वसंतनाम्ना रुरुधे ठकेन ६।३३, जोन राज की टीका—ठकेन हठमोषकेन)। ठग से ठक बना या ठक से ठग यह विचारणीय है। जब संस्कृत भाषा जीवित थी तब वह और भाषाओं से शब्द बड़ी स्वतन्त्रता और उदारता से ले लिया करती थी।

झूठी शब्दानुसरिणी व्युत्पत्ति ने बहुत गड़बड़ किया है। सीसोदा गाँव से सीसोदिये कहलाए किन्तु सीसो+दिया शब्द देखकर लोगों ने व्युत्पत्तियाँ गढ़ लीं कि (१) मद्यपान के प्रायश्चित्त में जलता हुआ सीसा पीने से और (२) देश-सेवा में सीस देने से यह नाम चला। महरठा शब्द 'महाराष्ट्र' (=बड़ा देश) से बना है किन्तु 'मरहटा' देखकर लोगों ने व्युत्पत्ति कर ली कि लड़ाई से मरकर ही हटते थे, इसलिए 'मरहटे' कहलाए। वाराणसी का अर्थ वर+अनस् 'अच्छे रथों वाली' होता है किन्तु उसके वरणा+असी नदियों के बीच होने से यह

नाम बनने की कल्पना की गई और 'बनारस' नाम पर 'रस बना' होने की हिन्दी कवियों की वाचोयुक्ति कहीं-कहीं निर्वचन मान ली गई है। हेमचन्द्र ने प्राकृत व्याकरण में वाराणसी, वाणारसी; अलचपुर, अचलपुर, मरहट्ठ, महरट्ठ; को केवल व्यत्यय माना है (८।२।११६-९)। यह व्यत्यय बोलने में हो जाता है जैसे पंजाबी चाकू का काचू, गंवारी चिलम का चिमल। इस पर नए निर्वचन करना पांडित्य का अजीर्ण मात्र है।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : सन् १९२१ ई०]

छट्ट

पंजाबी में भारवाहक पशुओं पर माल लादने की गोन को 'छट्ट' कहते हैं। हिन्दी में गोन, गोंन, गूंण ही प्रचलित है, छट्ट केवल पंजाबी में आता है। गणरत्नमहोदधि में गोणी शब्द के अर्थ में वर्धमान ने इस शब्द का प्रयोग किया है (एगलिंग् का संस्करण, पृ० ९१)। वहां सम्पादक ने मूल पाठ यह रक्खा है—'धान्याधारे गोणी। यस्याश्छाटीति प्रसिद्धिः। और उसे 'मराठी छाटी (संस्कृत शाटी)=कपड़े का टुकड़ा' से मिलाया है किन्तु 'छाटी' पाठ संपादक ने एक ही प्रति के पाठ पर कल्पित किया है। टिप्पणियों में जो पाठान्तर दिए हैं उससे यह शब्द 'छट्ट' ही जान पड़ता है (धान्याधारे गोणे यस्याश्छहेति, यस्याः छट्टोतिC, यस्यास्त्वट्टेतिD, यस्या छाटीति E)। गणरत्न महोदधि की रचना वि० सं० ११९७ में हुई। उस समय गुजरात में यह शब्द प्रचलित था। यह उस समय की 'हिन्दी' का शब्द है क्योंकि उन दिनों तक प्रादेशिक भाषाएं इतनी पृथक् और रूढ़ नहीं हुई थीं।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : सन् १९२२ ई०]

यंत्रक

संस्कृत यंत्र वा यंत्रक के अपभ्रंश 'जंदरा' का पंजाबी में अर्थ ताला है और तुलसीदास जी के रामचरितमानस में—

नाम पाहरू दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित, प्राण जाहिं केहि बाट॥

इस दोहे में भी जंत्रित का अर्थ 'ताले से बन्द' ही है। 'जंदर' की खाती के उस यन्त्र के लिए भी रुढ़ि हो गई है जो छत की कड़ी को ऊँचा करने में काम आता है। संस्कृत में 'यंत्रक' चरखे के अर्थ में आता है। एक पुराना श्लोक है—

रे रे यंत्रक मा रोदीः कं कं न भ्रमयन्त्यमूः।
कटाक्षाक्षपमात्रेण कराकृष्टस्य का कथा॥

रे चरखे! चूँ चूँ क्यों करता है? क्यों रोता है? स्त्रियाँ केवल कटाक्ष ही डालकर किस-किस को नहीं घुमा देतीं? (तेरी तरह) जिसे हाथ पकड़कर खैंचें उसका तो कहना ही क्या? प्रबंधचिंतामणि में यह श्लोक मुंज से उस समय कहा हुआ कहा गया है जिस समय वह तैलप की राजधानी में गली-गली घुमाया गया था और जिस अवसर पर उसने 'घर-घर तिम्म नचावइ' और 'हिंडइ डोरी बंधियउ' वाला दोहा कहा था। टानी ने यहाँ पर यंत्रक का अर्थ लेकर जेलर किया है कि हे जेलर, मत रो इत्यादि। यंत्र की रूढ़ि कहीं-कहीं अरहट के अर्थ में भी हो गई है। महाभारत आदि में 'यंत्र' एक तरह की गोफन या तोप के अर्थ में आता है जिससे शत्रुओं पर बड़े-बड़े पत्थर फेंके जाते थे। और वहीं 'यन्त्र' का अर्थ वह घिर्रियों वाली डोरियों का समावेश भी है जिससे इन्द्रध्वज पूजा के लिए ऊंचा उठाया जाकर फिर धीरे से गिराया जाता था (यंत्रोत्सृष्ट इव ध्वजः)। हिन्दी में 'जंतर' भूतप्रेतादि से बचाने वाले लिखित वर्ण या रेखा निवेश पर नियमित हो गया है और बंगला में 'जांता' आटा पीसने की चक्की ही रह गई है।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : सन् १९२२ ई०]

परिशिष्ट

बुद्धू का कांटा

सार्थक अनुभव की हिस्सेदारी*

डॉ० ओम्प्रकाश सारस्वत

हिंदी-साहित्य के आधुनिककाल का प्रथम दशक अगर हिंदी कहानी का आविर्भावकाल है तो द्वितीय दशक कहानी का ऐसा विकासकाल है, जिसने पं० श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जैसे विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न विद्वान को जन्म दिया। उन्होंने एक ओर विविध विषयों पर शताधिक लेख लिखकर अपनी विद्वत्ता तथा बहुज्ञता की धाक जमाई तो दूसरी ओर मात्र तीन कहानियां लिखकर ही 'श्रेष्ठ कहानीकार' का स्थान सुनिश्चित कर लिया।

हिंदी कहानी का विश्लेषण तथा उसकी पहचान कायम करने में लगे हुए आलोचक जब गुलेरी जी को छोड़ तुरन्त प्रसाद अथवा प्रेमचन्द-युग और प्रेमचन्दोत्तर युग या प्रेमचन्दपूर्व युग, आदि यह अविवेकपूर्ण अविचारित मोटा विभाजन करते हैं तब उनके ज्ञान की निर्मलता पर विस्मय होता है। हमारे यहां लिख-लिखकर 'बोझे' से मारने वाले 'लिखाड़ियों' को महान मान लेने की परम्परा चल निकली है। मैं यह नहीं कहता कि प्रसाद और प्रेमचन्द का साहित्य मात्रा में अधिक होने पर भी श्रेष्ठ नहीं है किन्तु इनसे पूर्व गुलेरी जी ने जिस अपूर्वशैली, नवीन विचारधारा तथा समर्थ-सार्थक कहानी के शिल्प को प्रस्तुत करके कहानी के क्षेत्र में जो कीर्तिमान स्थापित किया है। उससे उन्हें कहानी-कला के विकासक्रम में युगप्रवर्तक न मानकर केवल परवर्ती साहित्यकारों को ही आधुनिक कहानी के प्रवर्तन का श्रेय देना गुलेरी जी के साथ सरासर अन्याय करना है। गुलेरी जी की कहानियां कथ्य, शैली, बोध और आधुनिक कहानी-कला की 'टेकनीक' से युक्त हैं। परवर्ती कहानीकारों ने जिन तत्त्वों, मूल्यों, चेतना तथा शिल्प को अपनाकर कहानी-विधा में अपने कृतित्व का श्रेष्ठ योग दिया है, उसके

* लेख समय से न मिल पाने के कारण यथास्थान नहीं दिया जा सका। इसे पृष्ठ १३० के बाद पढ़ा जा सकता है।

बीज गुलेरी जी की कहानियों में विद्यमान हैं । अतः आधुनिक कहानी की पहचान कायम करने के क्रम में गुलेरी जी का नाम अग्रगण्य होना चाहिए न कि प्रसाद और प्रेमचन्द का । स्मरण रहे, प्रसाद मुख्यतः कवि हैं और प्रेमचन्द उपन्यास-कार । 'बुद्धू का कांटा' कहानी की पहचान के आयामों पर विचार करते समय निम्नलिखित मुद्दों पर ध्यान सहज ही आकर्षित हो जाता है—

घटनाक्रम

सात हिस्सों में विभाजित 'बुद्धू का कांटा' एक सशक्त रचना है । लेखन के विकासक्रम में यह गुलेरी जी की द्वितीय रचना मालूम पड़ती है क्योंकि 'सुखमय जीवन' से इसका शिल्प प्रौढ़तर और 'उसने कहा था' से कुछ अप्रौढ़ लक्षित होता है । कहानी की शुरूआत हिंदी के उच्चारण और लेखन में विरोधाभास को लेकर उपजी खीझ से होती है जिसमें हिंदी के 'कर्णधारों के अविगत शिष्टाचार' पर टिप्पणी है कि—"जब हिंदी साहित्य-सम्मेलन के सभापति अपने व्याकरणकषायित कण्ठ से कहें, 'पर्सोत्तमदास' और 'हर्किसनलाल' और उनके पिट्ठू छापें ऐसी तरह कि पढ़ा जाए—पुरुषोत्तम अ दास अ और 'हरिकृष्ण लाल अ' ।" वास्तव में इसमें विद्वान श्रीचन्द्रधर ने हिन्दी के उन तथाकथित धुरन्धरों द्वारा उच्चारण पर ध्यान न दिए जाने तथा भ्रष्ट-उच्चारण को सुनकर उत्पन्न अपनी पीड़ा का संकेत दिया है । समझदार संकेत ही दे सकता है, लट्ठ नहीं चला सकता । फलतः सुधार की हिमाकत में बड़े-बड़े बह गए—तो फिर··· । परिणामस्वरूप अपने दिल के फफोले ही फोड़े जा सकते हैं दूसरों के दिल नहीं बदले जा सकते । इसके पश्चात् कथा के मुख्य चरित्र—रघुनाथ के पिता (जो दारसूरी के पहाड़ के रहने वाले और आगरा में बुझौतिया बैंक के मैनेजर हैं) का परिचय है । रघुनाथ के पिता अपनी पत्नी के नित्यप्रति के वाग्वाणों, पड़ोसिनों के उलाहनों तथा बड़े भाई की चिट्ठी के निर्देशानुसार रघुनाथ की शादी का फैसला कर लेते हैं । प्रसंग पत्नी की इस खीझ के साथ समाप्त होता है कि पांच सालों से बराबर कहती चले जाने पर भी रघुनाथ की शादी का फैसला अन्ततः भैया (रघुनाथ के ताया) के कहने पर किया, उसके कहने पर नहीं । इस कहानी के पहले हिस्से में मां-बाप की चिन्ता, भाई का भाई से बिछुड़कर लगभग परदेशी होने जाने का दु.ख और पड़ोसिनों द्वारा दूसरों की बेमतलब चर्चा से उत्पन्न खीझ व्यक्त है जिसे दिल के फफोले फोड़ना ही कहना चाहिए ।

इलाही के साथ पनघट

कहानी के दूसरे हिस्से में पहले, इलाही की हज-यात्रा के वर्णन में जहाज के चट्टान से टकराकर तीन सौ हाजियों की मृत्यु का समाचार है । फिर इलाही का

साढ़े सात महीने के प्रवास के कष्ट-भोग के बाद गृहागमन, नवाब के अत्याचार (इलाही का घर जलना, जमीन का खुसना, इलाही की बीवी का अँगूठी चोरी के इल्ज़ाम में मार-पीट द्वारा घर से निष्कासन) चित्रित हैं। इस खण्ड में इलाही के साथ अपने घर-गांव आता रघुनाथ, इलाही की कथा सुनता-सुनता रास्ते में पड़ते एक पनघट पर पहुंचता है। जहां इलाही, अपने मोती (घोड़े) के लिए विश्राम करने का प्रस्ताव करता है। फिर 'रघुनाथ को भी टांगें सीधी करने में कोई उज्र न था।' उसे प्यास भी लग रही थी, अतः बक्स से, लोटा-डोर निकालकर वह कुएं की ओर चल देता है और इलाही, पास के पेड़ के नीचे घोड़े समेत आराम करने लगता है।

भागवन्ती से वास्ता

इस खण्ड में गुलेरी जी ने, रघुनाथ का कुएं पर पानी भरने आई गांव की स्त्रियों से साक्षात्कार तथा भागवन्ती से वास्ता पड़ते दिखाया है। प्रारम्भ में ग्रामीण नारियों के स्वभाव तथा उनके शील-मर्यादा का जिक्र है और बाद में रघुनाथ के पानी निकालने की तरकीब में बार-बार 'फेल' होने तथा ग्रामीण-महिलाओं के आगे बुद्धू बनने का चित्रण है। इस प्रसंग में भागवन्ती के वाक्प्रहारों के आगे रघुनाथ का सारा ज्ञान, सारा शहरीपन ऐसे काफूर हो जाता है जैसे—सूरदास की गोपियों के आगे उद्धव का ज्ञान। यहां भागवन्ती का जो चरित्र उभरा हैं वह सम्पूर्ण हिन्दी कथा-साहित्य में उल्लेख्य है; अद्वितीय है। रघुनाथ की दशा यहां —'लौट के बुद्धू घर को आए' जैसी है क्योंकि उसकी समस्त चतुरता एवं व्यवहार-विवेक, परास्त होकर, उसे चुपचाप, घर की राह लेने को ही मजबूर करते हैं।

प्रेम की अनुभूति

कथा के चौथे खण्ड में, तीसरे खण्ड के परिहास-मखौल वाले प्रेम को छेड़-छाड़ और अन्ततः प्रेम की अनुभूति (मानसिक और शारीरिक दोनों) में परिवर्तित होते दिखाया गया है। रघुनाथ का गांव पहुंचने के तीसरे दिन घूमने निकलना, नदी (खड्ड) पर भागवन्ती का मिलना, उसका दाढ़ी बनाने की नकल उतारना, कंकरियों के रूप में एक-दूसरे के ऊपर प्रेमास्त्रों का प्रयोग, छेड़छाड़ में रघुनाथ का नदी में फिसलना और भागवन्ती द्वारा निकाला जाना आदि प्रेम के विकास की घटनाओं का पूर्वार्द्ध है। उतरार्द्ध में लड़की का भागना, रघुनाथ का उसे पकड़ने दौड़ना, लड़की का कांटा चुभने से चीखकर लड़खड़ाना, रघुनाथ का उसे दोनों बांहों में भरना, लड़की के तेज चुटकी काटने से लड़के का उसके नाक पर मुक्का मारना और बाद में नाक और पांव से निकला खून देखकर पश्चात्ताप

करना, फिर "वाह, पिराग जी में खूब इलम पढ़ा। स्त्रियों पर हाथ उठते होंगे ?···" रघुनाथ का एक वार फिर परास्त होकर, परन्तु प्रेम की अनुभूति पाकर घर लौटना दिखाया है। लड़की भी पांव में गड़े कांटे को लेकर खेतों को फांदती हुई घर की राह लेती है।

रघुनाथ का मनोमन्थन

इस प्रसंग में रघुनाथ के हृदय में स्त्री जाति की अज्ञानता का भाव और उससे पृथक् रहने का कुहरा तो था ही, अब उसके स्थान पर उद्वेगपूर्ण ग्लानि का धूम भी इकट्ठा हो गया। रघुनाथ का हृदय धुएं से घुट रहा था। एक ओर वह विवाह की चिन्ता से अभिभूत था तो दूसरी ओर भागवन्ती के प्रति अज्ञानता में हुए अत्याचार से उन्मथित। इसी खण्ड में, झण्डीपुर में रघुनाथ की सगाई तय हो जाती है जहां 'वीस दिन के पीछे' उसकी बारात चढ़ेगी।

कांटे की ख़लिश

इस प्रसंग में रघुनाथ की शादी, रघुनाथ का दोपहर के समय रास्ते में विश्राम करने रुकी बारात के साथ रुकने पर अपने पुराने अपमान और तिरस्कार का बदला लेने की 'गरज' से डोली में वैठी, घर की डार से विछुड़ी दुःखितमना भागवन्ती से असामयिक और अविचारित छेड़छाड़ और लड़की का दुःख और अनुत्साह से न छेड़ने का आग्रह कथित है। यद्यपि इस प्रसंग में रघुनाथ का सिर उठाता दर्प या अहं और भागवन्ती का अनुत्साह चित्रित है, तथापि प्रेम के कांटे की ख़लिश भी उन दोनों के हृदयों में विद्यमान है जो एक (रघुनाथ) को अति उत्साही और दूसरी (भागवन्ती) को स्वजन-वियोग के कारण अनुत्साही बना रही है।

मान-निराकरण

अन्तिम खण्ड में प्रेम के कांटे की ख़लिश इतनी तीव्र हो जाती है कि रघुनाथ अब 'हॉस्टल' में चैन से रह नहीं पाता। वह दशहरे की छुट्टियों में घर आया परन्तु भागवन्ती उससे ठीक से बोली नहीं। वह उसकी आहटों पर ध्यान देती, छिप-छिपकर उसे देखती परन्तु ज्योंही वह आगे बढ़ता, वह लोप हो जाती। वह हॉस्टल लौट गया। होली की छुट्टियों में उसने पहले तो घर आना नहीं चाहा परन्तु लोकलाज के कारण वह आ गया। अब वह थोड़ा—वलपूर्वक उसे मनाने—उससे बतियाने में दृढ़ हो गया। फिर कुछ तर्क-वितर्क के पश्चात् 'कांटे से कांटे की ख़लिश' दूर करने के संवादावसर से वार्ता का क्रम बढ़ा रघुनाथ ने अपनी गलती, अक्कखड़पन, बुद्धूपन के प्रति पश्चात्ताप प्रकट किया और उस मानवती को अपने व्यवहार-प्यार-मनुहार से प्रेमवती नारी बना लिया।

रचना-विधान

सामाजिक प्रेमकहानी 'बुद्धू का कांटा' नयी-नयी वय के पहले-पहले प्रेम का चित्रण है। रघुनाथ शहर में रहकर भी प्रेम के मामले में बुद्धू है जबकि लड़की गांव में रहकर भी प्रेम की 'शिक्षिका' है।

इस कहानी का प्रारम्भ निवन्ध की तरह भूमिका बाँधकर आगे बढ़ने की शैली में हुआ है। कहानी के प्रारम्भिक अंश का कहानी के मूल कथ्य से भी कोई सीधा सरोकार नहीं है सिवाय इसके कि गुलेरी जी हिन्दी के तथाकथित पंडितों की भाषा-उच्चारण में अनवधानता को तर्जित करना चाहते हैं। पहले खण्ड में गुलेरी जी ने मुख्य रूप से पिता की दूरदर्शिता और माता की भावुकता का चित्रण करना चाहा है कि पिता लड़के की छोटी आयु में विवाह का विरोधी है—वह जहां तक हो, टालने के पक्ष में है, जवकि मां-बेटे की रुचि इसमें है कि कब शादी हो जाए ! इसी प्रसंग में पड़ोसिन के द्वारा, यह कहलवाना कि—'पति ने चारों बेटों के विवाह में मकान और जमीन गिरवी रख दिए थे, और कम-से-कम अपने जीवन-भर के लिए कंगाली का कम्बल आढ़ लिया था।'—कर्ज लेकर विवाह करने का विरोध भी व्यक्त किया है। इस प्रसंग में नारी-मनोविज्ञान का प्रकाशन हुआ है। इस खण्ड में, कहानी के बदले निबन्ध की शैली प्रधान हो गई है।

दूसरे खण्ड का इलाही वाला प्रसंग समीक्षकों को निरर्थक जान पड़ता है जवकि मेरे विचार से इसमें कुछ विस्तार है। इसके होने से कहानी कहीं बैठी नहीं है, आगे ही बढ़ी है। गुलेरी जी इलाही के माध्यम से एक तो, एक विपन्न व्यक्ति की दयनीय दशा के चित्रण के साथ-साथ अप्रत्यक्ष रूप में हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द का चित्र भी दर्शाना चाहते थे। उन्हें इसमें सफलता भी मिली है। इस प्रसंग की योजना इसलिए भी सार्थक है कि रघुनाथ जिसे 'घराठनी' से ३० मील पैदल चलकर घर पहुंचना है, जिसके पास सामान भी होगा—क्या अकेला ही उस वीरान पहाड़ी रास्ते पर चलता हुआ घर पहुंचेगा ? जो लोग पहाड़ों के परिवेश से परिचित हैं वे इस प्रसंग को कदापि निरर्थक नहीं कह सकते। यहां इसका होना अनिवार्य है, महत्त्वपूर्ण भले न हो।

तीसरा खण्ड इस कहानी का प्राण है। कहानी का शीर्षक इसी खण्ड में घटी घटना पर आधारित है। रघुनाथ, 'बुद्धू' यहीं पर बनता है यद्यपि उसे प्रेम का 'कांटा' चौथे प्रकरण में चुभता है। इस खण्ड में ग्रामीण नारियों की स्वाभाविक बातचीत, प्रखर व्यंग्यदृष्टि तथा प्रत्युत्पन्नमतित्व का स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत है। यहां कहानी संवाद हो जाती है। कथा प्रश्नोत्तर में बदलती जाती है और शैली नाटकीयता में। यह अतिशयोक्ति नहीं है कि इस खण्ड

जैसा सहज कथा-प्रसंग, भागवन्ती जैसा चंचल चरित्र तथा इसकी व्यंग्य-परिहास जैसी मार्मिक शैली सम्पूर्ण हिन्दी कथा-साहित्य में नहीं है। गुलेरी जी ने यहां अपनी वाक्चातुरी तथा प्रस्तुतीकरण की सम्पूर्ण क्षमता का अद्‌भुत परिचय दिया है। इस प्रसंग के चित्रण द्वारा पंडित गुलेरी जी ने संस्कृत के एक श्लोक[1] के एक अंश से बताया है कि नारियों में बुद्धि पुरुषों से आठगुणा अधिक होती है (अगर प्रयोग करें तो!) इसका उन्होंने प्रत्यक्ष उदाहरण ही मानो प्रस्तुत कर दिया है।

कंवारे-कंवारियों का हास-परिहास अन्ततः विवाह के बिन्दु पर ही आकर केन्द्रित होता है। अतः ग्रामीण नारी का 'लहँगा पसारने' वाला वाक्य लाक्षणिक होता हुआ भी किसीको (?) अगर अभिधात्मक लगे तो यह उसके मस्तिष्क के 'लैन्स' का ही परिणाम है, नारी की वचनवक्रता का नहीं।

कहानी का चौथा खण्ड तीसरे खण्ड की विकासयात्रा-सा है। इसमें रघुनाथ के मन में छिपे प्रेमीरूप तथा भागवन्ती के मन में छिपे प्रेमिकारूप का उद्‌घाटन है जो कथा-विकास और प्रेम के परमप्राप्य का साक्षी है। रघुनाथ और भागवन्ती यहीं पर 'विपरीत सैक्स' की स्पर्शानुभूति से परिचित होते हैं। घटनाक्रम की जैसी गति यहां विकसित की गई है वह पूर्वनिर्धारित-सी लगती हुई स्वाभाविकता लिए हुए है। यहां घटना-विकास में कथाकार चतुर-चितेरा लगता है। यह प्रसंग कथा का चरमोत्कर्ष है।

पांचवा खण्ड कथा को अधिक गति नहीं देता। इसमें अल्पायु में कन्या के विवाह का शास्त्रजड़ लोगों द्वारा समर्थन का जिक्र है परन्तु हिन्दू-समाज में, व्याप्त इस कुरीति के प्रति गुलेरी जी का उक्त कथन निश्चय ही पाठकों का ध्यान खींचने वाला है। इस प्रसंग में रघुनाथ के मनोमन्थन को सुन्दर अभिव्यक्ति मिली है।

छठा खण्ड कथा के विकास को निगति देने वाला है—यहां रघुनाथ के यद्यपि उद्‌धत अक्खड़, बदलाकामी रूप का चित्रण है तथापि कथानक समापन की ओर बढ़ने लग पड़ा है—ऐसा आभास हो जाता है।

सातवें खण्ड में गुलेरी जी ने भागवन्ती के व्यक्तित्व को प्रकारान्तर से फिर ऊँचा चित्रित कर दिया है। इसमें घटनाओं का क्रम यद्यपि सूच्य अधिक है तथापि प्रसंगान्त में रघुनाथ और भागवन्ती के वार्तालाप द्वारा कहानी को ताज़गी प्रदान की गई है। यहां आकर कहानी में फिर नाटकीयता उभरी है जो कथा की सपाटबयानी को नाटकीयता में बदल देती है। कथा का अन्तिम वाक्य

१. आहारो द्विगुणस्तासां, बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा।
षड्गुणो व्यवसायश्च कामस्त्वष्टगुणः स्मृताः॥

—उसका मुंह बंद करने का एक ही उपाय था। रघुनाथ ने वही किया।— गुलेरी जी कथनशैली और वचनवक्रता का उत्तम उदाहरण है जो 'मौन मधि पुकार' का द्योतक है। कथा का अन्त बहुत ही स्वाभाविक है।

सामाजिक चेतना

गुलेरी जी की तीनों कहानियां सामाजिक हैं। इनमें सामाजिक चेतना की अन्त:सलिला प्रवाहित है। यह बात लक्ष्य करने की है कि उस समय जबकि साहित्य में या तो रीतिकाल की नखशिखवर्णन पद्धति या परम्परानुगामिता थी अथवा समाजसुधार की प्रचारात्मक पद्धति, तब समय से आगे निकलकर, एकदम परम्परामुक्त रचना करके, कहानी विधा की यह नयी लीक डालना आश्चर्यकर है। गुलेरी जी ने कहानियों में ही नहीं, अपने निबन्धों में भी उस 'नवचिन्तन' का प्रयास किया है। सामाजिक प्रबुद्धता का जैसा रचनात्मक रूप उनकी कहानियों में अनुस्यूत है वैसा उस काल के साहित्यकारों में कम ही प्राप्य है। तत्कालीन समाज बाल-विवाह, अनमेल विवाह, विवाह में फिजूलखर्ची, दहेज-प्रथा, सामन्ती प्रथा तथा छूआछूत आदि अनेक बुराइयों से ग्रस्त था। गुलेरी जी ने उनका प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप में आदर्शोन्मुखी यथार्थ चित्रण किया है।

समाज कभी-कभी और कहीं-कहीं तो बड़ा दुष्ट है। यह अगर कोई गिर जाए तो उसे उठने नहीं देता और कोई उठ जाए तो उसे कंधों से नहीं उतारता। गुलेरी-काल में भी ऐसा सामाजिक वैषम्य था। सामाजिक वैषम्य वस्तुत: हर समाज की बुराई है। गुलेरी का काल ऐसा ही काल था जहां, अमीर-गरीब में अन्तर, गरीब-गरीब में अन्तर, स्तरीकरण तथा पैसे की होड़ विद्यमान थी। गुलेरी जी ने इन बुराइयों का चित्रण इलाही के प्रसंग द्वारा घोषित कराया है। इलाही का सारा प्रसंग गुलेरी जी की सामाजिक चेतना की वाणी है। इसमें गुलेरी जी की जनचेतना मुखरित है। सामाजिक सरोकार की दृष्टि से यह कहानी श्रेष्ठ भी है। इलाही का (दूसरा खण्ड) सामाजिक चेतना का उत्तम प्रसंग कचहरियों में होने वाले अन्याय पर—'कचहरियां गरीबों के लिए नहीं हैं' यह टिप्पणी आज भी कचहरियों में हो रहे न्याय (?) पर प्रकाश डालने को पर्याप्त है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—"पर्दे की अस्वस्थप्रथा, उस समय बढ़ती हुई सभ्यता की दाम्भिक चेतना, विवाह से सम्बद्ध दहेज, मुहूर्त आदि प्रथाओं पर वे बीच-बीच में छींटे छोड़ते हुए चले हैं।"

आंचलिक परिवेश

व्यक्ति जिस अंचल का हो, जिस स्थान, प्रदेश अथवा देश के उसके माता-पिता हों; स्वजन हों वहां से उसे स्वत: ही प्रेम हो जाता है। गुलेरी जी भले ही

अपने-आप गुलेर (कांगड़ा) में पैदा न हुए हों परन्तु वहां के उनके मां-वाप थे; उनके पूर्वज थे। फिर वह अवसर मिलने पर अपनी पैतृक जन्मभूमि में आते भी रहते थे। अतः उस स्थान के प्रति प्रेम का होना, स्वाभाविक है। फिर दूसरा स्थान भले ही कितना ही कनकोपम हो, जननी और जन्मभूमि के प्रेम के आगे वह नगण्य है। रामचन्द्र ने इसीलिए शायद लक्ष्मण से कहा था कि—'अपि स्वर्णमयी लंका न मे रोचते लक्ष्मण ! जननी जन्म-भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'

गुलेरी जी के साहित्य में कांगड़ा के रीति-रिवाजों, सामाजिक-धार्मिक प्रथाओं, नदी-नालों, बेल-बूटों तथा वहां की बोली-भाषा के प्रति अनन्य मोह तथा अन्यतम प्यार के प्रमाण मिलते हैं। 'बुद्धू का कांटा' में 'घराठनी' से घर को आते समय का सारा परिवेश, वहां का वक्र-संकुचित रास्ता, अढाई सौ फुट गहरी खड्ड, टट्टू, टट्टूवाला, पनघट, घूंघट, स्त्रियों से 'बिनमरजादा' बात न करना, बुद्धू बन जाना पर निर्लज्ज न होना, यह सब लोक-चेतना में विद्यमान है। रघुनाथ और भागवन्ती को डुबाने-मिलाने वाली नदी (?) गुलेर की 'बंडेर खड्ड' ही तो है जिसे 'उसने कहा था' में 'बुलेल की खड्ड' कहा गया है। कथा के चौथे प्रसंग में गांव के परिवेश का बड़ा ही मोहक वर्णन है। और यहां पर वर्णित चूने का पहाड़—'धौलाधार' ही तो है।

भाषिक संरचना

गुलेरी जी भाषाविद् थे। वह भाषा की बारीकियों, त्रुटियों तथा उसके सहजरूप के प्रति सतर्क थे। होते भी क्यों न। भाषा के, बल्कि भाषाओं के जिन अनेक रूपों का अध्ययन, प्रयोग उन्होंने किया था वैसा उस काल के लेखकों में शायद ही किसी ने किया हो। व्यापक अध्ययन भी लेखन में गुणात्मक अन्तर लाता है। अतः गुलेरी जी की भाषा, भाषिक संरचना की दृष्टि से तो श्रेष्ठ है। वह अपने काल की भाषा से भी आगे के युग की भाषा थी जो आज भी प्रासंगिक है; आधुनिक है। डॉ० नगेन्द्र का यह कथन बड़ा सटीक है—"सबसे अधिक आश्चर्यजनक है गुलेरी जी की भाषा। ऐसी प्रौढ़ भाषा उस समय तो कोई लिख ही क्या सकता था, गद्य के समुन्नत युग में भी कोई लिख सका है, इसमें मुझे संदेह है। प्रेमचन्द की भाषा में इतनी प्रौढ़ि और शक्ति कहां है; और शुक्ल जी की भाषा में जीवन की इतनी स्फूर्ति और यथार्थता कहां है?"

वास्तव में भाषा ही किसी कृति को उत्तम, मध्यम अथवा अधम बनाती है। असमर्थ-अशक्त भाषा रचना को दुर्बल बनाती है। गुलेरी जी की भाषा में अन्यान्य बोलियों-भाषाओं के शब्दों का सुन्दर प्रयोग है। संस्कृत के, व्याकरण-कषायित कण्ठ, कौतुकनयनोत्सव आदि तत्सम शब्द; जेठ, ब्याह भौचक्का (भ्रमित-चक्र) आदि तद्भव शब्द; लादा, पाधा, मंजड़ी, टका, गुलसुंड आदि कांगड़ी

बोली के शब्द; उज्र, अल्लाह, तौबा आदि अरबी-फारसी शब्द तथा, लैजरबुक, बोर्डिंग, पासपोर्ट आदि अंगरेजी शब्द 'बुद्धू का कांटा' के समर्थ शब्द-प्रयोग हैं। गुलेरी जी ने भाषा को मुहावरों से भी अर्थवती बनाया है। कौतुक नयनोत्सव, आंखों का पानी होकर बहना, लोटमलोट होना, लहँगा पसारना, कैंची बन्द न होना, दूध पिलाना, पानी पिलाना तथा लल्लो-चप्पो करना आदि कितने ही मुहावरे हैं जो कथ्य को लाक्षणिक तथा अर्थ को आशयगर्भित बनाते हैं। गुलेरी जी में एक दूसरी भाषा के शब्दों को परस्पर जोड़कर नूतन शब्द-निर्माण की भी आश्चर्यंकर क्षमता थी। 'उसूलधन' 'बाबूजी', आदि ऐसे ही मिश्रित शब्द हैं। गुलेरी जी ने 'उसने कहा था' की तरह पंजाबी का पुट भी दिया ही है। इलाही वाले सारे वार्तालाप में उर्दू-शब्दावली का बाहुल्य होते हुए भी उसकी सारी टोन पंजाबी लहजा लिए है। अनेक क्रियाओं वाले वाक्यों का निर्माण भी उनकी भाषावाक्य संरचना का उत्तम कौशल है—"गांव की लड़कियां हड्डियों और गहनों का बंडल नहीं होतीं। वहां वे दौड़ती हैं, कूदती हैं, हँसती हैं, गाती हैं, खाती हैं और पचाती हैं। नगरों में आकर वे खूंटे से बंधकर कुम्हलाती हैं, पीली पड़ जाती हैं, भूखी रहती हैं, सोती हैं, रोती हैं और मर जाती हैं।"

गुलेरी जी की भाषा की मुख्य विशेषता उसकी नाटकीयता है। वाक्यों में नाट्यतत्त्व, पदे-पदे विराजित है। अगर इस कहानी का ठीक-सा नाट्यरूपान्तर हो तो इसमें सफल 'नाटक' होने की अपार क्षमता है।

हास्य-व्यंग्य

'बुद्धू का कांटा' में मधुर हास्य-व्यंग्य का पैनापन विद्यमान है। यद्यपि हास्य-व्यंग्य की सृष्टि तो गुलेरी जी के सम्पूर्ण साहित्य में है तथापि विवेच्य कहानी में उसकी सत्ता अनुपम है। पनघट-प्रसंग में रघुनाथ भागवन्ती की मामी से गांव का रास्ता पूछ रहा है—

रघु०—"रास्ता सीधा ही है न ?"

लड़की—"नहीं तो, बायें हाथ को मुड़कर चीड़ के पेड़ के नीचे दाहिने हाथ को मुड़ने के पीछे सातवें पत्थर पर फिर बायें मुड़ जाना, आगे सीधे जाकर कहीं न मुड़ना; उसके आगे एक गीदड़ की गुफा है, उससे उत्तर को बाड़ उलाँघ कर चले जाना।"

स्त्री—"छोकरी, तू बहुत सिर चढ़ गई है, चिकर-चिकर करती ही जाती है। नहीं जी, एक ही रास्ता है; सामने नदी आवेगी; परले-पार बायें हाथ को गांव है।"

लड़की—"नदी में भी यों ही फांसा लगाकर पानी निकालना।"

स्त्री—"क्या उस गांव में डाकबाबू होकर आए हो ?"

रघु०—"नहीं, मैं तो प्रयाग में पढ़ता हूं।"
लड़की—"ओ हो, पिरागजी में पढ़ते हैं ! कुएं से पानी निकालना पढ़ते होंगे ?"

इस प्रकार अनेक स्थलों पर हास्य की सृष्टि व्यंग्य की विनोदप्रियता में उभरी है। वस्तुतः गुलेरी जी हास्य-व्यंग्य को अलग से नहीं रचते हैं अपितु उसकी रचना इनकी शैली का अंग बनकर उभरती है। व्यंग्य में विनोदप्रियता और हास्य में व्यंग्य का पुट सबके वश की बात नहीं होती। गुलेरी जी के पात्र स्वयं भी हँसते हैं और औरों को हँसाने की शक्ति भी रखते हैं। 'उसने कहा था' में इक्के-तांगे वालों की भाषा अपने स्वाभाविक प्रयोग में भी विनोदपूर्ण है। भाषा में, तांगेवालों का व्यक्तित्व जीवन्त हो उठता है।

चरित्र-सृष्टि

गुलेरी जी के पात्र 'टाइप' नहीं, अपितु व्यक्तिगत दायरों में रहते हुए भी वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं। 'बुद्धू का कांटा' का रघुनाथ, इलाही और भागवन्ती व्यक्ति होते हुए भी क्रमशः गांव के युवकों, मजदूर वर्ग तथा गांव की चंचल युवतियों के प्रतिनिधि हैं। व्यक्तिगत तौर पर रघुनाथ मां-बाप की आज्ञा में रहने वाला, सदाचारी, शिष्ट, भोला तथा बदलाकामी होता हुआ भी अन्ततः दयालुता, सहानुभूति तथा विनम्रता आदि गुणों का धनी है। गरीबों के प्रति उसके चरित्र का उज्ज्वल पक्ष है। उसका चरित्र मानवीय धरातल पर अधिक प्रतिष्ठित है। वह बुद्धू तो बन सकता है परन्तु निर्लज्ज नहीं हो सकता। जो लोग रघुनाथ को हीनग्रन्थि से ग्रस्त बताते हैं वास्तव में वे उसकी कठोर चारित्रिक शिक्षा को भूल जाते हैं। संस्कारों और विद्या से संयमी होना हीन ग्रन्थियुक्त होना नहीं होता। हमारे यहां लज्जा और संयम भी गुण हैं। भागवन्ती के प्रति प्रेम उसके जीवन की महती घटना है। वह नारी को सम्मान तथा आदर की पात्र समझता है। गलती पर पश्चात्ताप उसके व्यक्तित्व का उदात्त गुण है। इलाही खुदा को मानने वाला, धार्मिक तथा मजदूरवृत्ति का पात्र है। वह परिश्रमी तथा उदाराशय लोगों का वश्य है। भागवन्ती गुलेरी जी की अद्भुत नारी-सृष्टि है। वह चुलबुली, चंचल, मुँहफट के अतिरिक्त उत्साहशील, विनोदकुशला, व्यंग्यदक्षा, प्रेमपरायणा, प्रत्युत्पन्नमति तथा निश्छल ग्रामबाला है। वह उदार लोकव्यवहार में निपुण तथा स्वाभिमानिनी भी है। रघुनाथ के क्षमा मांगने पर वह उसकी अशिष्टता को भी क्षमा करती है। गुलेरी जी के पात्रों में मानवीय गुणावगुण तो होते हैं परन्तु स्वभाव की परिवर्तनशीलता नहीं होती।

इन सबके अतिरिक्त भी गुलेरी जी ने पौराणिक प्रसंगों तथा ज्योतिष ज्ञान को भी कथा के निर्णायक सूत्रों में पिरोया है। जैसे—राजा हरिश्चन्द्र के यज्ञ में बलि के खूंटे से बधे हुए शुनःशेप[1] की तरह बाबू अलमारियों की ओर देखने लगे।[2] गुलेरी जी ने इसमें ज्योतिष-ज्ञान का भी उपयोग किया है कि 'बड़े-से-बड़ा महाराजा भी थैलियों के मुँह खुलवाकर भी शास्त्रजड़ लोगों से यह नहीं कहला सकता कि—अष्टवर्षा भवेद् गौरी[3] पर हरताल लगा दे। उल्टा अष्ट का अर्थ गर्भाष्टम करके, सात वर्ष तीन महीने की आयु निकाल बैठेंगे। परन्तु कभी शुक्र का छिपना और कभी वृहस्पति का भगना, कभी घर का न मिलना और कभी पल्ले पैसा न होना, कभी-कभी नाड़ी-विरोध और कभी कुछ। समझदार आदमी चाहे तो कन्या को चौदह-पन्द्रह वर्ष की करके काशीनाथ से लेकर आजकल के महामहोपाध्यायों तक को अँगूठा दिखा सकता है।" इसी प्रकार बिहारी के एक दोहे[4] द्वारा पितृमारक योग[5] और जारज योगों[6] की चर्चा भी की गई है जो गुलेरी जी के ज्योतिष-प्रेम की नहीं अपितु ज्योतिष-ज्ञान का ।रिचायक है।

उद्देश्य

कोई भी मननशील, चिन्तक साहित्यकार निरुद्देश्य नहीं लिखता। गुलेरी जी की सामाजिक समस्या मूलक कहानियां प्रेम से सम्पुटित तथा सामाजिक चेतना सम्पन्न हैं। उनमें एक जागरूक रचनाकार का मर्म बोल रहा है। 'बुद्धू का कांटा' प्रेम और कर्म के मन्त्र को सहज रीति से व्याख्यायित करने वाली सामाजिक सरोकार की कहानी है। 'बुद्धू का कांटा' घटनाप्रधान होती हुई भी सूक्ष्म संवेदना से युक्त व्यंजनापूर्ण कहानी है।

१. शुनःशेप की कथा ऐतरेय ब्राह्मण में आती है। इसमें राजा हरिश्चन्द्र ने अपने पुत्र रोहिताश्व के स्थान पर ऋषि अजीगर्त के पुत्र शुनःशेप को यज्ञ के यूप से बांधकर वरुण की प्रसन्नता के लिए उसका बलिदान करना चाहा था। तब आत्मरक्षा के लिए शुनःशेप ने वरुण की प्रार्थना की।

२. देखें : प्रस्तुत ग्रंथ : पृ० २०२

३. अष्टवर्षा भवेद् गौरी, नववर्षा तु रोहिणी।
दशवर्षा भवेद् कन्या, अत ऊर्ध्वं रजस्वला।—शीघ्रबोध

४. सुतपितु मारक जोग लखि, उपज्यो हिय अति सोग।
पुनि विहँस्यो गुन जोयसी, सुत लखि जारज जोग।।

५. जैमिनी के अनुसार पितृकारक गृह, सूर्यरहित पाप ग्रह से देखा जाए तो पिता की बालक की बारह बरस की अवस्था से पूर्व ही मृत्यु हो जाती है।—जैमिनी सूत्रम्, अध्याय-२

६. 'स्वांशेकेवलपापसम्बन्धे परजातः।' अर्थात् यदि आत्मकारक के नवांश में केवल पापग्रह का सम्बन्ध हो तो जारपुरुष से पुत्र उत्पन्न होता है।—जैमिनीसूत्रम्, अध्याय : १/४

सम्मतियाँ

अज्ञेय

गुलेरी जी ने कुल तीन ही कहानियां लिखीं; पर उन तीनों में से भी एक ऐसी सर्वांग सुन्दर रचना हुई कि कोई भी कहानी-संग्रह उसे लिए बिना प्रतिनिधित्व का दावा नहीं कर सकता।

अमरनाथ झा

गुलेरी जी की कहानियां इस योग्य हैं कि इनकी तुलना और भाषाओं की कहानियों से की जाय। बोलचाल की भाषा जैसी होनी चाहिए, वैसी ही है, कृत्रिमता कहीं नहीं है। मानवचरित्र का प्रत्येक कहानी में विलक्षण वर्णन है।

कृष्णानंद

गुलेरी जी की कृतियां संस्कृत, हिंदी और अंगरेजी इन तीनों में हैं, परन्तु इनकी अधिकांश कृतियां हिंदी में ही हैं। नागरी-हिंदी के प्रति इन्हें सहज ममता थी और इसकी उन्नति के लिए इन्होंने जो किया है वह बहुत ही उत्कृष्ट और विशिष्ट है।

गुलेरी जी अनोखे प्रतिभामय पुरुष थे।···गुलेरी जी की हिंदी-सेवा की उत्कृष्टता और विशिष्टता इनकी कृतियों की पुष्टता तथा विविधता के साथ विषयों की तत्त्वज्ञता और शैली की विशेषता में है। पौरस्त्य-पाश्चात्य, प्राचीन-अर्वाचीन साहित्य तथा विज्ञान, रचना एवं आलोचना के ये समान अधिकारी थे और इन सब में सजीव मुहावरेदारी तथा संकेतमयता एवं वक्रता तथा व्यंजना की इनकी मार्मिक शैली सिद्ध थी। एक-दो कृतियों से ही अमर आदर्श स्थापित कर देने वाले ये अमर और आदर्श कृती हो गए हैं। 'उसने कहा था' की अमरता तो सर्वप्रसिद्ध है। इनकी और कृतियों, विशेषत: निबंधों की अमरता वैसी ही प्रसिद्ध होगी।

नंददुलारे वाजपेयी

गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कहानी बहुत ही अधिक स्थान और समय घेरती है और कहानी के नवीन प्रतिमानों को देखते हुए विराट या महाकाव्यात्मक कहानी (एपिक स्टोरी) कही जा सकती है। लम्बी कहानियां प्रसाद जी ने भी लिखी हैं और प्रेमचंद जी ने भी। इन दोनों की कहानियों में 'उसने कहा था' की-सी बोझिल विशालता नहीं है।

पुरुषोत्तमदास टण्डन

चंद्रधर जी संस्कृत और हिन्दी के प्रचंड विद्वान थे। इसका पता उनके गवेषणापूर्ण लेखों से चलता है। उनके हृदय में हिन्दी भाषा के प्रति अनुराग था। उनकी उत्कट इच्छा रहती थी कि हिन्दी का आधुनिक साहित्य सर्वांग सुन्दर होकर संसार के उच्च कोटि के साहित्य से समानता करे।

बाबूराम सक्सेना

'उसने कहा था' कहानी हिंदी-साहित्य की अमूल्य थाती है। उसे पढ़कर जो रस मिलता है, वह सचमुच अद्वितीय है। कितनी ही अन्य कहानियां उसकी छाया मन.पटल से नहीं मिटा सकतीं। कहानीकार की प्रतिभा की झलक 'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का कांटा' में भी मौजूद है। सचित्र और ब्योरेवार वातावरण और भारतीय परिस्थितियों के साथ अप्रत्यक्ष सहृदयता प्रत्येक पृष्ठ पर अंकित है।

राजेन्द्र यादव

हिन्दी की पहली मौलिक और कलापूर्ण कहानी 'उसने कहा था' है। गुलेरी जी ने कथाशिल्प की दृष्टि से कथानकों को जिस सांकेतिक ढंग से संयोगों और घटनाओं के माध्यम से बुना है, वह कहानी को प्रौढ़ स्तर पर ही प्राप्त होता है। सजीव वातावरण तथा स्मृति-चित्रों से इसकी पूर्ण दीप्ति, सभी बातें कहानी-कला में गुलेरी जी की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां हैं। कहानियों में मानवीय और यथार्थ पात्रों की अवतारणा के कारण स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य गुलेरी जी का ऋणी है।

रामचन्द्र शुक्ल

संस्कृत के प्रकांड प्रतिभाशाली विद्वान, हिन्दी के अनन्य आराधक श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी जी की अद्वितीय कहानी 'उसने कहा था' में पक्के यथार्थवाद के बीच, सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर, भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यंत निपुणता के साथ संपुटित है। घटना इसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है; पर उसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झांक रहा है— केवल झांक रहा है, निर्लज्जता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा है। कहानी-भर में कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की बीभत्स विवृति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुंचता। इसकी घटनाएं ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।···गुलेरी जी एक बहुत ही अनूठी लेख-शैली लेकर साहित्य-क्षेत्र में उतरे थे। ऐसा गम्भीर और पाण्डित्यपूर्ण हास, जैसा इनके

लेखों में रहता था, और कहीं देखने में न आया। अनेक गूढ़ शास्त्रीय विषयों तथा कथा-प्रसंगों की ओर विनोदपूर्ण संकेत करती हुई इनकी वाणी चलती थी। इसी प्रसंगगर्भत्व (एल्यूसिवनेस) के कारण इनकी चुटकियों का आनंद अनेक विषयों की जानकारी रखने वाले पाठकों को ही विशेष मिलता था। इनके व्याकरण ऐसे रूखे विषय के लेख भी मजाक से खाली नहीं होते थे। यह बेधड़क कहा जा सकता है कि शैली की जो विशिष्टता और अर्थगर्भित वक्रता गुलेरी जी में मिलती है, वह और किसी लेखक में नहीं। इनके स्मित हास की सामग्री ज्ञान के विविध क्षेत्रों से ली गई है। अतः इनके लेखों का पूरा आनंद उन्हीं को मिल सकता है जो बहुज्ञ या कम-से-कम बहुश्रुत हैं।

शिवदानसिंह चौहान

'उसने कहा था' हिन्दी-साहित्य में एक बेजोड़ रचना है। उनके निबन्ध भी अनूठे हैं। उनमें केवल लेखक की प्रगतिशील चेतना की ही छाप नहीं है, बल्कि शैली भी अत्यधिक सुष्ठु और परिमार्जित है। उनका व्यंग्य भी अधिक परिष्कृत और शक्तिशाली है। 'मारेसि मोहिं कुठाऊं', 'कछुआ धरम' और 'संगीत' आदि निबंधों में समाज की रूढ़िवादिता आदि पर तीखे या शिष्ट व्यंग्यों से प्रहार किया गया है। इनकी शैली का चमत्कार अनुभव करने की वस्तु है।

श्यामसुन्दर दास

गुलेरी जी भाषा-विज्ञान के बड़े अच्छे विद्वान थे ''पण्डित जी ने वैदिक साहित्य, भाषातत्त्व, दर्शन और पुरातत्त्व का अनुशीलन किया है और अंगरेजी और संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, पाली, बंगला, मराठी आदि भाषाओं से भी ये परिचित हैं।···जो कार्य ये करते हैं वह प्रायः चुपचाप ही करते हैं, क्योंकि नाम की इन्हें उतनी इच्छा नहीं रहती। औरों का शिक्षक बनने की अपेक्षा ये स्वयं विद्यार्थी बनना अधिक पसंद करते हैं, इसीलिए इनके समय का अधिकांश पुस्तकावलोकन में बीतता है। कदाचित् यही कारण है कि अब तक हिंदी पाठकों को इनके द्वारा यथेष्ट लाभ नहीं पहुंच सका है।

श्रीकृष्णलाल

'सुखमय जीवन' साधारण स्थिति को लेकर मनोरंजक और उच्च कोटि की कहानी है। इसमें यथार्थ चित्रण बड़े सुन्दर और स्वाभाविक हैं जिनसे यथार्थ-वादी वातावरण की सृष्टि होती है। 'उसने कहा था' में लहनासिंह के अपूर्व त्याग और बलिदान का बड़ा ही सुन्दर चित्रण है।

श्रद्धांजलियां

[१]

शोक ! महाशोक !! आज हिन्दी-संसार का एक उज्ज्वल नक्षत्र सदा के लिए अस्त हो गया।···पण्डित श्रीयुत चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जी आज इस संसार में नहीं हैं।···आपके स्वर्गवासी होने से हिन्दी-संसार की जो क्षति हुई है वह वर्णनातीत है। **[अभ्युदय : कुवांर वदी १०, सं० १९७९ वि०]**

[२]

हिन्दी ! हतभाग्य है। संस्कृतभाषे ! तेरे दिन बुरे हैं। विकराल काल ! तू क्रूर है। क्या यह सच है कि पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अब संसार में नहीं रहे ! सहसा विश्वास नहीं होता। हा हन्त !! यह कैसा दुःसंवाद है। हिन्दी-साहित्य पर वज्रपात हो गया। हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी पर विपत्ति का पहाड़ फट पड़ा। अजमेर के मेयो कॉलेज के गौरव की ध्वजा टूट गई। देश की पण्डित-मण्डली में से एक मेधावी विद्वद्वरिष्ठ का स्थान सदा के लिए रिक्त हो गया। प्राच्य और प्रतीच्य उभय ज्ञानगरिमा का एक वन्दनीय केन्द्र उठ गया !

[कलकत्ता समाचार : १५ सितंबर, १९२२ ई०]

[३]

हमें यह सुनकर अत्यंत दुःख हुआ कि केवल ३९ वर्ष की अवस्था में प्रतिष्ठित हिन्दी-साहित्य-सेवी पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी बी० ए० का स्वर्गवास हो गया। हिन्दी ने अपना एक रत्न खो दिया है। आप हिन्दी के उन इने-गिने विद्वान महारथियों में से थे जिन पर हिन्दी समुचित गर्व कर सकती है।···आप संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी के असाधारण विद्वान थे और अंग्रेजी, पाली, बंगला यथा मराठी आदि भाषाओं से भी परिचित थे। पुरातत्त्व, दर्शन, इतिहास आदि विषयों में आपकी विशेष गति थी। व्यंग्यपूर्ण समालोचना लिखने वालों में आपका विशेष स्थान था।···ऐसे महानुभाव की अकालमृत्यु से किसका हृदय दुखित न होगा। **[प्रताप : १८ सितंबर, १९२२ वि०]**

[४]

गुलेरी जी हिन्दू विश्वविद्यालय में ओरिअण्टल कॉलेज में प्रिंसिपल थे। आप वैदिक साहित्य तथा संस्कृत और प्राकृत के अच्छे विद्वान थे। हिन्दी की तो आपने बड़ी सेवा की है। सन् १९०० में आपने जयपुर में 'नागरी भवन' स्थापित किया। कई वर्षों तक 'समालोचक' नामक पत्र का सम्पादन किया। इसके सिवा हिन्दी के कई पत्रों में आप बराबर लेख लिखते रहे। काशी की 'नागरी प्रचारिणी सभा' की पत्रिका का सम्पादन आप ही कर रहे थे। 'सूर्यकुमारी पुस्तकमाला' का प्रकाशन भी आप ही के योग्य सम्पादकत्व में होता था। आपकी मृत्यु से हिन्दी-साहित्य की जो हानि हुई है उसका अनुभव हिन्दी के सभी प्रेमी कर रहे हैं। **[सरस्वती : अक्तूबर, १९२२ ई०]**



गुलेरी जी की रचनाएं

अक़्ल बनाम नस्ल (टिप्पणी) 'प्रतिभा' —अप्रेल, १६२० ई०

अत्र तत्र सर्वत्र (टिप्पणी) 'समालोचक' —१६०३, ०४, ०५, ०६ ई०

अधिक सन्तति होने पर स्त्री का पुनर्विवाह (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'— १६२० ई०

अनुवादों की बाढ़ (टिप्पणी) 'प्रतिभा' —मई, १६२० ई०

अमंगल के स्थान में मंगल शब्द (निबंध) 'सरस्वती'—नवम्बर, १६११ ई०

अमल की तारीफ (राजस्थानी कविता) —१ मार्च, १६०५ ई०

अयोध्याप्रसाद के संस्मरण (लेख) 'समालोचक'—अगस्त, सन् १६०५ ईस्वी

अवन्ति सुन्दरी (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२१ ई०

अशोक की धर्मलिपियां (सम्पादित शोध ग्रंथ) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२० से १६२२ ई०

अशोक शास्त्री (टिप्पणी) 'प्रतिभा'— मई, १६२० ई०

अश्वमेध (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १६११-१२ ई०

असूर्यम्पश्या राजदारा (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अप्रेल, १६२० ई०

आँख (वैज्ञानिक निबंध) 'सरस्वती'— १६०५ ई०

आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी (जीवन-चरित) 'मर्यादा'—फरवरी, १६१२ ई०

आत्मघात (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२० ई०

'आन शिवा-भागवता इन पातंजलिज़ महाभाष्या' (अंग्रेजी-लेख) 'दि इण्डियन एण्टीक्वरी'—नवम्बर, १६१३ ई०

आर्ष हिन्दी (टिप्पणी) 'प्रतिभा'— मई, १६२० ई०

आहिताग्निका (कविता) 'समालोचक' —अक्तूबर, १६०५ ई०

इण्डियन नेशनल कांग्रेस (लेख) 'समालोचक'—जनवरी - फरवरी, १६०४ ई०

उलूलु ध्वनि=हुर्रा (टिप्पणी) 'सरस्वती'—जून, १६१४ ई०

उसने कहा था (कहानी) 'सरस्वती'— जून, १६१५ ई०

ए पोयम बाई भास (अंगरेजी लेख) 'दि इण्डियन एण्टीक्वरी'— नवम्बर, १६१२ ई०

एक प्रसिद्ध मंत्र (टिप्पणी) 'प्रतिभा'— मई, १६२० ई०

एशिया की विजयादशमी (कविता) 'समालोचक'—सितम्बर, १६०४ ई०

ए साइन्ड मौलाराम (अंग्रेजी लेख) 'रूपम'—अप्रेल, १६२० ई०

ककातिका मान्कस (अंग्रेजी लेख) 'द इण्डियन एण्टीक्वरी'—जनवरी, १६१३ ई०

दिसम्बर, १६२० ई०
झुकी कमान (कविता) 'समालोचक'—नवम्बर-दिसम्बर, १६०५ ई०
डाक की थैली (टिप्पणी) 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १६०३ ई०
डिंगल (निबन्ध) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
डिनामिनेशनल कॉलेज (लेख) 'समालोचक'—१६०४ ई०
ढेले चुन लो (लेख) 'प्रतिभा'—अप्रेल, १६२० ई०
तुतातिल=कुमारिल (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२० ई०
तुलसीदास जी के रामचरितमानस और संस्कृत कवियों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२० ई०
द जयपुर आव्जर्वेटरी एण्ड इट्स बिल्डर्स (सम्पादित)—१६२० ई०
द रियल ऑथर ऑफ जयमंगला : ए कमेंटरी ऑन वात्स्यायन कामसूत्रा (अंग्रेजी लेख) 'दि इण्डियन एण्टीक्वरी'—जुलाई, १६१३ ई०
द लिटरेरी क्रिटिसिज़्म (अंग्रेज़ी लेख) 'रूपम'—१६१६ ई०
दूध के पैगम्बर (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अक्तूबर, १६२० ई०
देवकुल (निबंध) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२० ई०
देवानां प्रिय (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
दो प्रश्नों का एक उत्तर (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अक्तूबर, १६२० ई०
धनौरे की भटियारी की गन्दा दहनी (समालोचना) 'प्रतिभा'—अप्रेल, १६२० ई०
धर्म और समाज (लेख) 'प्रतिभा'—जून, १६२० ई०
धर्मपरायण रींछ (लेख) 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १६०६ ई०
धर्म में उपमा (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अक्तूबर, १६२० ई०
धर्म-संकट (लेख) 'समालोचक'—१६०५ ई०
निवेदन [ज्ञान योग (विवेकानंद ग्रंथावली, प्रथम खण्ड) की भूमिका] 'नागरी प्रचारिणी सभा'—१६२१ ई०
नौरंगशाह के नौरंग (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—नवम्बर, १६२० ई०
न्याय घण्टा (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
पंचमहाशब्द (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२० ई०
परिचय (पं० रामचंद्र शुक्ल कृत 'बुद्ध चरित' की भूमिका) 'नागरी प्रचारिणी सभा'—१६२० ई०
परीक्षा-पत्र निरीक्षण (टिप्पणी) 'समालोचक'—अक्तूबर - नवम्बर, १६०३ ई०
पश्चिमी क्षत्रपों के नामों में घस्, यस्=ज़ (Z) (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
पाणिनि की कविता (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२०-२१ ई०
पानी पीकर रह जाती है (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—जनवरी, १६२० ई०

पुराना व्यौपार (लेख) 'प्रतिभा'— जनवरी, १९२० ई०
पुरानी पगड़ी (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
पुरानी हिंदी (निबंध-प्रबन्ध) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२१-२२ ई०
पुराने राजाओं की गाथायें 'मर्यादा'— दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०
पूत्कार=पुकारना (टिप्पणी) 'प्रतिभा' —जनवरी, १९२० ई०
पूर्ण पात्र (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
पृथु वैन्य का अभिषेक (लेख) 'मर्यादा' —दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०
पृथ्वीराजविजय महाकाव्य (लेख) 'सरस्वती'—जून, १९१३ ई०
पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अप्रेल, १९२० ई०
प्र और परि (लेख) 'समालोचक'— नवम्बर, १९०२ ई०
प्राकृत के कुछ सुभाषित (अनूदित कविता) 'सरस्वती'—दिसम्बर, १९१९ ई०
प्रेरित पत्र (टिप्पणी) 'समालोचक'— १९०३-०४ ई०
बंग का भंग (टिप्पणी) 'समालोचक'— १९०५ ई०
बनारसी ठग (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२१ ई०
बुद्धू का कांटा (कहानी)—१९११-१५ ई०
बेसिर की हिन्दी (टिप्पणी) 'प्रतिभा'— जनवरी, १९२० ई०
बेनॉक बर्न (कविता) 'समालोचक'— अगस्त, १९०५ ई०
बौद्धों के काल में भारतवर्ष (टिप्पणी) गुलेरी-ग्रंथ-१—१९४३ ई०
ब्रह्मचारी को पान खिलाना (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—दिसम्बर, १९२० ई०
ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति (संस्कृत-कविता) —१९१० ई०
भारद्वाज गृह्यसूत्र (टिप्पणी) 'प्रतिभा' अप्रेल, १९२० ई०
भारत का बारहमासा (कविता) 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०
भारत की जय (कविता) 'समालोचक' —अक्तूबर-दिसम्बर, १९०४ ई०
मनीषि समर्थदान जी (जीवनचरित) 'सरस्वती'—अक्तूबर, १९१४ ई०
मनु वैवस्वत (लेख) 'मर्यादा'— दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०
मनोरंजक श्लोक (टिप्पणी) 'सरस्वती' —अगस्त, १९०४, नवम्बर, १९१०, नवम्बर, १९११ ई०
मनोरमा की आर्ष हिन्दी (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मई, १९२० ई०
महर्षि च्यवन का रामायण (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'— १९२१ ई०
महर्षियों की वृष्टि (लेख) 'समालोचक' —१९०४ ई०
महामहोपाध्याय कविराजा मुरारिदान जी (जीवन-चरित) 'सरस्वती'— अक्तूबर, १९१४ ई०
महिमा, आशीःप्राय (संस्कृत कविता) अज्ञात
(डॉ०) महेन्द्रलाल सरकार (जीवन-

चरित) 'समालोचक'—१६०४ ई०
मारेसि मोहिं कुठाऊँ (निबन्ध) 'प्रतिभा'—सितम्बर, १६२० ई०
यंत्रक (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
यूनानी प्राकृत (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२० ई०
रड्डा छंद (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२१ ई०
रवि (कविता) 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १६०६ ई०
राजपूत और हम (लेख) 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १६०३ ई०
राजराजेश्वर का स्वागत (संस्कृत-कविता) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १६११-१२ ई०
राजराजेश्वर को आशीर्वाद (संस्कृत-कविता) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १६११-१२ ई०
राजसूय (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १६११-१२
राजाओं की नीयत से बरकत—उनका कमाई के लिए मूर्तियां पधराना (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
रामचरितमानस और संस्कृत-कवियों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
राव संसारचंद्र सेन बहादुर (जीवन-चरित) 'सरस्वती'—जुलाई, १६०६ ई०
लायलपुर के बछड़े (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अक्तूबर, १८२० ई०
वंशच्छेद (टिप्पणी) 'समालोचक'—१६०५ ई०
वर्णविषयक कतिपय विचार (लेख) 'मर्यादा'—जून, १६२० ई०
वाजपेय (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १६११-१२ ई०
वात्स्यायनीय-कामसूत्रटीकाया जगमंगलायाः कर्त्ता (संस्कृत-लेख) 'संस्कृत-रत्नाकर'—१६१४ ई०
विक्रमोर्वशी की मूल कथा (लेख) 'समालोचक'—जनवरी - अप्रैल, नवम्बर-दिसम्बर, १६०५ ई०
विदुषी स्त्रियां : अवंतिसुंदरी (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२१ ई०
विरामण की, सरवण की (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
विवाह की लाटरी (लेख) 'प्रतिभा'—अप्रेल, १६२० ई०
वृहद्देवता (टिप्पणी) 'समालोचक'—१६०५ ई०
वेद में पृथ्वी की गति (लेख) 'समालोचक'—जनवरी-अप्रैल, १६०५ ई०
वेलावित्त (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
वैदिक पृषता (संस्कृत-लेख) 'संस्कृत-रत्नाकर'—१६१४ ई०
वैदिक भाषा में प्राकृतपन (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
वैदिक षष्टतप (अज्ञात)
शिक्षा के आदर्शों में परिवर्तन (लेख) 'विद्यार्थी'—१६१४ ई०



लेखक-परिचय

* डॉ० ओम्प्रकाश सारस्वत : अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, पत्राचार पाठ्यक्रम-निदेशालय, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला
* श्री इब्बार रब्बी : सम्पादकीय विभाग, नवभारत टाइम्स, ७, बहादुरशाह ज़फर मार्ग, नयी दिल्ली
* डॉ० कमला रंजन : प्राध्यापक, श्री अरविन्द महिला कॉलेज, पटना
* श्री कृष्ण विकल : लेखक, बी-४२-४३, लाजपत नगर-१, नयी दिल्ली
* डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया : प्रोफेसर, हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाएं, राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, मसूरी (उ. प्र.)
* डॉ० नगेन्द्र : प्रसिद्ध आलोचक, ४/१८, माडल टाउन, दिल्ली
* डॉ० पीयूष गुलेरी : हिन्दी-विभाग, राजकीय कॉलेज, धर्मशाला, कांगड़ा
* श्री प्रभाकर माचवे : प्रसिद्ध साहित्यकार, भारतीय भाषा परिषद्, ३६-ए, शेक्सपीयर सरणी, कलकत्ता
* श्री प्रेमनाथ चतुर्वेदी : पत्रकार : ब-४, अर्जुन मोहल्ला मौजपुर, दिल्ली
* डॉ० ब्रजनारायण सिंह : प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, किरोड़ीमल कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
* डॉ० मस्तराम कपूर : लेखक, ७९-बी, पॉकेट-३, मयूर विहार, दिल्ली
* श्री मुकुटधर पाण्डेय : छायावाद के प्रवर्तक, वैकुण्ठपुरा, रायगढ़ (म. प्र.)
* रघुनंदनप्रसाद शर्मा (स्वर्गीय) : गुलेरी जी के समकालीन, पैतृक स्थान— [नूरपुर, कांगड़ा (हि. प्र.)]
* पं० रत्नलाल रत्नाम्बर : ज्योतिष-सम्पादक, नवभारत टाइम्स, ७, बहादुर शाह ज़फर मार्ग, नयी दिल्ली
* श्री राय कृष्णदास : (स्वर्गीय) [प्रसिद्ध कला-समीक्षक, भारत कला भवन, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी से सम्बद्ध रहे।]
* डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल : प्रसिद्ध नाटककार एवं कथाकार, ५४-ए, एम० आई० जी० फ्लैटस, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली
* डॉ० लक्ष्मीशङ्कर गुप्त : हिन्दी-विभाग, काशी विद्यापीठ, काशी
* डॉ० विजयेन्द्र स्नातक : प्रसिद्ध साहित्यकार एवं समीक्षक, ए,५/३, राणा प्रताप बाग, दिल्ली
* आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : (स्वर्गीय) प्रसिद्ध साहित्यकार एवं आलोचक, ([वंशज का आवास—वाणी-वितान भवन, ब्रह्मनाल, वाराणसी]
* श्री संतराम वत्स्य : लेखक एवं पत्रकार, के-४७, नवीन शाहदरा, दिल्ली
* श्री सुरेश शर्मा : जनसत्ता, बहादुरशाह ज़फर मार्ग, नयी दिल्ली
* डॉ० सुशीलकुमार फुल्ल : प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, कृषि विश्वविद्यालय, पालमपुर, कांगड़ा (हि. प्र.)
* डॉ० हरदयाल : हिन्दी-विभाग, श्यामलाल कॉलेज, शाहदरा, दिल्ली

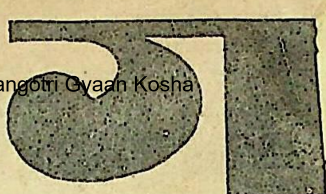


अदाल
वालों

अयोध्या की

(कार्यालय प्रतिनि

काशी, १० मई।
मुलायम सिंह यादव ने
व्यक्ति, संगठन या पा
आदेश के बिना अयो
श्रीरामजन्मभूमि की वर्तम
तरह का परिवर्तन करने
दी जाएगी। मिर्जामुराद
आयोजित विकास गोष्ठी
हुए मुख्यमंत्री ने कहा
विवाद को कुछ लोग 'धं
की भावनाओं के साथ
जिनसे सख्ती से निपटा
ने कहा कि द्वारिकापीठ
प्रति उनके मन में श्रद्धा
देश की गंभीर स्थिति
पुनर्शिलान्यास को रोकने
की गिरफ्तारी के अलाव
रह गया था। श्री यादव
यदि विवादास्पद रामज
स्थिति में किसी ने, चाहे
राजनैतिक पार्टी से संबं
करने की कोशिश की त
पड़ेगा। उन्होंने कहा
ित पुनर्शिलान्यास
नहीं था।
, के बारे

टंकार ४० बाण २०४] काश

देश का उल्लंघन करने जाना होगा - मुलायम

में किसी को फेरबदल की अनुमति नहीं

चल रहे हैं। श्री यादव ने कहा कि बंजर भूमि को खेती योग्य बनाने में ले खर्च को सरकार वहन करेगी तथा योग्य हो जाने पर उस भूमि को ों में बांट दिया जाएगा। उन्होंने द्वारा १० हजार तक के कर्जों की की बाबत् जानकारी देते हुए बताया कि उस पर अंतिम निर्णय लिया जा चुका है जिसके तहत ५० प्रतिशत का भार केंद्र सरकार तथा ५० प्रतिशतराज्य सरकार वहन करेगी। श्री यादव ने कहा कि प्रदेश के १४ लाख भवन विहीन विद्यालयों को दिसंबर तक भवन उ पलब्ध कराने के लिए सरकार कटिबद्ध है। उन्होंने कहा कि सरकार की घोषणा के अनुसार १ अप्रैल से ढाई एकड़ तक की भूमि जोतनेवाले किसानों को १०० रुपये मासिक का वृद्धावस्था पेंशन देना सरकार ने शुरु कर दिया है लेकिन मुख्यमंत्री ने इस बात पर दुख व्यक्त किया कि इस सुविधा का लाभ अभी किसान नहीं उठा पा रहे हैं। श्री यादव ने बताया कि बहनों की मर्यादा बचाएं- गांव- गांव शौचालय बनाएं योजना के तहत प्रत्येक गांव के घर- घर में शौचालय बनवाने की दिशा में भी सरकार कार्य कर रही है। इस मद में सरकार गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों को शत- प्रतिशत तथा गरीबी रेखा से ऊपर के लोगों को कुल लागत के ८० प्रतिशत का अनुदान देगी। मुख्यमंत्री ने अं त में करीब ४० फीट चौड़े तथा ५० फीट लंबे पंडाल में खचाखच भरे श्रोताओं से अपील किया कि वे स्थानीय निकाय निर्वाचन क्षेत्र के लिए जनतादल के अधिकृत प्रत्याशी अरविंद सिंह की पिछली गलतियों को क्षमा कर चुनाव में विजयी बनाएं। अपने संक्षिप्त उद्बोधन में प्रदेश के नियोजन एवं कारागारमंत्री श्री शतरुद्र प्रकाश ने बताया कि हम वर्ष

झलकियां

● विकास गोष्ठी नाम से आयोजित चुनाव प्रचार तथा आलोचना गोष्ठी रह गयी क्योंकि गोष्ठी के अधिकांश ने या तो पूर्ववर्ती कांग्रेस इ सरकार खींची या फिर स्थानीय निकाय से अधिकृत प्रत्याशी अरविंद सिंह की के पुल बांधे । ● यहां समाचार करने आए पत्रकारों व छायाकारों ी दिक्कतों का सामना करना पड़ा। दीर्घा में लगी कुर्सियों पर क्षेत्रीय ोगों ने कब्जा कर रखा था जिन्होंने के कई बार कहने के बावजूद नहीं छोड़ी। इससे भन्नाए एक के तीव्र विरोध तथा मंच पर बैठे के हस्तक्षेप के बाद कुर्सियां खाली ाकारों को चित्र खींचने में मुख्यमंत्री पहनाने और ज्ञापन देने वालों की वैम्न डाला जिन्हें रोकने वाला कोई ● मुख्यमंत्री ने शौचालय योजना कारी देते वक्तअपने उस वक्तव्य को हराया जिसके लिए विभिन्न

पानी १ रु

जयपुर, १० जिले के हलेना कस्बे लीटर बिक रहा है।

हलेना के अनेक लोगों ने यह कि उनके अपने गांव में पानी का नीचे चला गया है। इसके कारण को पानी नहीं मिल रहा है। उनके ऐसे में कुछ व्यक्तियों ने पड़ोस के लाकर पानी बेचने का धंधा शुरु है। यह लोग अपने साधनों से पा गांवके बाहर अपना वाहन खड़े क ग्रामीण अपनी जरुरत के हिसाब पंद्रह तो कोई बीस रुपये देकर इतने पानी खरीदने को मजबूर हैं।

यहां यह उल्लेखनीय है कि संकट से ग्रस्त राजस्थान के पश्चि में पानी की बिक्री आम बात है। ग्रामीणों को चिंता है तो सिर्फ इस कि प्रदेश के इस पूर्वी जिले में अ हाल है तो जून में क्या होगा।

अमेरिका के एक रा ऐसे भी

वाशिंगटन, १० मई- डी मंगोलिया में अमेरिका के राजदूत व हुए तो दो वर्ष हो गये परंतु राजदू वहां रहने के लि ए अभी तक नहीं हकीकत को यहांविदेश वि अधिकारियों ने स्वीकार किया है। नहीं अपितु मंगोलिया में नियुक्त राजदूत रिचर्ड विलियम्स एशिया रहते बल्कि अमेरिका में ही रह रहे मंगोलिया 'प्रायः' आते जाते अधिकारियों का कहनाहै कि श्री के रहने के लिए मंगोलिया में को मकान खोजने में अड़चनें आ रही